विद्यमान हैं. राष्ट्रकूटों के वहुत से प्राचीन पाषाण लेख और दान के ताम्रपत्र मिलते हैं। राष्ट्रवरों के कहीं कहीं शिलालेख और वहुतसे दान के ताम्रपत्र मिलते हैं राष्ट्रवर शब्द का अपभ्रंश है राठौड़. महाराजा जयचंद के और शहाबुद्दीन गौरी के विक्रमी संवत् वारह सौ इकावन १२५१ में युद्ध हुआ, तहां जयचंद ने मस्तक कटे पीछे वाण चलाये इसलिये जयचंद को "कबंध" संज्ञा की प्राप्ति हुई, इसलिये जयचंद से जनमे हुओं की "कबंधज" संज्ञा हुई कवंधज का अपभ्रंश है "कमधज." मस्तक कटे पीछे युद्ध की क्रिया करे उस को कवंध कहते हैं। लिखा है अमरकोश में "कबन्धोऽस्त्री क्रियायुक्तमपमूर्धकलेवरम्" कवंध शब्द स्त्रीलिंग नहीं है, अर्थात् पुल्लिंग नपुंसकलिंग है, मस्तक रहित क्रिया करनेवाले शरीर का नाम कवंध है. देश संवंध से राजराजेश्वर का कुल कन्नौजा, खेड़ेचा, मंडोवरा, जोधपुरा और मारवाड़ा कहलाता है.

और चक्रवर्ती महाराजाओं का अब कुछ भी पता नहीं है। रामायण ग्रंथ से रघुवंशशिरोमणि दशरथ के पुत्र श्रीरामचन्द्र अवतार का, श्रीमद्भागवत ग्रंथ से यदुवंशशिरोमणि वसुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण अवतार का और महाभारत ग्रन्थ से कौरवकुलकलश महाराजा युधिष्ठिर का सकुटुंब नाम अद्यापि स्थिर है; और सदा स्थिर रहेगा। ऐसा और भी जान लेना। इस सिद्धांत को पुष्ट करते हुए मेदपाटेश्वर महारांणा राजसिंह ने एक छप्पय बना कर, अपना बनाया हुआ राजसमुद्र तालाब मेवाड़ देश में है; जिस की पाळ पर के महल के गोखड़े में शिला में खुदवा कर लगवाया है ॥

॥ छप्पय ॥

कहां रांम कहां लखण*,
नांम रहिया रांमायण।
कहां कृष्ण बलदेव,
प्रगट भागोत† पुरायण‡ ॥
वालमीक शुक व्यास,
कथा कविता न करंता।
कुण सरूप सेवता,
ध्यांन मन कवण धरंता ॥
जग अमर नांम चाहो जिके,
सुणो सजीवण अक्खरां।
राजसी कहै जगरांणरो§,
पूजो पाव कवीसरां ॥ १ ॥

मौर्य वंशी क्षत्रिय थे। मौर्य का अपभ्रंश है मोरी। चित्रांग मोरी ने अपने नाम से चित्रांगगढ नामक किला बनाया, जिस का अपभ्रंश है

---

* लक्ष्मण † भागवत ‡ पुराण। § जगत्सिंह महारांणा का पुत्र।

हो जाता है। जैसे पृथ्वी अप्, तेज, वायु और आकाश ये पांच महाभूत हैं। यहां पृथ्वी आदि को महाभूतता के विषय में पांच करके गिनने से महाभूतता का पृथ्वी आदि पांचों में नियम हो जाता है, तव अन्यत्र वर्जन अर्थ सिद्ध है, कि छठे में महाभूतता नहीं। और जयदेव का यह मत इस से भी स्पष्ट है, कि इस ने भी इन तीन अलंकारों के नाम ही लक्षण रख कर इतर समस्त अलंकारों के नामों से अतिरिक्त लक्षण कहे हैं। सो कवियों ने नाम दिये हैं वे सव यौगिक हैं, इसलिये समस्त अलंकारों के नाम ही लक्षण क्यों नहीं? जिस पर एक एक अलंकार के अनेक उदाहरणों को अवलोकन किया, और नामार्थों पर ध्यान लगाया तो श्रीपरमेश्वर की कृपा से हमारा संकल्प सिद्ध हो गया, अर्थात् समस्त अलंकारों के नाम ही लक्षण सिद्ध हो

साहित्य शास्त्र का रहस्य न जाननेवाले किसी ने कहा है—

काव्यालापांश्च वर्जयेत् ॥

अर्थ--काव्य की बकवाद वरजनी चाहिये॥ परंतु साहि अतीव आदरणीय है; क्योंकि ब्रह्मज्ञान के सदृश परमानंद की हित्य में है। कहा गया है रस प्रकरण में—

ब्रह्मानन्दसहोदरः ॥

अर्थ--रस का आनन्द ब्रह्मानन्द का सहोदर है॥ यह क्ष प्रमाण है। रसिक जन अनुभव करके देख लेवें॥ ब्रह्मान अपेक्षा साहित्य शास्त्र में यह अधिकता है, कि ब्रह्मानन्द तो जन्मों के साधन से प्राप्त होता है। सो ही कहा है भगवद्गीत

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥

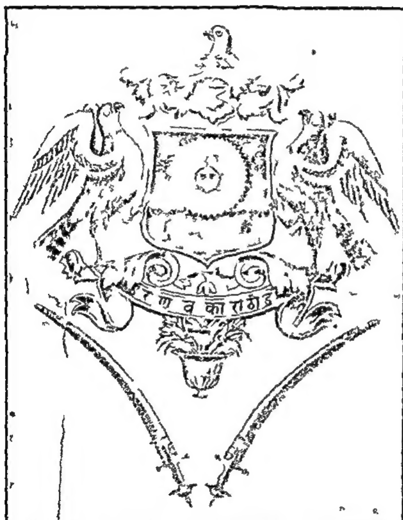
अर्थ— अनेक जन्मों से सिद्ध हो कर फिर परम ग प्राप्त होता है॥ और यहां परमानन्द की प्राप्ति तत्काल होती ही कहा है काव्यप्रकाश गत कारिका में—

श्रीमान डॉक्टर सोमनाथ जी साहिब गुप्त की सेवा में

॥ श्रीजगदम्बायै नमः ॥

॥ श्रीगणाधिपतये नमः ॥

मरुधराधीश का राजचिन्ह.



राजचिन्ह मे वंश का वोध कराने के लिये "सूर्य" है। मरुधराधीश र्यवंशी हैं। कन्नौज की राजस्थिति में राजराजेश्वर के वड़को ने अपने ानपत्रों में अपनेतई सूर्यवंशी लिखा है ॥

इष्ट का वोध कराने के लिये "वाज" है। इन की कुलदेवी का नाम नसा था. इस नाम का अभिप्राय यह है कि अपनी मनसा से अर्थात

अर्थ—हे राजेन्द्र ! संध्या काल में ये चार कर्म वर्जने चाहिये। आहार १ मैथुन २ निद्रा ३ और विशेष करके पठन ४ ॥ आहार करने से रोग होवे, मैथुन करने से दुष्ट संतान होवे, निद्रा लेने से दरिद्रता होवे, और पढ़ने से मूर्खता होवे ॥ सो पुराण का उक्त उपदेश तो प्रभुसंमित अर्थात् राजा के जैसा है; क्योंकि केवल आज्ञा है। इसी विषय में ' संध्याकाले तु " इति। यह उपदेश मित्र संमित अर्थात् मित्र के जैसा है; क्योंकि प्रयोजन बता कर समझाया है। इसी उपदेश को प्रातः काल में राजराजेश्वर को जगाता हुआ कवि करता है ॥
यथाः—

॥ सवैया ॥

वस नींद विसारित राजसिरी,*
तिय खंडिता ज्यों निस तोरत है।
उनिहार तो इंदुहि सों मन कों,
विरमावत नां चख मोरत है ॥
अब जागिये जू जसवंत वली,
कविराज मुरार निहोरत है।
दिग अंत विलंबित† इंदु वहै,
तुव आनन की छबि छोरत है ॥ १ ॥

यहां पर्यायोक्ति अलंकार है ॥ रमणीय शब्दार्थ को काव्य संज्ञा है। और काव्य को शोभा दायक होवे वह चमत्कार अलंकार है। जैसे यहां रमणीय शब्दार्थ होने से उक्त सवैया छंद काव्य है ॥ और धर्म शास्त्र के उक्त उपदेश का पर्याय से कथन रूप चमत्कार इस काव्य

* राजलक्ष्मी।

† राजलक्ष्मी के इंदु का विनोद छूटने में दो हेतु उत्पन्न हुए हैं. एक तो इंदु का अति दूर च जाना, दूसरा राजराजेश्वर के आनन की छबि का छोड़ना।

इच्छा से संसार को सर्जनहारी । फिर विंध्याचल में निवास क
उस देवी का नाम "विंध्यवासिनी" प्रसिद्ध हुआ. फिर किसी समः
देवी ने श्येन अर्थात् बाज पक्षी का रूप धारण करके राष्ट्र अर्था
की रक्षा की, इसलिये "राष्ट्रश्येना" नाम प्रसिद्ध हुआ, मेवाड़ के
एकलिंग महादेव हैं, जिन के वरदान से गहलोत जाति का
"बापा" विक्रमी संवत् सात सौ चौरासी ७८४ में चित्तौड़ पति हुआ
एकलिंगजी के विषय में एकलिंग माहात्म्य नाम का प्राचीन ग्रं
उस के ग्यारहवें ११ अध्याय में सोलहवां १६ श्लोक यह है—

श्येनारूपं सम्यगास्थाय देवि
राष्ट्रं त्राहि त्वाततो वज्रहस्ता ।
दुष्टान्दैत्यान्राक्षसांश्च पिशाचान्
भूतान्प्रेतान्योगिनीजृम्भकेभ्यः ॥ १ ॥

हे देवी ! भलीभांति बाज का रूप धारण कर हाथ
दुष्ट, दैत्य, राक्षस, पिशाच, भूत, प्रेत, योगिनी और जृम्भक
की रक्षा करो ॥ उसी एकलिंग माहात्म्य के उसी अध्याय का
२२ श्लोक यह है—

राष्ट्रश्येनेति नाम्नीयं मेदपाटस्य रक्षणम् ।
करोति न च भङ्गोऽस्य यवनेभ्यः पराग

राष्ट्रश्येना नाम की यह देवी मेवाड़ का रक्षण कर
यवनों से इस देश की कुछ भी हानि न होगी. मेवाड़
के मंदिर से अनुमान दो कोश के अंतर पर इस राष्ट्र
मंदिर है. राष्ट्रश्येना शब्द बिगड़ कर अब वह "रा
"राठासेण" माता कही जाती है. और वहां यह प्रसि
देवी राठौड़ों की है । इस राष्ट्रश्येना कुलदेवी का बोध
राठौड़ों की ध्वजा में बाज का चिन्ह होता है. राजराजेश्व
राव "धूहड़" मारवाड़की पुरानीराजधानी"खेड़"से अपनी कु
श्येना का दर्शन करने को दक्षिण में गया. दक्षिण में प
का राज्य बहुत समय तक रहा है. राव धूहड़ दक्षिण से

मारवाड़में लेआया. मारवाड़में "नागांना" नामकग्राम खे७ते ईशान
को पन्द्रह १५ कोसपर है,और जोधपुर से पश्चिम दिशाको अठारह
कोस पर है. वहां आते जिस गाड़े में देवी की मूर्ति थी वह गाड़ा
गया. बहुत से उपाय करने पर भी आगे न बढ़ा तब ऐसा स-
कर कि देवी की इच्छा यहीं विराजने की है वहीं स्थापित करदी.

मारवाड़ में नाग वंशी क्षत्रियों का राज्य था, उन नागों का ब-
हुआ यह नागांना गांव है. गुजराती भाषा में "का" की जगह
" बोलते हैं. नागांना गांव के संबंध से देवी का राष्ट्रश्येना
बदल कर "नागांनेची" प्रसिद्ध होगया.नागांनेची शब्द बिगड़कर
णेची" होगया है. दक्षिण में "की" की जगह " ची " बोलते हैं
अपने मुख्य शस्त्र का बोध कराने के लिये खड्ग है.

कार्य का और जाति का बोध कराने के लिये "रण बंका राठोड़"
कहावत है ॥

संज्ञा इष्ट देव से कार्य से प्रधान पुरुष से और देश के संबंध
ती है. मूल पुरुष सूर्य होने से राजराजेश्वर का कुल सूर्यवंशी
ता है. सूर्य वंश में राजा रघु प्रसिद्ध पुरुष हुआ जिस से रघुवंशी
हलाता है. राष्ट्रश्येना देवी का इष्ट होने से राष्ट्रश्येनीय यह संज्ञा
स संज्ञा की व्युत्पत्ति यह है "राष्ट्रश्येनाया इदं राष्ट्रश्येनीयम्" राष्ट्र-
देवी का उपासक॥ नामके एक देश से नामका ग्रहण होने की रीति
र के लिये यह वचन है " नामैकदेशे नामग्रहणम्" जैसे भीमसेन
भीम "रामचंद्र को "राम" इत्यादि थोड़े अक्षरों से कहते हैं वैसेही
ष्ट्रश्येनीयों" को "राष्ट्र" इतना कहना प्रचलित होगया फिर उनमें से
कार्य करने से "महाराष्ट्र, राष्ट्रकूट, राष्ट्रवर" ऐसी विशेष संज्ञायें
. "राष्ट्रवर" का ही पर्याय है राष्ट्रवर्य. महा, छत्र, तिलक, अवतंस
, मणि, दीपक, वर इत्यादि शब्द श्रेष्ठता के बोधक हैं. जैसा कि
व मुनिवर इत्यादि। शिखर का पर्याय है कूट. महाराष्ट्रों के लेख
न दो हज़ार वर्ष के दक्षिण देश में भाजा की गुफा, कार्ली की
नानाघाट आदि स्थानों में पर्वतीय पाषाणों में खुदेहुए अब तक

॥ श्री ॥

॥ प्रस्तावना ॥



इस अस्थिर संसार में जन्म उसी का धन्य है, कि जिस का नाम स्थिर रहे। नाम स्थिर रहने के विषय में मारवाड़ी कहावत है। " गीतड़ा के भींतड़ा " गीतड़ा अर्थात् कविता। भींतड़ा अर्थात् देवालये, जलाशय और किला आदि इमारत। इस अनादि संसार में असंख्य अवतार और चक्रवर्ती महाराजा हुए हैं। अवतार असंख्य होने के लिये कहा है श्रीमद्भागवत में—

अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः ॥

अर्थ—हे ब्राह्मणो! सत्त्वनिधि विष्णु भगवान् के अवतार निश्चय करके असंख्य हैं॥ और आज्ञा की है भगवद्गीता में स्वयं श्रीकृष्ण भगवान् ने—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ॥
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ १ ॥

अर्थ—हे अर्जुन! जब जब धर्म की ग्लानि अर्थात् हानि होती है, और अधर्म का उठाव होता है, तब तब मैं अपनी आत्मा को रचता हूं, अर्थात् अवतार लेता हूं॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ॥
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ १ ॥

अर्थ— सत्पुरुषों की रक्षा के लिये, दुष्टों का नाश करने के लिये और धर्म की भली भांति स्थापना करने के लिये युग युग में सम्यक् प्रकार से होता हूं; अर्थात् अवतार लेता हूं॥ उन असंख्य अवतारों का

सुत सेतुराम जु ताहि भो दुहुं नाम परम पवित्र ।
चिर समय वीतन हेतु न मिले इन जु चारु चरित्र ॥ ११ ॥
भो सीह सम पौरुष जु सीहा धर्मधुर रनधीर ।
किय द्वारका जात्राहिके सह दिग्विजय वरवीर ।
व्है प्रथम पाली रक्षक जु सज *आसथांन समाज ॥
लिय खेड़ गोहिल मार थप्यो मरुधरा मध राज ॥ १२ ॥
पत्तन जु पालीकों जु लीन्हो मुसलमानन घेर ।
तब कस्यौ मस्तक आपनो मुंडमालि माला मेर ॥
धूहड़ जु जाय कनोज जुट्यो जवनपतिसों जंग ।
मंडोरके परिहारसों लरि वस्यो अच्छरि संग ॥ १३ ॥
भल रायपाल दुकाल में सब प्रजा पालन किद्ध ।
तिंह निमित पृथिवी मांझ पायो †इंद्रपद सु प्रसिद्ध ॥
कनपाल, जालनसी उभै भुवि भोग निज निज वार ।
लर तुरक तोमनसों तज्यौ इन अनित यह संसार ॥ १४ ॥
रचि पूर रन चहुवांनसों छाडा जु हयकों छोर ।
तिल तिल सु व्है तन पस्यो धर कर नाम थिर चहुं कोर ॥
आयो अलाउद्दीन चढ़ गढ़ लैनकों ‡सिवियान ।
चहुवांन की कर मदत तीडै परिहरे निज प्रान ॥ १५ ॥

---

* मारवाड़ देश में **पाली** नामक नगरी है । वहां की प्रजा ने अपनी रक्षा के अर्थ आसथांन को कुछ लाग घर प्रति ठहराकर पाली में रक्खा था । वहां रहतेहुए आसथांन ने गोहिल जाति के क्षत्रियों को मारकर खेड़ नामक ग्राम का राज लिया । उन गोहिल क्षत्रियों का राज अब गुजरात देश में **भावनगर पालीतांणा** में है ॥

† **रायपाल** महीरेलण कहलाया । महीरेलण शब्द का अर्थ है पृथिवी पर जल को वहाने वाला मरुदेश की भाषा में इंद्र का यह यौगिक नाम है ॥

‡ **सिवाना** यह एक मारवाड़ देश में छोटासा किला है । वादशाह अलाउद्दीन ने इस किले को छोटा देख कर कहा कि यह तो सामियाना है । इस यावनी शब्द का अपभ्रंश सिवाना है ॥

रामायण के युद्ध कांड के बाईसवें २२ सर्ग का चौरासीवां ८४ श्लोक यह है—

तदद्भुतं राघवकर्म दुष्करं
समीक्ष्य देवाः सह सिद्धचारणैः ।
उपेत्य रामं सहसा महर्षिभि-
स्तमभ्यषिञ्चन्सुशुभैर्जलैः पृथक् ॥ १ ॥

अर्थ—रामचन्द्र के सेतु रचना का दुष्कर और अद्भुत काम देख कर देवता लोगों ने सिद्ध, चारण और महाऋषियों के साथ शीघ्र वहां आकर उत्तम जलों से जुदा २ रामचन्द्र का अभिषेक किया ॥ महाभारतांतर्गत गजेंद्रमोक्ष का अड़सठवां ६८ श्लोक यह है—

गुह्याय वेदनिलयाय महोदराय
सिंहाय दैत्यनिधनाय चतुर्भुजाय ॥
ब्रह्मेन्द्ररुद्रमुनिचारणसंस्तुताय
देवोत्तमाय विरजाय नमोऽच्युताय ॥ १ ॥

अर्थ—गुह्य अर्थात् गुप्त, वेद के आश्रय, बड़े उदरवाले, नृसिंह स्वरूप, दैत्यों के काल रूप, चतुर्भुज, ब्रह्मा इन्द्र रुद्र मुनि और चारण जिन की स्तुति करते हैं, देवों में उत्तम, रजोगुण रहित, अच्युत भगवान् को (मेरा) नमस्कार हो ॥ यहां ब्रह्मादिकों के साथ चारणों की गणना की गई है, और इन लोगों की स्तुति से परमात्मा का माहात्म्य सूचित किया गया है ॥ रामायण, भारत आदि आर्ष ग्रंथों में बहुत जगह चारणों के विषय में सादर कथन है । और वे देवता कहेगये हैं । परंतु ग्रंथ विस्तार भय से यहां संक्षेप से लिखा है ॥

जुदा जुदा वनाया॥ पीछे शास्त्रकारों ने उन पदार्थों के लक्षण वनाये हैं। ऐसे ही साहित्य में पहिले उदाहरण हैं, फिर कवियों ने उन में चमत्कार लख लख कर अलंकार रस इत्यादि के नाम धरे हैं यह अनुभव सिद्ध है। गान के श्रवण में सामान्य ज्ञान मात्र से भी आनंद होता है, परन्तु सोरठ कालिंगड़ा इत्यादि रागों के विशेष स्वरूप का ज्ञान होने से अधिक आनंद होता है। वैसे काव्यार्थ के सामान्य ज्ञान से भी आनंद होता है परंतु उपमादि अलंकार शृंगारादि रस इत्यादि के विशेष ज्ञान से अधिक आनंद होता है॥

न्याय आदि शास्त्र के प्रसिद्धाचार्य गौतम आदि ने ईश्वर कृत पदार्थों के लक्षण वनाये; उस शैली से साहित्य शास्त्र के प्रसिद्धाचार्य भरत मुनि ने अलंकार आदि के लक्षण वनाये हैं. भरत मुनि ने नाट्य-शास्त्र नामक ग्रंथ में मूलभूत उपमादि चार अलंकार माने हैं। वहां उन चारों के लक्षण कहे हैं। और वहां "ये शेषा लक्षणे नोक्ताः" ऐसा कंठ रव से भी कहा है। वे कारिकायें और लक्षण आगे लिखे जायँगे। और भावादि कों के भी लक्षण भरत ने कहे हैं॥

फिर वेदव्यास भगवान् इत्यादि भरत की शैली के अनुसार लक्षण वनाते आये हैं। परमेश्वर ने सब पदार्थ रच करके उन के नाम व्यवहार मात्र प्रयोजन से रक्खे हैं, कवि कर्म से नहीं, इसलिये उन में केवल रूढ नाम भी हैं। परमेश्वर के दिये हुए नाम कवि कर्म से नहीं हैं, इसलिये परमेश्वर कृत पदार्थों का विवेचन करनेवाले न्याय आदि शास्त्र-कारों को उन पदार्थों के साक्षात् स्वरूप प्रकाश करने के लिये नामों से अतिरिक्त लक्षण वनाने की आवश्यकता हुई। यथा "वाति इति वायुः" अर्थात् चलनेवाला। इस व्युत्पत्ति से पवन का वायु नाम रक्खा गया है। परंतु इस नाम से पवन का साक्षात् स्वरूप स्पष्ट नहीं होता, जैसाकि "रूपरहितः स्पर्शवान्वायुः" रूप करके रहित स्पर्शवाला वायु, इस लक्षण से होता है। क्योंकि वहनेवाली वस्तु तो जल आदि और भी हैं; परंतु अलंकार आदि के नाम तो कवियों ने रक्खे हैं, सो तो कवि कर्म से रक्खे गये हैं; इसलिये कवियों को तो नाम ही से उन का स्वरूप स्पष्ट करना युक्त

चित्तौड़। मोरियों का राज्य चित्तौड़ मालवा आदि पर बहुत समय तक रहा है। चित्तौड़ के राजा मांन मोरी ने विक्रमी संवत् ७७० में चित्तौड़ के किले पर मांनसरोवर नामक तलाव बनाया। अब कोई मोरी जाति का क्षत्रिय नाम को भी नहीं रहा है; परंतु इन इमारतों के बनाने से चित्राङ्ग और मांन मोरी का, और मोरी वंश का नाम अद्यापि स्थिर है। और चिर काल पर्यंत स्थिर रहेगा। ऐसा और भी जान लेना॥

अपना नाम स्थिर रखने की उत्तम पुरुषों को अभिलाषा होती है, इसी अभिप्राय से हमारे स्वामी महाराजाधिराज राजराजेश्वर जसवंतसिंह ने अलंकारों का नवीन ग्रंथ बनाने की मुझ को सूचना की। राजराजेश्वर की आज्ञानुसार मैं ने नवीन ग्रंथ निर्माण करने का आरंभ करके विचार किया, कि संस्कृत और भाषा में अलंकारों के ग्रंथ अनेक हैं, पिष्ट पेषण तो व्यर्थ है, कोई नवीन युक्ति निकालनी चाहिये, कि जिस से विद्वानों को इस ग्रंथ के अवलोकन की रुचि होवे, और विद्यार्थियों को इस ग्रंथ के पढ़ने से विलक्षण लाभ होवे, तब राजराजेश्वर के पुण्य प्रभाव से चन्द्रालोक ग्रंथ की—

" स्यात्स्मृतिभ्रान्तिसंदेहैस्तदङ्कालंकृतित्रयम् "।

अर्थ—स्मृति, भ्रांति और संदेह चिन्हवाले तीन अलंकार हैं॥

इस कारिका की स्मृति हो कर यह स्फुरणा हुई, कि दूसरे कवियों ने तो अलंकारों के नामों को लक्षण नहीं समझा है, इसीलिये सबों ने नामों से अतिरिक्त लक्षण बनाये हैं। एक जयदेव कवि ने स्मृति, भ्रांति और संदेह इन तीन अलंकारों के नामों को लक्षण समझा है; परंतु " इन तीन अलंकारों के नाम लक्षण हैं " ऐसा कहने से यह सिद्ध होता है, कि जयदेव के मत में भी इन तीन से अतिरिक्त अलंकारों के नाम ही लक्षण नहीं; क्योंकि शास्त्रकारों का यह सिद्धांत है, कि जिस विषय में जिन की गणना की जाती है, उन में उस विषय का नियम

अनेक हुए हैं। क्योंकि अलंकार असंख्य हैं, इसलिये अब भी धोरी हो सकता है॥ ऐसा मत कहो, कि तुम्हारा सिद्धांत है कि अलंकार का नाम रखनेवाले ने लक्षण नहीं बनाये, सो तुम भी मानोगे कि विकल्प अलंकार सर्वस्वकार ने ही प्रथम लखा है। फिर सर्वस्वकार ने लक्षण क्यों बनाया? क्योंकि विकल्प वस्तु तो प्राचीन है, वेद में और व्याकरण शास्त्र में प्रसिद्ध है। सर्वस्वकार ने तो इस विकल्प में अलंकारता लखी है। और सर्वस्वकार ने नामार्थ से भिन्न लक्षण नहीं बनाया है, किंतु नामार्थ ही को स्पष्ट किया है। और लक्षणों की प्रचलित शैली का अनुसरण किया है॥ हमारा तो यह सिद्धान्त है कि कवि नाम रक्खे वह नाम वस्तु के साक्षात् स्वरूप को लखानेवाला ही होता है। फिर नामार्थ से इतर लक्षण करने में अतिव्याप्त्यादि दोष आते हैं, और लक्षण रूप से नाम का अर्थ करें तो भी पुनरुक्ति दोष आता है, इसलिये हमारा अनुमान है कि नाम रखनेवाले धोरी ने लक्षण नहीं बनाये हैं। यदि कोई अन्य कवि नाम से इतर लक्षण करे तो उस की भूल है। और जो धोरी आप ही नाम से इतर लक्षण करे तो धोरी की भूल है॥ उपमा, उत्प्रेक्षा, उल्लेख इत्यादि अलंकारों के नाम तो इन अलंकारों के लखनेवाले धोरियों ने रक्खे हैं। और परिकर, परिणाम, परिसंख्या इत्यादि पदार्थों के नाम सृष्टि के कर्ता ने अथवा अन्य शास्त्रों के कर्ताओं ने रक्खे हैं। परंतु इन पदार्थों में अलंकार माननेवाले धोरियों ने ये ही नाम इन इन अलंकारों के स्वरूप के स्पष्ट प्रकाशक होने से इन अलंकारों के ये ही नाम अंगीकार किये हैं। अलंकार ग्रंथकारों ने और कोषकारों ने अलंकारों के नामों के अर्थ किये हैं; परंतु कितनेक नामों का तो साक्षात् अवयवार्थ नहीं हुआ। और कितनेक नामों के अन्य अर्थ कर दिये हैं, वे अर्थ उन अलंकारों का स्वरूप नहीं। और कितनेक नामों के साक्षात् अर्थ भी किये हैं; परंतु उन का तात्पर्य स्पष्ट नहीं हुआ। यह तो उन उन अलंकारों के प्रकरण में हम स्पष्ट करेंगे। जिन के ग्रंथ अभी मिलते हैं, उन में से किसी ग्रंथकार ने नाम को लक्षण नहीं रक्खा है; एक

लक्षणा का बीज तो अन्वय का वाध अथवा तात्पर्य का वाध है ॥
यथा—

॥ गंगा में घर ॥

यहां गंगा शब्द का वाच्यार्थ तो प्रवाह है, जिस में घर नहीं वन सकने से प्रवाह में घर के अन्वय का वाध है, इसलिये गंगातीर में लक्षणा की जाती है और—

॥ काकों से रक्षहु दधि ॥

यहां परस्पर पदार्थों के अन्वय का तो वाध नहीं, परंतु ऐसा कहनेवाले का तात्पर्य समस्त दधि घात कों से दधि की रक्षा करने में है, न कि काक मात्र से रक्षा करके मार्जारादिकों को भक्षण करने देने में; सो यहां कथन मात्रानुसार काक मात्र से दधि रक्षण का अन्वय करें तो वक्ता के तात्पर्य का वाध होता है, इसलिये काक शब्द से मार्जारादिकों का भी लक्षणा से संग्रह है "गंगा में घर" वहां तो गंगा शब्द के वाच्यार्थ प्रवाह का त्याग करके तट मात्र का ग्रहण है, इसलिये लक्षण लक्षणा है; और यहां वाच्यार्थ काक के त्याग विना मार्जारादि अन्यार्थ का ग्रहण है, इसलिये यह उपादान लक्षणा है। "काकों से दधि की रक्षा करो" यहां यथाश्रुत वाच्यार्थ में ही विश्राम करें तो इस वक्ता का तात्पर्य मार्जारादिक सव से दधि रक्षण में है उस का बाध होता है। और मार्जादिक रूप लक्ष्यार्थ का काक रूप वाच्यार्थ के साथ दधि घातकता रूप संबंध भी है। और प्रयोजन तो यहां लाघव से समझाने रूप है। मार्जारादिक सव दधि घातकों के नाम गिनाने में गौरव है। और ऐसे उपलक्षण से संग्रह का साहित्य शास्त्र में अंगीकार अवश्य है; क्योंकि कवियों की रचना अपार है, और नयी नयी होती जाती है। सो ही कहा है, कवि केशव ने—

मनहर छंद

वानी जग रानी की उदारता वखानी जाय,

रूप पाणिग्रहण का बोध होजाता है। यह नाम क्रियावाची है। त्रिफला नाम का योगार्थ है तीन फलों का समु-
तीन फलों के समुदाय में सर्वत्र है, परंतु अन्यत्र अतिव्याप्ति वारण के लिये 'हरड़, बहेड़ा, आंवला' इन तीन
में रूढि है। कहा है चिंतामणि कोषकार ने "त्रिफला हरीतक्यादिफलत्रिके" त्रिफला नाम के योगार्थ में हरड़,
यह अंश नहीं आया है, परंतु रूढि से हरड़, बहेड़ा, आंवला इन तीनों फलों के समुदाय रूप अर्थ का बोध
से ही उपमा अलंकार के नाम का योगार्थ है समीप करके किया हुआ विशेष ज्ञान, परंतु समीप करने से न्यूनता,
समता इन सबों का ज्ञान होता है, तहां समता में रूढि है। अतिशयोक्ति अलंकार के नाम का योगार्थ है लंघन की उक्ति,
आज्ञा, समुद्र, पर्वत, लोकसीमा इत्यादि में सर्वत्र है, परंतु अन्यत्र अतिव्याप्ति वारण के लिये लोकसीमा के लंघन में रूढि है।
र रूढि की मिश्रितता से लोक सीमा लंघन रूप अर्थ का बोध होता है। अतिशयोक्ति नाम के योगार्थ में लोकसीमा
हीं आया है परंतु रूढि से लोकसीमातिलंघन इतने अर्थ का बोध होजाता है। और इस अलंकार के लक्षणबोध में
तिरिक्त कोई अंश शेष नहीं, इसलिये दूसरा लक्षण बनाने की कोई आवश्यकता नहीं ॥ अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार के नाम
ं है अप्रस्तुतकथा, सो अप्रस्तुत कथा तौ किसी प्रसंग में अथवा अप्रसंग में सर्वत्र कही जाती है ॥

॥ छप्पय ॥

हत मात जसुमत कहांनि पौढे हरि पलना, राम नाम भूपति भयौ सु सिय ताकैंह ललना।
तु आज्ञा वन वसिय हरिय तिय तहां लंकपति, सुनत क्रुद्ध वढि विसर सुद्ध वक उठे धनुर अति ॥
मित्र धनुप धनु धनुप कहां रही थकत मा चकत सी, यह बालकृष्ण भुविपाल तुव रखहु प्रसन्न निन तनननी ॥१॥

ई अन्यत्र हुई अप्रस्तुतप्रशंसा रूप अर्थ का बोध होता है, अप्रस्तुतप्रशंसा नाम के योगार्थ में प्रसंगमें कही हुई यह अंश नहीं
है, परंतु रूढि की मिश्रितता से प्रसंग में कही हुई अप्रस्तुत कथा इतने अर्थ का बोध होजाता है। और इस अलंकार के
बोध में इस से अतिरिक्त कोई अंश शेष नहीं इसलिये दूसरा लक्षण बनाने की कोई आवश्यकता नहीं, नाम [illegible] की
ार प्रसिद्धि को रूढि कहते हैं। हम अलंकारों के योगरूढ नामों में इसी रीति से रूढि को कहेंगे। रूढि का प्रयोजन
प्ति वारण है, जिस को उक्त प्रकार से सर्वत्र स्वयं घटालेना ॥

ऐसा भी मत कहो कि जिस को किसी के कहने से अथवा कोष से पाणिग्रहण नाम विवाह का याद है वही पाणिग्रहण
से विवाह को समझेगा, और तौ हाथ पकड़ने को ही समझेगा इत्यादि, सो नाम ही लक्षण तब बनसक्ता है, जब जो नाम
अर्थ है उस में ही सारी बात आजाय ऊपर से कुछ कहना न पड़े, जो ऊपर से कहाजायगा वही अंश लक्षण में गिनना होगा?
क वृद्धों से, कोश से, अथवा व्याकरण से सुने बिना तो रूढ और यौगिक शब्दों को भी कोई नहीं समझ सकता; मातादि से
बिना मनुष्य, मनुष्य की वाणी भी नहीं बोल सकता। और अलंकारों के योगरूढ नामों में रूढि से इतर कोई अर्थ ऊपर से नहीं
पड़ता है ॥ ऐसा भी मत कहो कि जहां वाक्यार्थ में अन्वयानुपपत्ति अथवा तात्पर्यानुपपत्ति होय वहां वाक्यार्थ में अन्वयादि
के लिये लक्षणा की जाती है संज्ञा तो एक ही पद है, इस की कल्पना के समय अन्वयानुपपत्यादिक का प्रसंग ही नहीं।
"काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्" इस वाक्य में काक शब्द से दध्युपघातक मात्र का ग्रहण होता है "काको रौति" इस में अथवा
"काक" शब्द का ही प्रयोग किया जाय उस में तौ केवल काक का ही ग्रहण होता है, क्योंकि उपलक्षण में अन्वय
य नहीं इसलिये वाक्य की आवश्यकता नहीं। यहां तौ तात्पर्य का बाध है सो उपमादि नाम धोरी कवियों ने काव्य शोभाकर
अलंकारों के रक्खे हैं, सो उन उन नामार्थों संबंधी काव्य शोभाकर धर्म रूप चमत्कारों का उपलक्षण से ग्रहण न करें
वि के तात्पर्य का बाध होता है। धोरी ने प्रत्यनीक न्याय से प्रत्यनीक अलंकार माना है, इस का अक्षरार्थ वक्ष्यमाण प्र-
ीक अलंकार के प्रकरण में कहाजायगा। यहां चमत्कार पक्ष में है, इस का वाच्यार्थ तौ अनीक प्रति करना है; सो यहीं विधान
तौ पक्षी के पक्षी प्रति करना, पक्षी का करना, पक्षी के पक्षी का करना इत्यादि पक्ष संबंधी चमत्कारों का ग्रहण न होने से वक्ता के
तात्पर्य का बाध होता है, पक्षी के पक्षी प्रति करना इत्यादि लक्ष्यार्थ है, पक्षता संबंध है, और प्रयोजन लाघव से कहना है, सब को
गिनाने से गौरव होता है ॥ ऐसा भी मत कहो कि धोरी का यह तात्पर्य था तौ सूक्ष्म इत्यादि की नांई इस अलंकार का सर्व संग्राहक
पक्ष ही नाम क्यों नहीं रक्खा? क्योंकि उस विषय का कोई न्याय हो तो उस से उस अलंकार का प्रदर्शन करने से हृदयंगम अच्छा
होता है। इसीलिये और भी मुद्रा न्याय से मुद्रा, दीपक न्याय से दीपक आदि अलंकारों का प्रदर्शन किया गया है, और साहित्य
शास्त्र में उपलक्षण से सजातीय चमत्कार का संग्रह होजाता है ॥

ऐसा भी मत कहो, कि तुम कहते हो कि कवि नाम रक्खे वह तौ लक्षण रूप ही होते हैं, सो ज्योतिष, न्याय, व्याकरण आदि शास्त्र-
रों ने नवीन वार्ता कल्पन करके "कुज्या, अग्रा, चरज्या, उन्मण्डल, समवाय, विभक्ति, उपसर्ग, इत्यादि सैकड़ों योगरूढ नाम नवीन
ल्पन किये हैं, किसी नाम में लक्षण योग्य अर्थ नहीं निकलता? क्योंकि हमारा मुख्य तात्पर्य अलंकारों का नाम ही लक्षण होने में
। सो अलंकारों के समस्त नाम लक्षण रूप हैं ही ॥ ऐसा भी मत कहो कि आदि में अलंकारों के नाम रखनेवालों का नाम में ही
क्षण लाने का तात्पर्य था यह किस प्रमाण से निश्चित किया? क्योंकि समस्त अलंकारों के नाम ही लक्षण हैं यह प्रत्यक्ष प्रमाण
सर्वमान्य होने से साहित्य शास्त्र प्रसिद्ध सहृदयों के हृदय की साक्षी रूप प्रमाण भी यहां है ॥

यह हेतु नवकोटी जु मरुधर अजहुं भाखत लोग
वह वीरवर हु विलायगे वसु विलस कर्म सँयोग।
परिहार भूपति भे जु तिन मधि मुकुट नाहड़ राव
किय तीर्थ जीर्णोद्धार पुष्कर विदित विश्व प्रभाव ॥ ४ ॥
चित्तौर कौ गहलोत राहप चढ़्यौ कर घमसांन
परिहार सों लिय छीन पृथिवी सहित पदवी रांन।
पद प्रथम रावल धरत थे चित्तौर गढ़ के नाथ
तब तैं जु कहलावत जु रांना वात विश्व विख्यात ॥ ५ ॥
विक्रमी शतक जु चतुर्दश के साठ अस्सी वीच
भो नृपति राहप अज हुं चमकत कीर्ति चंद्र मरीच।
मुलतान सों दल प्रवल अति ही मुसलमानन आय
गहलोत गनसौं मंड रन उन लई छीनि छुड़ाय ॥ ६ ॥
विक्रमी शतक जु पंचदश मभ्क मिल्यो गढ़ मंडोर
वर वीर चूंडा कों जु तब तैं भये पति राठोर।
इन उभय सहस जु वरस विच थे इत हिं सरित पहार
पुन सजल करन जु सफल जिन भे यत्न गे सब हार ॥ ७ ॥
जसवंत कीन्हे जल तहँ तहँ लग्यो ठहरन नीर
किय सात सर वर आज लौं फिर होत जात गँभीर।
है जोधपुर सौं पूर्व दिश में अखिल कोस इकीस,
"जसवंतसमँद" सु वड़ो सब मध लसत मरुधर सीस ॥ ८ ॥
बत्तीस गज गहरो जु सुंदर सलिल शीतल स्वच्छ,
दश पंच कोस प्रदच्छना जल पास पास प्रतच्छ।
व्यय भयो त्रयदश लक्ष अबलौं थयो पूरन नांहिं,
है प्रतिष्टा हर्म्यादि शेष जु कहे किंह विधि जांहिं ॥ ९ ॥

सद्यः परनिर्वृतये॥

अर्थ—तत्काल परमानन्द की प्राप्ति के लिये॥ प्राचीन पद्य है—

सत्कविरसनासूर्पी-
निस्तुषतरशब्दशालिपाकेन ॥
तृप्तो दयिताधरमपि
नाद्रियते का सुधादासी ॥ १ ॥

अर्थ— जो सत्कवि की रसना रूप सूपड़ी से अत्यंत तुष रहित किये हुए शब्द रूप शालि अर्थात् चावलों के पाक से तृप्त है, वह प्रिया के अधर का भी आदर नहीं करता; तो वहां विचारी सुधा दासी कौन वस्तु है ॥ और साहित्य शास्त्र में दूसरी अधिकता यह भी है, कि यह व्यवहार में कुशल करता है, और कांता संमित उपदेश करता है। धर्म शास्त्र में वचन है, कि संध्या काल में निद्रा लेनेवाला दरिद्री होता है। दिन और रात्रि की संधि को संध्या कहते हैं। लिङ्गपुराण के उपरिभाग के छठे ६ अध्याय के पैंसठवें ६५ श्लोक में अलक्ष्मी के पति दुःसह को मार्कंडेय मुनि ने कहा है—

पादशौचविनिर्मुक्ताः संध्याकाले च शायिनः ॥
संध्यायामश्नुते ये वै गेहं तेषां समाविश ॥ १ ॥

अर्थ—जो चरणों की शुद्धि से रहित हों, संध्या काल में शयन करें, और संध्या काल में भोजन करें, उन के घर में प्रवेश कर॥ इसी धर्म शास्त्र की आज्ञा के अनुसार कहा है किसी ने—

संध्याकाले तु राजेन्द्र कर्माण्येतानि वर्जयेत् ॥
आहारं मैथुनं निद्रां स्वाध्यायं च विशेषतः ॥१॥
आहारे तु भवेद्रोगो मैथुने दुष्टसंततिः ॥
निद्रायां च दरिद्रत्वं स्वाध्याये जडता भवेत् ॥ २ ॥

जो पैं रथ रावरे के शिथिल भये हैं अश्व,
रवि सौं कहत मांग मंगन भदोरिया॥ १॥

इति कस्यचित्कवेः॥

इस मनहर छंद के चारों चरणों में इकतीस इकतीस वर्ण हैं। और षोड़स षोड़स वर्ण पर विरति है, परंतु द्वितीय चरण का पूर्वार्ध और तृतीय चरण का पूर्वार्ध जिव्हा के संचे में नहीं बैठता, और श्रवणों की तुला में प्र चरण और चतुर्थ चरण के समान नहीं तुलता, इसलिये उद्वेग जनक होने लक्षण संगति रहते भी अछंद है॥ यहां सहृदयों का हृदय ही साक्षी छंदोभंग न होने के लिये भाषा में गुरु का लघु और लघु का गुरु किया जाता है। सो ही कहा है किसी छंद वेत्ता ने—

गुरु लघु लघु गुरु होत है निज इच्छा अनुसार॥

कहा है कविप्रिया ग्रंथ में केशव कवि ने भी—

॥ दोहा ॥

दीरघ लघु करिकै पढ़े, सुख ही मुख जिंह ठौर।
तेई लघु करि लेखिये, केशव कवि सिरमौर॥ १॥

यथा—

॥ दोहा ॥

जटत नील मनि जगमगत, सीक सुहाई नांक।
मनों अली चंपक कली, वस रस लेत निसांक॥ १॥

इति विहारी सप्तशत्याम्॥

भ्रमर वाचक अलि शब्द में इकार लघु है, वह छंद वश से यहां गुरु किया गया है। यहां लघु का गुरु करने में अनुप्रास सिद्ध करने का भी प्रयोजन है। और भाषा में छंद के लिये अथवा तुकांत मिलाने के लिये अर्थ में भ्रम न होवे ऐसा शब्द के स्वरूप में व्यत्यास भी किया जाता है। इस में महा कवियों के प्रयोग प्रमाण हैं। "तोलत तुल्य रहै न ज्यों" इति॥ यहां महा कवि केशव ने साधु शब्द का साध ऐसा उच्चारण किया है। और "जटत नील मनि" इति॥ यहां महा कवि विहारी ने

॥ श्रीजगदम्बायै नमः ॥

॥ अथ काव्य स्वरूप निरूपणाकृति प्रारंभ ॥

दोहा

कवि कहि गायो वेद नें, वा प्रभु कों उर लाय ।
कहों जु काव्य स्वरूप नृप, यह ठां अवसर पाय ॥ १ ॥

काव्यस्वरूप

काव्य के अलंकारों का निरूपण करेंगे, इसलिये संक्षेप से काव्य का स्वरूप लखाते हैं । "कुङ्" धातु से कवि शब्द बना है । कहा है धातु पाठ में "कुङ् शब्दे" कुङ् धातु का अर्थ है शब्द । कवि शब्द का अर्थ है शब्द करनेवाला । शब्द दो प्रकार का है । ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक । ध्वन्यात्मक वीणा नाद आदि है । वर्णात्मक जिस का उच्चारण किया जाता है वह अकारादि अक्षर है । इन दोनों के दो दो प्रकार हैं । रमणीय और अरमणीय । सो वर्णात्मक रमणीय शब्द का उच्चारण करनेवाले में कवि शब्द की रूढि है । कवि का तादृश कर्म वह काव्य । परमेश्वर भी कवि है । इस में प्रमाण यह श्रुति है:—

कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः ॥

अर्थ—परमेश्वर कवि है, मनीषी शब्द का अर्थ है "मनस ईपिता" अर्थात् मन का प्रेरक, परिभूः अर्थात् सर्वव्यापी, स्वयंभूः अर्थात् आप ही स्थित ॥ तात्पर्य यह है कि किसी का अवलंबन करके वह नहीं रहता, समस्त उस का अवलंबन करके रहते हैं । परमेश्वर कवि है, तब परमेश्वर की वाणी जो वेद है सो काव्य है, यह सिद्ध हुआ ॥ और "सर्वव्यापी" इत्यादि विशेषणों से परमेश्वर की स्तुति करते हुए वेद ने परमेश्वर को कवि यह विशेषण भी दिया है, इस से यह भी सिद्ध हुआ कि कवि अत्यंत श्लाघनीय है ॥ रामायण, महाभारत और भागवत आदि पुराण भी काव्य हैं । रामायण में प्रतिसर्ग "आदि काव्ये"

को शोभा देता है, इसलिये यह चमत्कार इस काव्य का अलंकार है। यथावाः—

मारुत इव मरुपति सुजस, सब ठां करत सँचार ॥

इस दोहे छंद में शब्द भी रमणीय है, और मारुत के समान राजराजेश्वर का जस सर्व संचारी है यह अर्थ भी रमणीय है; तहां मारुत के समीप करके किया हुआ राजराजेश्वर के जस की सर्व संचारिता का विशेष ज्ञान, यह चमत्कार उक्त काव्य का शोभाकर होने से उपमा अलंकार है। ऐसे समस्त अलंकारों को जान लेना चाहिये ॥ उक्त उपदेश कांतासंमित अर्थात् कांता के जैसा है; क्योंकि अत्यंत मनोहारी है। दूसरे उपदेश मनोहारी नहीं होते। कहा है किसी नीतिवेत्ता ने—

हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः ॥

अर्थ—हितकारी होकर मनोहारि होवे ऐसा वचन दुर्लभ है ॥

यदि वैसा ही कहा जाय, कि सूर्योदय से प्रथम न जागोगे तो दरिद्री हो जाओगे; तो कैसा अरुचिकर होता है। और अरुचिकर उपदेश का फल भी नहीं होता ॥

इस ग्रंथ की सात ७ आकृतियां हैं। प्रथम आकृति में भूमिका; द्वितीय आकृति में काव्य का स्वरूप; तृतीय आकृति में शब्दालंकार; चतुर्थ आकृति में अर्थालंकार; पंचम आकृति में रसवदादि अलंकार; षष्ठ आकृति में अलंकारों का अंतर्भाव, अर्थात् दूसरों के माने हुए सौ १०० अलंकारों का उपमादि अलंकारों में और लोक में अंतर्भाव; सप्तम आकृति में ग्रंथ समाप्ति का समय, राजराजेश्वर के समकालीन नरेश्वरों की गणना और पारितोपिक हैं ॥

इस ग्रंथ में विषय का नाम सब से बड़े अक्षरों में, अन्य ग्रंथकारों के लक्षण तथा हमारे नामार्थ उस से छोटे अक्षरों में, उदाहरण उस से

नहीं छोड़े वह अजहत्स्वार्था लक्षणा है। इस को उपादान लक्षणा भी कहते हैं ॥

यथा—

आये मरुपति कुंत लख, सभय पलाये शत्रु ॥

यहां वाच्यार्थ यह है कि कुंत अर्थात् भाले आये। सो जड़ भालों में आने का कर्तापन वन नहीं सकता, इसलिये यहां वाच्यार्थ का बाध है। और उक्त वाच्यार्थ का कुंतधरों के साथ संबंध भी है, इसलिये कुंत सदृश दारुणता कुंतधरों में होने रूप प्रयोजन से कुंत शब्द कुंतधर अर्थ को कहता है। यहां कुंत शब्द ने अपना अर्थ नहीं छोड़ा है, इसलिये यह लक्षणा अजहत्स्वार्था है ॥ ऐसी शंका न करनी चाहिये कि "मम घर गंगा मांहि" यहां भी गंगा शब्द से गंगा तट इस अर्थ का ही वोध होता है, तब गंगा शब्द ने प्रवाह रूप अपने अर्थ को वहां भी नहीं छोड़ा है, वह जहत्स्वार्था कैसे? क्योंकि वहां घर की स्थिति रूप क्रिया के साथ तो तट का ही संबंध है प्रवाह का नहीं। इस रीति से गंगा शब्द ने प्रवाह रूप वाच्यार्थ को छोड़ दिया है। और "कुंत आये" यहां कुंतधर रूप कर्ता के द्वारा कुंतों का भी आना है, इसलिये यहां वाच्यार्थ का छोड़ना नहीं है। इस रीति से यह अजहत्स्वार्था है। इन दोनों लक्षणाओं में प्रयोजन के लिये लक्षक शब्द कहा गया है, इसलिये ये दोनों प्रयोजनवती लक्षणा हैं। विना प्रयोजन लक्षक शब्द हो वहां रूढा लक्षणा है ॥

यथा—

कर्म कुशल ॥

इस का अर्थ है काम में चतुर। कुशल शब्द का वाच्यार्थ तो "कुशान् लातीति कुशलः" इस व्युत्पत्ति से कुश लानेवाला है। कुश अर्थात् तृण विशेष। सो यहां कुश लाने की योग्यता* न होने से वाच्यार्थ का बाध

* आकांक्षा, आसत्ति अर्थात् समीपता और योग्यता इन के विना वाक्य नहीं वनता पद को दूसरे पद की चाहना रहती है अर्थात् एक पद से दूसरा पद जुड़ता है तब वाक्य बनता दूसरा पद समीप कहै तब वाक्य वनता है विलंब से कहै तौ नहीं वनता ॥ एक पद के साथ दूसरे पद का संबंध रहै तब वाक्य वनता है ॥ "अग्नि से सींचता है" यह वाक्य नहीं वनता, क्योंकि अग्नि का और सींचने का संबंध नहीं वनता ॥

छोटे अक्षरों में, वार्ता उस से छोटे अक्षरों में और टिप्पण रेखा के नीचे उस से छोटे अक्षरों में है ॥

रसिक विद्वानों से यह प्रार्थना है, कि गुण ग्राहक दृष्टि से इस ग्रंथ को अवलोकन करें ॥

॥ दोहा ॥

किय खंडन सब वडन कौ,
यह अपराध विहाय ॥
व्है निरपक्ष निहारियो,
यह प्रबंध कविराय ॥ १ ॥

कविराजा मुरारिदान ॥



चित्रभानु सोभत जु अति.

वक्ता आदि की ... दिवस समय होवे तौ सूर्य में वाचकता का नियमन होवे-
कहा है काव्यप्रकाशे ... य होवे तौ अग्नि में वाचकता का नियमन होवेगा ॥

वक्तृबोद्धव्यका...
प्रस्तावदेशकालादि... घोड़ा घोड़ी.
योर्थस्यान्यार्थधीहेतु... कहेंगे तौ नर अश्व में वाचकता का नियमन
... कहेंगे तौ मादा अश्व में वाचकता का

अर्थ—वक्ता कहनेवाला। बोद्धव्य...
वाक्य पद समुदाय। वाच्य शब्दार्थ। अन्यस...
सिवाय दूसरे की समीपता। प्रस्ताव प्रकरण। देश...
इत्यादि के वैशिष्ट्य अर्थात् विलक्षणता से प्रतिभावालोंक जो अन्यार्थ बुद्धि कराने का हेतु अर्थ का व्यापार वह 'व्यक्तिरेव' अर्थात् व्यंजना ही है ॥ प्रतिभा तौ बुद्धि का प्रकार है—

स्फुरन्ती सत्कवेर्बुद्धिः प्रतिभा सर्वतोमुखी ॥

अर्थ—स्फुरती हुई बहु मुखी सत्कवि की बुद्धि को प्रतिभा कहते हैं॥

॥ छप्पय ॥

वक्ता पुन बोद्धव्य काकु अरु वाक्य पिछानहु,
वाच्य अन्यसंनिधि जु कमधपति प्रकरण जानहु ॥
देश काल इत्यादि की जु विलछनता करि मन,
प्रतिभावांनन कों सु बुद्धि अन्यार्थ करावन ॥
है हेतु अर्थ व्यापार ह्यां नृपति व्यंजना ही कहहु,
क्रम तैं जु एक इक सौं जुदा उदाहरन इन के लहहु ॥ १ ॥

क्रम से यथा—

॥ दोहा ॥

उदयागिर सिर इंदु की, चढ़ी अरुणिमा आन ।
अस्ताचल की ओट में, भयो जु लखिये भान ॥ १ ॥

यहां दूती वक्ता होवे तौ अभिसार कराना व्यंग्य है॥ गुरु वक्ता होवे तौ देव पूजन इत्यादि कराना व्यंग्य है ॥

॥ सूचीपत्र ॥

आपस में अविरुद्ध हैं इत्यादि ॥ और रत्यादिकों की स्थायिता दशा में रत्यादि के साथ रह कर उस के उपकरण होवें अर्थात् पुष्टि करें तब उन भावों को संचारी संज्ञा है। संचारी शब्द की यह व्युत्पत्ति है "सह चरतीति संचारी" साथ चलनेवाला संचारी है। यहां संचारी शब्द से अनुचर विवक्षित है, न कि पथिकवत् केवल सहगमन। अनुचर अर्थात् दास। अनुचर का भी अक्षरार्थ तौ पीछे चलनेवाला है। दास का कार्य स्वामी की परिचर्या है। स्थायी भावों से इतर भाव संचारी होते हैं। और रत्यादिक स्थायी भाव भी दूसरे स्थायी भाव के अनुचर हो जावें तब उन की भी संचारी संज्ञा है। संचारी को व्यभिचारी भी कहते हैं। संचारी शब्द का अर्थ संचार करनेवाला अर्थात् आने जानेवाला यह भी है। एक भाव की स्थिति में उस के संबंधी दूसरे भाव हो हो कर, विलाय भी जाते हैं। संचारी भावों के लिये फेन बुद्बुद न्याय प्राचीनों ने कहा भी है। जैसे रति भाव की स्थिति में रति भाव का संबंधी कभी उत्कंठा भाव उत्पन्न होता है, वह विलाय कर चिंता भाव उत्पन्न होता है इत्यादि; परंतु भावों की यह अवस्था भी निरंतर साथ रहनेवाले भावों की नांई अनुचरता करती है॥ ऐसा मत कहो कि स्थिर रहने से स्थायी संज्ञा और सहचर होने से संचारी संज्ञा है, तब रस दशा में ही भावों को स्थायी संचारी संज्ञा होने का नियम क्यों है, यह संज्ञा तौ सर्वत्र हो सकती है। भावों का यह स्वभाव है कि एक भाव की स्थिति में उस के संबंधी दूसरे भाव उत्पन्न होते हैं तहां प्रधान भाव जो है सो तौ स्थायी है, और जो गौण भाव है सो संचारी है॥ स्थायी भावों को मुख्य कहा है भरत भगवान् ने भी—

यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः।
एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह ॥ १ ॥

अर्थ—जैसे मनुष्यों में राजा और शिष्यों में गुरु ऐसे ही यहां सब भावों में स्थायी भाव महान् अर्थात् बड़ा है॥ और गौण भाव मुख्य भाव को पुष्ट करते ही हैं॥

यथा—

वासकशय्या और अभिसारिका में संयोग शृंगार है, न कि वियोग शृंगार। क्योंकि वियोग तौ मिलाप की वाधा में होता है। मान में समीपता भी होती है, तौ भी मिलाप में वाधा होने से मान वियोग शृंगार का प्रकार है, यहां दंपती की वेष व्यत्यास लीला है। तहां नायिका के तौ हाव हैं, और नायक के तादृश मनोहारी न होने से अनुभाव मात्र है। इस में सहृदयों के लिये प्रत्यक्ष प्रमाण है॥

॥ सूर पद ॥

श्याम तोरी वंशी नैंक वजाऊं.

तुम गहि मौन पीठ दे बैठौ, मैं पर पाय मनाऊं।
सूर कहै प्रभु व्हौ क्यों नी राधे, मैं नंद लाल कहाऊं॥

यहां भविष्यत् लीला हाव है, सो भी संयोग में है। और यहां दोनों जगह सखी के साम्हने नहीं है; किंतु नायक के साम्हने है। और "पिय के ध्यान" इति। वहां एकांत में है॥ ऐसा मत कहो कि मान तौ वियोग शृंगार ही है? क्योंकि यहां एक मान ही विवक्षित नहीं, प्राणेश्वर की अनुकृति चाहती हुई नायिका ने "वंशी मैं वजाऊं, मैं नंद लाल कहाऊं" इत्यादि अनेक अनुकृति की प्रार्थना की है। दूसरे हावों के उदाहरणादि ग्रंथ विस्तार भय से यहां नहीं दिखाये हैं॥ प्राचीन अनुभाव में और हाव में यह विलक्षणता वताते हैं कि विकार अल्प लखा जावे वह हाव॥ साहित्यदर्पणकार का यह लक्षण है—

भ्रूनेत्रादिविकारैस्तु संभोगेच्छाप्रकाशकः॥
भाव एवाल्पसंलक्ष्यविकारो हाव उच्यते॥ १॥

अर्थ—जिस में विकार अल्प लखा जावे ऐसा भ्रूनेत्रादि विकारों से संभोग की इच्छा का प्रकाशक भाव ही हाव कहलाता है॥ सो हमारे मत अल्प लखा जाना और स्पष्ट लखा जाना यह किंचिद्विलक्षणता प्रकारांतर होने को योग्य नहीं। उक्त दशाओं में ये अनुभाव सात्त्विक पदवी को और हाव पदवी को प्राप्त होते हैं। ऐसी पद प्राप्ति से वस्तु प्रकारांतरता को नहीं भजती। जैसे कि विवाह समय पुरुष "वींदराजा" इस पदवी को प्राप्त होता है। तहां प्रकारांतरता नहीं

॥ सवैया ॥

कारी घटा धर जात ढरी ढरी,
फेर मुरार भरी भरी आवैं।
बीज परी परी सी व्हैं चढ़ैं जु,
डरी डरी दौर कहां लपटावैं॥
नाचत कुंज गरी गरी मोर,
घरी घरी चातक बोल सुनावैं।
हाय हरी विन भूमि हरी हरी,
हेरि कै आंखें जरी जरी जावैं॥ १॥

यहां नायक का दूर देश रहना आलंबन विभाव है। घटा आदि उद्दीपन विभाव है। त्रास, उत्कंठा आदि संचारी भाव है। वचन अनुभाव है॥

यथावा—

॥ दोहा ॥

पिय वियोग तिय दृग जलधि, जल तरंग अधिकाय,
वरुनि मूल वेला परस, बहुर्यों जाय विलाय॥ १॥

इति रसराज भाषा ग्रंथे।

यहां नायक का वियोग आलंबन विभाव है। नायक का रूप और गुण गम्य उद्दीपन विभाव है। लज्जा संचारी भाव है। अश्रु अनुभाव है। यह प्रवास है॥

॥ मनहर ॥

मोहन लला को सुन्यौ चलन विदेश भयो,
वाल मोहनी को चित निपट उचाट में,
परी तलावेली तन मन में छवीली राखे,
छित पर छिनक छिनक पाव खाट में।
पीतम नयन कुवलयन को इंदु घरी,

द्वितीय आकृति २

संचारी भाव है। पति मुख निरीक्षण आदि अनुभाव है। साहित्यदर्पण का कर्ता हास के षट् प्रकार कहता है। स्मित ओष्ट विकास मात्र १ हसित ईषत् दंत प्रकाशन २ विहसित विशेष करके दंत प्रकाशन ३ अवहसित ईषत् शब्द सहित दंत प्रकाशन ४ अपहसित अति शब्द सहित दंत प्रकाशन ५ अतिहसित सिर कंपन हस्ततालादि सहित और अति शब्द सहित दंत प्रकाशन ६ ॥ रसगंगाधरकार ने भी दर्पण के अनुसार ऐसे भेद कहे हैं, सो हमारे मत अति तुच्छ हैं। प्रकारता तो रमणीयता की विलक्षणता से होती है, सो उक्त भेदों में रमणीयता का गंध भी नहीं ॥

॥ करुण ३ ॥

॥ दोहा ॥

मृतक दरिद्री वा दुखी, यह आलंबन जान।
दाह दुर्दशा आदि दे, उद्दीपन जु बखान ॥ १ ॥
स्थायी शोक जु जानिये, निर्वेदादि संचारि।
विवरण इत्यादिक जहां, है अनुभाव विचारि ॥ २ ॥

यथा—

॥ मनहर ॥

आज छित छत्रिन को भांन सो असत भयो,
आज पात पंछिन को पारिजात परगो।
आज मान सिंधु सूक्यो मंगन मरालन को,
आज गुन गाढ को गिरीश गंज गरगो।
आज टूट्यो पुन्य को पताका दंड विजैनाथ,
आज हिय हरष हज़ारन को हरगो।
हाय हाय जग के अभाग तखतेश राज,
आज कलिकाल को कन्हैया कूच करगो ॥ १ ॥

इति ढुंढाहड़ देशे मींडक्या ग्रामनिवासि बारहठ चारण विजैनाथस्य।

पञ्चम आकृति ५

सप्तम आकृति ७

॥ श्रीगणाधिपतये नमः ॥

॥ श्रीजगदीश्वर्यै नमः ॥

॥ अथ जसवंत जसो भूषण ग्रन्थ प्रारंभ ॥

॥ दोहा ॥

वहुतन ध्यायो वहुत विधि, पायो किनहुन पार ॥
वार वार वंदन करत, तिंह कविराज मुरार ॥ १ ॥
चारन कुल नव लच्छ भे, आदि शक्ति अवतार ॥
जय अखीर करनी कर्यो, वींको नृपति निहार ॥ २ ॥
नमत पूर्व पंडितन प्रति, सत है उपकृति शोध ॥
दिय अवकाश प्रमादसों, सिद्धांतनसों बोध ॥ ३ ॥

॥ घनाक्षरी छंद ॥

इंगलिश और हिंद ईश विकटोरिया है,
जहां रवि जात तहां तहां मिलै ताको राज ।
केते अवतार चक्रवरती अपार भये,
कवहू न पायो प्रजा ऐसो सुखको समाज ॥
राख्यो कर जाके हित घर सिर जानें जग,
कौन मित्र ताके जसवंत नृप जैसो आज ।
कहैं सव कोऊ चिरजीव रहो दोऊ यह,
होऊ सिद्ध सोऊ जोऊ जोऊ मन वांछै काज ॥ १ ॥

---

* विक्रम के सौलहर्वे शतक मे करणी नामक चारणी जो आदि शक्ति का अवतार थी वह जोधपुर के राव जोधाजी से उनके कवर वीकाजी को मागकर अपने साथ ले गई, और उस को अपनी करामात से जागल देश का राजा वना दिया । उन वीकाजी का वसाया हुआ वीकानेर शहर है । उन्ही के वश में अभी वीकानेर का राज्य है । वीकानेर से पाच कोस पर देसणूक ग्राम में करणी देवी का मदिर है । वीकानेर के राजा उनका वडा भाव रखते हैं ॥

॥ अथ राजवंशवर्णन ॥

॥ छंद वैताल ॥

रवि वंस जग अवतंस जामें अवतरे श्रीराम,
रघुकुलहिसों वस अवधि छूट्यो अवध वास सुधाम ॥
धर रूप श्येन जु राष्ट्रकी किय रच्छना यह काम,
कुलदेवि मनसा को प्रसिध भो राष्ट्रश्येना नाम ॥ १ ॥
तब राष्ट्रश्येनीय जु सु संज्ञा भई रघुकुल जान,
इक देश नामहि से ग्रहन व्है नाम शास्त्र प्रमान ॥
यह हेतु पुन इन कों सु लग्गे कहन राष्ट्र जु लोग,
फिर प्राप्त भे जु विशेषपन कों कार्य शुभ संयोग ॥ २ ॥
केउ भये महि मंडल मझार जु महाराष्ट्र विख्यात,
केउ राष्ट्रकूट प्रसिद्ध भे यह विश्व विदित जु वात ॥
मरु देश भीतर शून्य नगरी हस्तिकुंडी नाम,
तित मिल्यो पाहन लेख उन को पुरातन अभिराम ॥ ३ ॥
मरु धराधिप के पूर्वज सु भे राष्ट्रवर पदवान,
किय दिशा दच्छिनकों गमन तित अवनि अति उद्यान ॥
कर्णाट कोंकन देश कल्यानी जु नगरी लिद्ध,
स्थिर भये फिर ले स्थान बहु चिर समय राज्य सु किद्ध ॥ ४ ॥
दिय ग्राम दत तिन ताम्र पत्रन और ख्यातन शोध,
क्रमतें जु भाखत नाम जिनको भयो है सत बोध ॥
नृप यशोविग्रह ताहि सुत भे महीचंद्र स ओज
तिनके जु सुत श्रीचंद्र लीन्ही बाहु बल जु कनोज ॥ ५ ॥
भे मदनपाल गोविंदचंद्र रु विजयचंद्र नरेश ।
जिनके जु सुत जयचंद जनमे दबाये बहु देश ॥

दलपंगुल* सु पद लह्यो कारन जिंह सु ज़ाहिर आंम।
इक लीक पंगुल गमन इव रहती जु कूच मुकांम ॥ ६ ॥
कलि मांझ युद्धिष्टिर विना नहिं कय्यौ काहू आन।
कर राजसूय जु यज्ञ जिंह दिय द्विजन अगनित दान ॥
इक दिवस अठ सुलतांन पकरे ले जु छोड़े दंड।
सुलतांनग्रहमोखन विरद भौ प्रसिध नव हू खंड ॥ ७ ॥
संवत् सु बारा सौ इकावन (१२५१) विक्रमी दल साज।
आयो जु साहबुदीन सनमुख भये रन महाराज ॥
सर अर्धचंद्राकार लग कट पय्यौ सिर माधि जंग।
कछु काल रितयौ तदपि थिर रहि दुरद पीठ निखंग ॥ ८ ॥
यह हेत कहत कवंधज सु तिंह वंशकों विख्यात।
अति रुधिरसों अन्हवाय अवनी दई यवनन हात ॥
कट परत मस्तक लरत धर तिंह कहत हैं जु कवंध।
अपभ्रंश कमधज शब्द भौ मरु देश पाय सबंध ॥ ९ ॥
जैसे कि जग में राष्ट्रवर को कहत हैं राठौर।
व्यत्यास भापा भेद सों व्हैं जात ठौरहि ठौर ॥
इनके जु पीछे कछु समय कन्नोज छुट्टे बाद।
गोविंदगढ़ पति रहे तिंह अब कहत समसाबाद ॥ १० ॥
जयचंद सुत वरदायिश्येन† जु यह न निश्चय होय।
भौ कुमरपद माधि शांत वा पश्चात न कह्यो कोय ॥

---

* महाराजा जयचद दलपगुल कहलाता था। दलपगुल सेना है पागुले के जैसी जिसकी. इस का तात्पर्य यह है कि अपगु के पाव से चलने में व्यवधान रहता है, वैसा पगु के चलने में नहीं रहता। पगु मनुष्य तो घसीट कर चलता है, इसलिये लगातार एक लीक पडती है; वैसे महाराज जयचद के सेना अधिक होने से कूच और मुकाम में लगातार एक श्रेणी रहती थी।

† इस नाम का अर्थ है राष्ट्रश्येना देवी से वर पानेवाला यहां भी राष्ट्रश्येना नाम के एक देश का ग्रहण है। राष्ट्र वहा पूर्वार्ध का ग्रहण है, यहा उत्तरार्ध का ग्रहण है। इसका समास है. "**वरदायिनी श्येना यस्मै स वरदायिश्येनः**" वर देनेवाली है श्येना अर्थात् राष्ट्रश्येना देवी जिस को

आयो सु सांवतसी शरन अपराधं कर पतशाह ।
तिंह अर्थ समप्यो सीस सलखै अतहि धर उच्छाह ॥
वीरम जु शरनागत दला हित दयो तज निज देश ।
तिंह प्रसंगहि रन सेज सोयो कलह* कर कमधेश ॥ १६ ॥
क्षत्रिय जु ईंदा जाति के तिन मुसलमानन मार ।
लीन्हो सु दीन्हो पुत्रिका परनाय प्रवल निहार ॥
वस भाग्य चूंडा† कों जु ऐसे मिल्यौ गढ़ मंडोर ।
अपनाय लीन्ही खग्गमग वहु अवनि चारों ओर ॥ १७ ॥
मुलतानके दल उमड आये घिरयो पुर नागौर ।
छित छोर कर जव वरी अच्छरि वांध मस्तक मौर ॥
रनमल्ल मोकल भागिनेयहिं मदत चढ़ चित चाह ।
रन पराजय महमूद कीन्हो मालवी पतशाह ॥ १८ ॥
लिय भागिनेयहिं वयर फिर मेरो रु चाचक मार ।
लघु वयहि कुंभाकों कस्यो चित्तोर पति तिंह वार ॥

---

* युद्ध ॥

† **मंडोवर** मुलतान के मुसलमानों ने लेलिया था । पड़िहार राजपूतों में एक खांप ईंदा है, इन के भोमीचारे के अ.ड़तालीस ४८ गांव मंडोवर से पश्चिम दिशा में अभी मौजूद हैं । मुसलमानों ने वेगार वगैरः से ईंदों को वहुत सताया, इन्हों ने मौका पाकर मुसलमानों को मार मंडोवर के किले का कब्जा कर लिया । फिर सोचा कि मुसलमानों की फौज आवेगी जब हम ठैर न सकेंगे । उस समय **खेड़** के राज्य की सीमा जोधपुर से सात कोस पर सालोड़ी नामक गांव है वहां तक थी. चूंडा का चचा **मलीनाथ** खेड़ में राज्य करता था । चूंडा गांव सालोड़ी में सरहदी थाने पर वड़ी जमीयत के साथ था ईंदो के मुखिया **रायधवल** ने चूंडा से कहलाया कि हम ने किला मुसलमानों से लेलिया है । आप मेरी वेटी से विवाह कीजिये, हम आप को किला दहेज में दे देंगे । चूंडा ने तुरंत जाकर रायधवल की वेटी से विवाह किया तो रायधवल ने मंडोवर का किला चूंडा को सौंपदिया । उस समय का दोहा है—

पह ईंदारो पाड, कमधज कदे न पातरै ।
चूंडो चँवरी चाड़, दियो मंडोवर दायजे ॥ १ ॥

पह शब्द पृथ्वीप का अपभ्रंश है । पाड़ का अर्थ है उपकार । पांतरै का अर्थ है भूलना ॥

१ आवृत्ति

हुव रान राज्य प्रबंध ही में प्रान *व्यय मरुराव
परकाज कों सर्वस्व निज यह सिद्ध सतन सुभाव ॥ १९ ॥
निर्माण किय निज नामसों पुर दुर्ग †जोध नवीन ।
कर गया जात्रा छुड़ायो कर गया बहु जुध कीन ॥
तिंह सुत जु सूजा राव उर धर उभय बार उमंग ।
रन पर्‌यो जखमी होय जुर जुर जवन गनसों जंग ॥ २० ॥
भौ कँवर वाघो वाघ के सम बहुत ही बलवान ।
पर छत्र धारनके प्रथम परलोक कीन्ह प्रयान ॥
लिय छीन ईडर बंधु सों गुजरात के पतशाह ।
‡गंगेव लर सु छुड़ाय दीन्हो विश्व भाख्यो वाह ॥ २१ ॥
भौ अश्व अवनि अपार को पति मालदेव जु राव ।
इनकी जु गनना लों रह्यो स्वातंत्र्य पुहमि प्रभाव ॥
तज उदंगल को उदयसिंह जु समुझ अपनो श्रेय ।
गत भूमि राजा पद लह्यो दिल्लीश अकबर सेय ॥ २२ ॥
पद प्राप्त भौ राजा सवाई सूरसिंह जु भूप ।
उन कृत प्रबंध अद्यापि हैं इस राज्य के सु अनूप ॥
गजसिंह दीन्हे बहुत गज जीत्यो जु बावन जंग ।
कबहू न पहर्‌यो कवच राच्यो वीर रस के रंग ॥ २३ ॥
दिल्लीश दीन्हो बिरद दलथंभन सु पुहमि प्रसिद्ध ।
दे ग्राम विभव विशाल सुकवि समान अपने किद्ध ॥

---

* रांणा कुंभा ने संवत् पन्द्रह सौ १५०० के आपाढ में चित्तौड़ के किले पर रातके वक्त सोते हुए राव रिड़मल को कटारियों से मरवा डाला ॥

† जोधाने विक्रमी संवत् पन्द्रह सौ पन्द्रह १५१५ में अपने नाम से जोधपुर शहर बसाया। और किला करवाया. यह जोधा गया तीर्थ की जात्रा को गया, तब मार्ग में दिल्ली के बादशाहसे मिला। और बादशाह को लड़ाई में मदद दी, उस उपकार में गया तीर्थ में जानेवाले जात्री लोगों पर बादशाही कर लगता था वह हमेशा के लिये छुड़ा दिया ॥

‡ गांगा

जसवंत जव लग जियो तव लग रहे थिर सुर थान।
इकराह कज अवरंग* को उद्यम न भौ फलवान ॥२४॥
किय भूमि काबुल पथिक काबिल तोल कर तरवार।
हर रोज दिय पहिराय हर के हिय हजारन हार ॥
अजमल्ल† थप्य उथप्प शाहन भयो साधन सिद्ध।
निज देश‡ दुर्ग रु मुल्क स्याही छीन सँभर लिद्ध ॥ २५ ॥
पद राजराजेश्वर परम पतशाह हू सों पाय।
हिंदून पै कर हुतो जेज्या§ दयो वह जु छुड़ाय ॥
जग न्याय करने में निपुन भौ वखतसिंघ भुवाल।
परिमितव्ययी अरु वीर वर विख्यात शत्रुन साल ॥ २६ ॥
हरिभक्त करुनासक्त जय जय विजयसिंघ नरेश।
लख आत्मवत सव भूत कीन्हो रहित हिंसा देश ॥
प्रिय परम पुत्रन त्यों प्रजासों प्रतछ कीन्हो हेत।
उस समय¶ की संसार में अद्यापि उपमा देत ॥ २७ ॥
किय कँवर पदहि गुमानसिंह प्रयान निर्जर थान।
जिनके जु जनमे प्रसिध पृथिवी महाराजा मान** ॥
शिशु वेष सों रन खेल खेले अमित देस विदेस।
रिन किन हु शत्रू मित्र को सिर रख्यो नाहिन सेस ॥ २८ ॥

* औरंगजेब दिल्ली का मुगल बादशाह था.

† अजीतसिंह.

‡ महाराज जसवंतसिंहजी का पिशावर में देहांत होने पर बादशाह ने जोधपुर जब्त कर लिया था सो अजीतसिंहजी ने अपने बाहु बल से पीछा ले लिया ॥

§ मुसलमान न होवें उन से अपना धर्म रखने के लिये जो सालियाना कर लिया जाय उस को अरबी भाषा में जेज़या कहते हैं ॥

¶ सुराज्य होवे वहां कहा जाता है कि विजैवारा वरते है। वारा अर्थात् समय ॥

** मानसिंह ॥

कुरुराज मानहिं दान में जिह कर्न को जय कीन्ह ।
हय गाम गज कवि जनन कों मुख सों जु मांगे दीन्ह ॥
संगीत आदि समस्त गुन को रसिक अरु रिझवार ।
अतिं राजनीती में निपुन *नव ग्रंथ सरजनहार ॥ २९ ॥
दिय शरन जिह नृप †नागपुर ‡इंदोरपति रनवास ।
जग जन्म करवे कों सफल पुन लयो शुभ सन्यास ॥
§तखतेश धारन कर्‌यो मरुधर छत्र दत्तक आय ।
औरस हु पोरस पुत्रता में रहे सव शरमाय ॥ ३० ॥
कवि सुभट मंत्रिन चित्त चाह्यो सराह्यो सव लोग ।
जिह भांत भांतन सों जु भोगे भूमि के वहु भोग ॥
यह गवरमिंटी सलतनत हे बहुत ही वलवान ।
तिंह भुज पराक्रम सों रह्यो महिपाल मंडल मान ॥ ३१ ॥
विस्तार जुत गत नृपत वरनों वढ़त ग्रंथ अपार ।
संक्षेप सों जु प्रसंग वस यह करी गनना सार ॥
विक्रमी संवत अष्टदस शत चार निव्वे (१८९४) आंन ।
आसोज शुक्ला अष्टमी जनमे जु जसवँत जांन ॥ ३२ ॥
उगनीस सौ गुनतीस (१९२९) फालगुन छत्र धारन किद्ध ।
गज गांम हय जु अनेक अबलों अनेकन कों दिद्ध ॥
बहु लाग भाग जु रैत कों कर कृपा दीन्ही छोर ।
दिय अभयदांन जिहांन कों मैवास मंडल तोर ॥ ३३ ॥
मरुभूमि निर्जल सजल कीन्ही रच अपार सु ताल ।

---

* इन महाराजा का वनाया हुआ नाथचरित्र नामक अति उत्तम भाषा ग्रंथ है. और हजारों कवित्त गीत दोहा गजल रेखता ख्याल ठुमरी टप्पे हैं ॥

† **नागपुर** का राजा मरहटा **मधुराजदेव** जात का भौंसला था ॥

लग ‡ इंदोर का राजा **जसवंतराव** जात का हुल्कर जिस की स्त्री तुलछां बाई.

§ तखतसिंह ॥

कर रेल तार स्वदेश में लोकन जु कीन्ह निहाल ॥
अवनीश अखिलन सों जु कीन्ही एकता जिंह अप्प।
किय न्याय के जु प्रबंध नीके कौंसलादिक थप्प ॥ ३४ ॥
है अद्वितीय उदारता वह विश्व में विख्यात।
सब गुनन को रिझवार जासों कोउ न रीतो जात ॥
सरदारसिंघ सपूत सुत जिंह दयो श्रीजगनाथ।
तन मन रु धन किय स्वामि हित परतापसो तिंह भ्रात ॥ ३५ ॥
भइ कामधेनू धरनि पैदा बढ़त जात अपार।
अभिलाष एक न शेष उर सुख सराहत संसार ॥
कबहूक करत जु सचिव कवि सामंत सह दरबार।
धर छत्र चामर आभरन बन इंद्र के उनिहार ॥ ३६ ॥
कबहूक मंत्रिन मंडली रच करत कार्य सुराज।
कबहूक साहित सुनत कर एकत्र सुकवि समाज ॥
कबहूक फिरवत तुरग चपला से जु चपल विख्यात।
सकुचात अंग कुरंग ज्यों जिंह गवन पवन लजात ॥ ३७ ॥
कबहूक निज निर्मित तड़ागन होत नौकारूढ।
कबहूक बागन बीच बस आनंद लेत अगूढ ॥
कबहूक भिरवत मल्ल शत्रुन के जु शस्त्र समाज।
कबहूक लखत दुरद रद रव ओचकत अहिराज ॥ ३८ ॥
कबहूक सुनत सँगीत निरखत नृत्य चित्त लुभात।
जो होत कलहु प्रतच्छ मच्छर अच्छरिन उड़ जात ॥
कबहूक महलन मांझ जुत आनंद आसव पान।
वासव हि विन व्हे कवन जग वह सहल मांझ समान ॥ ३९ ॥
कबहूक गहन सु वन गिरन भ्रम रमत हैं जु शिकार।
अविरल जु सर आसार व्हैं वाराह सिंह सँहार ॥
कबहूक सेना सुभट निरखत वीरखेल जु अच्छ।

खग सेल खंजर आदि आयुध अश्व करतब स्वच्छ ॥ ४० ॥
कबहूक देशाटनहिं करके लेत सबहिन शोध।
जित तित सु अधिकारीन प्रति अति देत उचित प्रबोध ॥
नित प्रत जु पालन प्रजा को अति करत है जुत नीत।
यह भांत धरत जु छत्र छित वासरहिं करत वितीत ॥ ४१ ॥

राजराजेश्वर जी, सी, एस्, आई, महाराजाधिराज श्री
जसवंतसिंहजी का दरबारी लिबास का चित्र.



राजराजेश्वर जी, सी, एस्, आई, महाराजाधिराज श्री जसवंतसिंहजी का सादे लिवास का चित्र.



॥ छप्पय ॥

भूमि सहस सैंतीस मील मुरधरा प्रमानिय ।
मनुष सवा पच्चीस लाख वसत सु जग जानिय ॥
पैदा सब देश की कोट द्रय की जु उचारत ।
रजधानी* जोधपुर नृपति जसवँत छत्र धारत ॥

* राजधानी ॥

सरदारसिंघ लघु वेस सुत हैं जु वंस गुन गन सहित ।
गनना जु वंश जयचंद की हैं लाखन में बढ़त नित ॥ १ ॥

महाराज कुमार श्री सरदारसिंह जी का चित्र.



१ यशोविग्रह	२० चूंडो
२ महीचन्द्र	२१ रणमल्ल
३ श्रीचन्द्र	२२ जोधो
४ मदनपाल	२३ सूजो
५ गोविन्दचन्द्र	२४ वाघो
६ विजयचन्द्र	२५ गांगो
७ जयचन्द	२६ मालदेव
८ वरदायिश्येन	२७ उदैसिंघ
९ सेतुराम	२८ सूरसिंघ
१० सीहो	२९ गजसिंघ
११ आसथांन	३० जसवंतसिंघ
१२ धूहड़	३१ अजीतसिंघ
१३ रायपाल	३२ वखतसिंघ
१४ कनपाल	३३ विजयसिंघ
१५ जालणसी	६४ गुमानसिंघ
१६ छाडो	३५ मानसिंघ
१७ तीडो	३६ तखतसिंघ
१८ सलखो	३७ जसवंतसिंघ (वर्तमान)
१९ वीरम	३८ सरदारसिंघ (महाराज कुमार)

॥ दोहा ॥

जस भूषन जसवंत को, दयो नाम यह हेत।
सप्त आकृतिन सों करे, सब पूरन संकेत ॥ १ ॥
प्रथम भूमिका दूसरी, काव्य निरूपन जान।
है शब्दालंकार पुन, अर्थ अलंकृतवान ॥ २ ॥
रसवदादि पंचम भनी, करि हैं हित कविलोक।
छठही अंतर्भाव है, अवनीपति अवलोक ॥ ३ ॥
सप्तम आकृति जानिये, परिपूर्णता विधान।
वर्तमान नृप समय अरु, रीझ ग्रंथ की जान ॥ ४ ॥

॥ कवि वंश वर्णन ॥

॥ दोहा ॥

मैं हों चारन जाति को, ग्रंथ वनावनहार।
यातें कछु अपनी कथा कहों प्रथा अनु पार ॥ १ ॥

॥ छप्पय ॥

चारयंति कीर्ति सु शब्द चारन व्युत्पत्तिय।
गनना देवन मांझ प्रसिध वसुमति मह वत्तिय ॥
रामायन भारत्त रु भागवत्त आदि पुरानहिं।
सादर साखी देत वतन गिरिवर हिमवानहिं ॥
अद्यापि क्षत्रि पूजत परम देत दान सनमान नित।
जसवंत नृपति जुग जुग जियौ दे गज ग्राम रु करत हित ॥ १ ॥

मम शाखा आसिया* भये पुरखा जु भीम भल।
दे भोजन वहु नरन विरद पायो वळहठमल†।

* आसा नामक एक मूल पुरुष हुआ उस के वंश के आसिया कहलाये ॥

† मरु भाषा में भोजन को वळ कहते हैं हठ का अर्थ प्रसिद्ध है और मल्ल शब्द का अर्थ बलवान् है वळहठमल्ल इस शब्द समुदाय का अर्थ है लोकों को भोजन कराने के लिये हठ करने में बलवान् ॥

वंक पितामह भयो मान नृपको जु अजाचक*।
कर कविराज रु बहुत कुरव दिय दांन लक्ष यक।
भारतीदांन पितु को जु अति तखत भूप आदर कियो।
छित धरतहि छत्र मुरार कों दांन लक्ष जसवँत दियो ॥ २ ॥

कहा है चिंतामणि कोशकार ने "चारयति कीर्तिमिति चारणः। देवानां स्तुतिपाठके" कीर्ति को संचार करानेवाला अर्थात् फैलानेवाला यह चारण शब्द का अक्षरार्थ है। चारणों की देवताओं में गणना है. और ये आदि से देवताओं के स्तुतिपाठक हैं। क्षत्री भी देवांश हैं। राजा का नाम भी देव करके प्रसिद्ध है। चारण क्षत्रियों की ही जाचना करते हैं, दूसरे की नहीं करते ॥

लक्षदान को मरु भाषा में लाखपसाव कहते हैं। लक्ष शब्द का अपभ्रंश है लाख, प्रसाद शब्द का अर्थ है प्रीतिपूर्वक दान। कहा है चिन्तामणि कोशकार ने "प्रसादः तुष्टिदाने." "प्रसादः" शब्द का मागधी भाषा में "पसादो" ऐसा होता है. उसका अपभ्रंश है "पसाव." लाख पसाव में हय, गज, भूषण, वस्त्र, रजतमुद्रिका आदि दिये जाते हैं, और लक्ष की पूर्ति के लिये ग्राम दिये जाते हैं ॥

चारणों का वतन हिमालय है। इस विषय में प्रमाण—रावण दिग्विजय में रामायण के उत्तर कांड के पांचवें सर्ग के श्लोक ४-५.

अथ गत्वा तृतीयं तु वायोः पन्थानमुत्तमम्।
नित्यं यत्र स्थिताः सिद्धाश्चारणानां मनस्विनः ॥
दशैव तु सहस्राणि योजनानां तथैव च ॥

अर्थ—फिर रावण दश हजार योजन ऊंचे तीसरे वायु के उत्तम मार्ग को गया कि जहां सिद्ध और मनस्वी अर्थात् श्रेष्ट मनवाले चारण लोग हमेशा रहते हैं। पृथ्वी से इतना ऊंचा हिमालय ही हो सकता है। फिर भी रामायण के बालकांड के सर्ग ४८ के ३३ वें श्लोक में स्पष्ट कहा है:—

* अजाचक शब्द का अर्थ है याचना नहीं करनेवाला। मानसिंह का अजाचक अर्थात् मानसिंह विना दूसरे की याचना नहीं करनेवाला ॥

एवमुक्त्वा महातेजा गौतमो दुष्टचारिणीम्।
इममाश्रममुत्सृज्य सिद्धचारणसेविते॥ १॥
हिमवच्छिखरे रम्ये तपस्तेपे महातपाः॥

अर्थ—तेजस्वी गौतम अपनी दुष्ट आचरणवाली स्त्री को श्राप देकर इस आश्रम को छोड़ सिद्ध और चारणों से सेवित हिमालय के सुन्दर शिखर पर तप करने लगे॥ हिमालय ही सब का आदि उत्पत्ति स्थान है। यह इतिहासवेत्ताओं से सिद्ध किया गया है. यहां ऐसी शंका न करनी चाहिये, कि चारण देवता ही हैं तो स्वर्ग से पृथिवी पर कैसे आये? क्योंकि स्वर्गवासियों के और पृथिवीवासियों के आने जाने का आपस में संबंध था। अयोध्या का राजा दशरथ स्वर्ग के राजा इंद्र की सहायता के लिये मनुष्य देह से स्वर्ग में गया था। पांडु का पुत्र अर्जुन भी मनुष्य देह से विद्या पढ़ने को स्वर्ग में गया था। लंका के राजा रावण ने स्वर्ग को लूटा था। देवता राजाओं के यज्ञों में पृथ्वी पर आते थे यह सब पुराणों से सिद्ध है। अनादि काल से चारणों के देवी का इष्ट है. युद्ध के समय श्रीकृष्ण की आज्ञा से अर्जुन ने देवी की स्तुति की है. महाभारत में भीष्म पर्व के इक्कीसवें २१ अध्यायके सोलहवें १६ श्लोक में कहा है:—

तुष्टिः पुष्टिर्धृतिर्दीप्तिश्चन्द्रादित्यविवर्द्धनी।
भूतिर्भूतिमतां संख्ये वीक्ष्यसे सिद्धचारणैः॥ १॥

अर्थ— हे देवी! तू तुष्टि पुष्टि धृति दीप्ति चन्द्र और सूर्य की वृद्धि करनेवाली और ऐश्वर्यवालों की ऐश्वर्य ऐसी, संग्राम में सिद्ध और चारणों करके देखी जाती है। रामचन्द्रजी के सेतु बांधने के प्रसंग में

ग्रंथ कर्त्ता कविराज मुरारिदान का चित्र.



नाम और लक्षण का विचार.

हम इस ग्रंथ में प्राचीनों के लक्षणों का खंडन करके धोरियों के नाम रूप ही लक्षण रक्खेंगे, सो उस विषय में कुछ लिखा जाता है। परमेश्वर ने लोकसृष्टि में प्रथम पदार्थ वनाये हैं, पश्चात् उन पदार्थों के नाम रक्खे हैं। मनुस्मृति में प्रथम सृष्टिक्रम कह कर कहा है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥ १ ॥

अर्थ—स अर्थात् नारायण ने, तु अर्थात् फिर, वेद शब्दों से ही जुदे जुदे नाम और कर्म वनाये हैं। फिर संस्था अर्थात् व्यवहार को भी

है। लक्षण शब्द का अर्थ है " लक्ष्यते अनेन इति लक्षणम् "। इस से वस्तु लखी जावे। और संज्ञा का अर्थ है " सम्यक् ज्ञायते अनया इति संज्ञा "। इस से भली भांति जाना जावे। संज्ञा तो नाम का पर्याय है। इस रीति से लक्षण और नाम दोनों का प्रयोजन एक है, सो नाम से अलंकार के स्वरूप का ज्ञान करा कर फिर लक्षण से लखाने में पुनरुक्ति होती है। प्रथम जिन जिन कवियों ने अलंकारों के नाम रक्खे हैं, वे तो उन के स्वरूप का साक्षात् प्रकाश करें वैसे ही योगार्थवाले हैं। सो उन उन अलंकारों के प्रकरण में स्पष्ट करेंगे। प्रथम नाम रखनेवालों ने दूसरा कोई लक्षण नहीं बनाया है। क्योंकि नाम ही से अलंकारों के स्वरूप स्पष्ट होजाने से उन को दूसरा लक्षण कहने की आवश्यकता नहीं। दूसरों ने लक्षण बनाये हैं। सो कितनेक लक्षण तो साक्षात् स्वरूप के बोधक नहीं। और कितनेक अव्याप्त्यादि दोषग्रस्त हैं। उन का खंडन उन उन अलंकारों के प्रकरण में किया जायगा। साहित्य शास्त्र का मुख्य प्रयोजन तो मनरंजनता है, इसलिये इस में कोई मनरंजन नयी बात कही जाय, अथवा मनरंजन नहीं होवे, उस का खंडन किया जाय तो कोई दोष नहीं। नीति शास्त्र में कहा भी है-

युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि।
अन्यत्तृणमिव त्याज्यमप्युक्तं पद्मयोनिना ॥ १ ॥

अर्थ-- जो वचन युक्ति संयुक्त होवे वह बालक से भी ग्रहण कर लेना चाहिये, और जो युक्ति युक्त न होवे तो चाहे ब्रह्माजी ने क्यों न कहा हो परंतु तृण के समान त्याग देना चाहिये ॥ और आज्ञा की है वेदव्यास भगवान् ने भी अग्निपुराण में--

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथा वै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥ १ ॥

अर्थ-- काव्य की सृष्टि अपार है, इस का प्रजापति कवि ही है, सो उस की जैसी रुचि होती है, वैसा ही इस जगत् को पलटा देता है ॥ प्रथम जिस कवि ने अलंकार आदि लख कर नाम रक्खे हैं उस को हम धोरी कहते हैं। सो धोरी एक ही नहीं हुआ है; किंतु

जयदेव कवि ने चंद्रालोक ग्रंथ में स्मृति, भ्रांति और संदेह के नाम को ही लक्षण रक्खा है। सो ही कहा है उन्हों ने—

स्यात्स्मृतिभ्रान्तिसंदेहैस्तदङ्कालंकृतित्रयम् ॥

अर्थ—स्मृति, भ्रांति और संदेह चिन्हवाले तीन अलंकार हैं ॥ विद्वद्वृन्द सेवित महाराजा भोज ने भी अलंकारों के नामों का साक्षात् अर्थ नहीं समझा, इसलिये अलंकारों के नामों को रूढ भी माना है। सो ही आज्ञा की है, निज निर्मित सरस्वतीकण्ठाभरण ग्रंथ में अर्थालंकार के लक्षण में—

अलमर्थमलंकर्तुर्यद्व्युत्पत्त्यादिवर्त्मना ।
ज्ञेया जात्यादयः प्राज्ञैस्तेर्थालंकारसंज्ञया ॥ १ ॥

अर्थ—शोभायमान अर्थ को शोभा करनेवाले के जो व्युत्पत्ति आदि मार्ग से जाति आदि संज्ञावाले प्रकार हैं, उन को विद्वानों को अर्थालंकार संज्ञा करके समझना चाहिये ॥ यहां आदि पद से रूढि मार्ग का ग्रहण है। व्युत्पत्ति रहित नाम को रूढ कहते हैं। सो ही कहा है कोपकार ने—

व्युत्पत्तिरहिताः शब्दा रूढा आखण्डलादयः ।

अर्थ—व्युत्पत्ति से रहित शब्द रूढ कहलाते हैं। जैसे आखण्डल आदि। आखंडल नाम इंद्र का है ॥ ऐसा मत कहो कि नामों में तुम भी रूढि मानोगे? क्योंकि हम तो योगरूढता मानेंगे। वहां विवक्षितार्थ में यौगिकता ही है। रूढि तो वहां अन्यत्र प्रवृत्ति न होने के लिये है ॥

॥ दोहा ॥

नाम धरे धुर पंडितन, शुध स्वरूप अनुसार ।
पग पग प्रति करिहों प्रकट, आशय यहै उदार ॥ १ ॥
हैं धोरिन के नाम ही, लक्षण मरुधर भूप ।
अलंकार को होत है, इन सों स्पष्ट स्वरूप ॥ २ ॥
कहिहों नामन के अरथ, करिवे स्पष्ट अतंत ।
सो जिन लक्षन जानियो, जग रक्षन जसवंत ॥ ३ ॥

किय खंडन सुर वानि के, आचारज सब शिष्ट ।
यातें भाषा कविन की, ओर न दीन्ही दिष्ट ॥ ४ ॥

लक्षण दो प्रकार के होते हैं एक तो स्वरूप लक्षण। दूसरा तटस्थ लक्षण। स्वरूप तो आकार और स्वभाव रूप वस्तु स्थिति है। तटस्थ शब्द का अर्थ है किनारे पर स्थित। इस से यहां यह विवक्षा है कि स्वरूप से भिन्न. "चतुर्भुज" यह विष्णु का लक्षण आकार रूप होने से स्वरूप लक्षण है। और "चक्रपाणि" यह विष्णु का लक्षण विष्णु के आकार से भिन्न होने से तटस्थ लक्षण है। "सच्चिदानन्द" सत् अर्थात् सत्य, चित् अर्थात् चेतन, और आनंदरूप यह ब्रह्म का लक्षण स्वभावरूप होने से स्वरूप लक्षण है "जगत्कर्ता" यह ब्रह्म का लक्षण स्वभाव से भिन्न होने से तटस्थ लक्षण है। जगत्कर्ता ब्रह्म का स्वरूप नहीं है किंतु कार्य है इसलिये यह तटस्थ लक्षण है। हमारे मत में वस्तु का साक्षात् ज्ञान स्वरूप लक्षण से होता है वैसा तटस्थ लक्षण से नहीं होता, इसलिये स्वरूप लक्षण मुख्य है। सो नाम तो स्वरूप लक्षण है। लक्षण अतिव्याप्ति, अव्याप्ति और असंभव दोष रहित होना चाहिये ॥

॥ दोहा ॥

अतिव्याप्त्यादिक दोष के, नाम हि लच्छन जान।
मनहर गौरी भय जनक, वहै नायिका मान ॥ १ ॥

जिस वस्तु का लक्षण करे उस से अतिरिक्त में भी व्याप्त होजावे वह लक्षण अतिव्याप्ति दोषवाला है ॥

यथा—

॥ नायिका मनोहर ॥

नायिका का मनोहर ऐसा लक्षण कहे तो यह लक्षण नायिका से अतिरिक्त नायक आदि औरों में भी व्याप्त होता है; क्योंकि नायिका मनोहर है, परंतु नायिका के सिवाय नायक आदि और भी बहुतसी वस्तुआं मनोहर हैं, उन में भी यह लक्षण चला जाता है ॥ जिस वस्तु का लक्षण करें उस के सब देशों में व्याप्त न होवे अर्थात्

हीं व्याप्त होवे और कहीं व्याप्त न होवे वह लक्षण अव्याप्ति दोष-
ला है ॥

था—

॥ नायिका गौरी ॥

नायिका का गौरी ऐसा लक्षण कहें तो नायिका कृष्णवर्णा होती है, वहां इस लक्षण की अव्याप्ति होती है। श्याम वर्णवाली भी शृंगार रस का आलंबन हो जाने से उसको भी नायिका संज्ञा ॥

था—

॥ दोहा ॥

चिलक चिकनई चटक सौं, लफति सटक लौं आय।
नार सलौंनी सांवरी, नागन लौं डस जाय ॥ १ ॥

इति विहारी सतशत्यां ॥

श्रीकृष्ण शृंगार रस के परम आलंबन विभाव हैं। उन का र्ण भी श्याम है। जिस वस्तु का लक्षण करें उस में संभवे ही नहीं ह लक्षण असंभव दोषवाला है ॥

था—

॥ नायिका भय जनक ॥

नायिका का भय जनक ऐसा लक्षण कहें तो यह लक्षण किसी नायिका में न वरतने से असंभव दोषवाला है। क्योंकि भय को उत्पन्न करनेवाली स्त्री को नायिकात्व है नहीं। नायिकात्व तो शृंगार रस को उत्पन्न करनेवाली स्त्री को ही है। नाम रूप लक्षण उक्त तीनों दोष रहित इस रीति से है कि कवि किसी वस्तु का नाम रक्खे वह तो वहां यौगिक ही होता है। नया रूढ नाम तो कवि रख ही नहीं सकता, इसलिये उस में असंभव दोष तो होता ही नहीं। और कहीं सजातीय वस्तु में नाम के अवयवार्थ की प्रवृत्ति न होवे तहां उपलक्षण से उस का संग्रह हो जाता है। उपलक्षण उपादान लक्षणा को कहते हैं।

ऐसी मति उदित उदार कौन की भई ।
देवता प्रसिद्ध सिद्ध ऋषिराज तप वृद्ध,
कह कह हारे पै न कहि काहू नें लई ॥
भावी भूत वर्तमान जगत बखानत है,
केशोदास क्योंहु न वखानी नैंक हू गई ।
पिता गावै चार मुख पूत गावै पांच मुख,
पोता गावै षट् मुख तद्यपि नई नई ॥ १ ॥

इति कविप्रियायाम् ॥

इस रीति से नामार्थ रूप लक्षण सर्व संग्राहक होने से अव्याप्ति दोष रहित है । और कहीं विजातीय वस्तु में अवयवार्थ की प्रवृत्ति होवे तहां योग और रूढि की मिश्रितता के अंगीकार से वह प्रवृत्ति रुक जाती है । शब्द तीन प्रकार के होते हैं । यौगिक, रूढ और मिश्रित ॥

क्रम से यथा—

सुधांशु

सुधा नाम अमृत का है, अंशु नाम किरणों का है, अमृत की किरणोंवाला यह चन्द्रमा का नाम यौगिक है ॥

डित्थ

डित्थ नाम काठ के बनाये हुए हाथी का है । और—

श्यामरूपो युवा विद्वान्सुन्दरः प्रियदर्शनः ।
सर्वशास्त्रार्थवेत्ता च डित्थ इत्यभिधीयते ॥ १ ॥

अर्थ—श्याम वर्ण, तरुण, विद्वान्, सुन्दर, प्रियदर्शन अर्थात् जिस को देख कर लोक प्रसन्न होवें और संपूर्ण शास्त्रों के अर्थ को जाननेवाला ऐसे पुरुष का है । कहा है चिन्तामणि कोषकार ने "डित्थः काष्ठमये गजे । विशेषलक्षणयुक्ते पुरुषे" डित्थ शब्द का कोई अवयवार्थ नहीं है । उक्त पदार्थों में इस का रूढि से संकेत है ॥

वारिज

वारिज यह कमल का नाम योगरूढ है। वारि अर्थात् जल से ज अर्थात् जन्मा हुआ। ऐसा अवयवार्थ तौ यौगिकता है और जल से सीप शंख इत्यादि भी जन्मते हैं, परंतु उन में वारिज नाम की प्रवृत्ति नहीं। वारिज नाम की प्रवृत्ति तौ कमल में ही है, इसलिये यह रूढि है। इस रीति से कमल का वारिज नाम योग और रूढि से मिश्रित है। यहां अन्यत्र प्रवृत्ति न होने में निमित्त तौ नाम रखनेवाले की इच्छा है। इस प्रकार नामार्थ रूप लक्षण की प्रवृत्ति विजातीय में न होने से अतिव्याप्ति दोष रहित है। उक्त रीति करके अतिव्याप्ति आदि दोष की निवृत्ति का सिद्धान्त नामों के लिये ही है, लक्षणों के लिये नहीं, इसीलिये लक्षणों में उक्त दोष निवारणार्थ शास्त्रकार यत्न करते आये हैं। धोरियों ने अलंकारों के नाम उदाहरणों के अनुसार रक्खे हैं, वे तौ अव्याप्त्यादि दोष रहित हैं। और भरत भगवान् इत्यादि ने भी लभ्य उदाहरणों के अनुसार उन्हीं अलंकारों के लक्षण वनाये हैं, परंतु ये तौ वहुधा अव्याप्त्यादि दोष सहित हैं। धोरियों के नाम रूप सर्वसंग्राहक लक्षणों से ही अलंकारों के साक्षात्स्वरूप स्पष्ट होते रहते फिर दूसरे तटस्थ लक्षणों का वनाना तौ भरतादिकों की भूल है ॥

।दोहा।

भोज* समय निकसी नहीं, भरतादिक की भूल।
सो निकसी जसवँत समय, भये भाग्य अनुकूल ॥ १ ॥
लहत भाग्य वश ही सुजस, यह अनादि जग कत्थ।
जंपां नृप जसवंत की, और हु ऐसी वत्त ॥ २ ॥

* महाराजा भोज परमार जाति का क्षत्री धारा नगरी का अधीश था. इस के पास कालिदास आदि वड़े वड़े विद्वान् थे. इस ने संस्कृत विद्या को वड़ी उन्नति दी है. प्रसिद्ध है कि कोई नया श्लोक वनाकर सुनाता जिस को लक्ष रुपये देता. यह प्रशंसा वचन हो तौ भी अनुमान होता है कि वहुत द्रव्य देता था. और विना संस्कृत विद्या पढ़े कोई उस की धारा नगरी में रहने नहीं पाता था ॥

शोधपत्र पृष्ट २८ पंक्ति ११ यत्न करतेआये हैं इस के आगे—

मुक्तावली में यौगिक शब्द का यह लक्षण है—

"यत्रावयवार्थ एव बुद्ध्यते तद्यौगिकम्"

अर्थ— जहा अवयवार्थ का ही बोध होता है वह यौगिक ॥ रूढ शब्द का यह लक्षण है—

"यत्रावयवशक्तिनैरपेक्ष्येण समुदायशक्तिमात्रेण बुद्ध्यते तद्रूढम् ॥"

अर्थ—जहा अवयवार्थ की अपेक्षा विना समुदाय शक्ति मात्र से बोध होता है वह रूढ॥ योगरूढ शब्द का यह ल

"यत्र तु अवयवशक्तिविषये समुदायशक्तिरप्यस्ति तद्योगरूढम् ॥"

अर्थ—जहा अवयव शक्ति में समुदाय शक्ति भी है वह योगरूढ। योगरूढ शब्द में रूढि मानने का प्रयोजन मुक्तावली में यह

रूढिज्ञानस्य केवलयौगिकार्थज्ञानप्रतिवन्धकत्वम् ॥

अर्थ—रूढि ज्ञान केवल योग जन्य अर्थ ज्ञान का प्रतिबधक है ॥ "वारिज" यहा योग जन्य अर्थ जल से शख सीप इत्यादि सबों का ज्ञान कराता है, तहा रूढि पद्म से इतर शख सीप इत्यादि के ज्ञान को रोक देती है। यौगि ही लक्षण होने में तो विवाद नहीं है ॥ रूढ शब्दों के विषय में दो मत हैं। कितनेक तो उणादिकों से सिद्ध हुए श यौगिक मानते हैं। और कितनेक उणादि सिद्ध शब्दों को रूढ मानते हैं। सो ही कहा है—

"उणादयो व्युत्पन्ना अव्युत्पन्नाश्च ॥"

वाले यदि ऐसा कहें, कि रूढ नाम का कुछ अवयवार्थ होता ही नहीं इत्त... नहीं बनसकते तो समीचीन नहीं ? क्योंकि रूढ नाम भी निरर्थक नहीं होते, समुदाय शक्ति से उन का भी अर्थ होत इक्यासी ८१ अलकार मानेंगे; उन में से रूढ नाम ३ तीन हैं; अल्प, मुद्रा और सूक्ष्म। अल्प शब्द का अर्थ है जहा अल्पता चमत्कारी होवे तहा अल्प अलकार। मुद्रा शब्द का अर्थ है मुहरछाप, सो जहा मुद्रान्याय चमत्कार तहा मुद्रा अलकार, जैसा कि दीपक न्याय से दीपक अलकार। और सूक्ष्म शब्द का अर्थ है अन्य को ज्ञात न हो इ से जतलाना, सो जहा सूक्ष्मता चमत्कारी होवे तहा सूक्ष्म अलकार। चमत्कार अर्थात् शोभाकारक, सो यह अलक लभ्य है। इन नामों से भी इन अलकारों के स्वरूप का बोध स्पष्ट होजाता है; बडे यौगिक नामों की अपेक्षा छोटे से अलकारों का ज्ञान होना तो लाघव की अतिशयता से अधिक उपयोगी है ॥

ऐसा मत कहो कि योगरूढ नामों का अर्थ तो योग शक्ति करके ही होता है। रूढि केवल इसलिये अगीका है कि योगरूढ शब्दों में योग जन्य अर्थ का किसी जगह में अधिक अर्थ होजाता है, और किसी जगह में न्यून अर्थ है, उस जगह में रूढि से केवल योग जन्य अर्थ घटालियाजाता है, अथवा बढालियाजाता है, जैसे नीरधि शब्द का अर्थ जल का अधिकरण है, परतु रूढि इसलिये अगीकार की है कि घटादिकों की व्यावृत्ति करीजाय और क्षीरसमुद्रादि में शब्द का प्रयोग होसके। घटादिकों में नीरधि की व्यावृत्ति करके समुद्र में नियमन करना यह तो योगार्थ का घटाना है, और बढाव कि नीरधि शब्द का क्षीरनीरधि ऐसा क्षीर समुद्र में प्रयोग होना, सो अलकारों के योगरूढ नाम हैं उन में अर्थ तो योग जन्य है नि उन में कितनाक लक्षण तो निकलता है, परतु सब लक्षण नहीं निकल सकता। जितनाक अश इस नाम के अ आया है वह लक्षण वाक्य में जुदा लिखे बिना काम नहीं चलसकता ? क्योंकि योगरूढ नाम से अवयवार्थ ि बोध्य अर्थ का ज्ञान होता है। यह मुक्तावली के लक्षण से स्पष्ट है। और कहा है वाचस्पत्यकोषकार ने भी—

"अवयवशक्त्या समुदायशक्त्या च अर्थबोधके पङ्कजशब्दादौ ॥"

अर्थ अवयव शक्ति से और समुदाय शक्ति से अर्थ का बोध करानेवाले पकज आदि शब्द हैं॥

"तत्र हि उभयशक्त्या पङ्कजन्मकर्तृत्वरूपावयवार्थविशिष्टपद्मत्वाविशिष्टस्य बोधः।"

अर्थ— पकज शब्द में उभय शक्ति करके पक से उत्पन्न होने रूप अवयवार्थ सहित पद्मत्व धर्म सहित पद्म का बो

"उभयार्थबोधनाच्च पङ्कजाते कुमुदादौ स्थलजाते पद्मे च न तत्पदप्रयोगप्रसङ्गः।"

अर्थ— दोनों अर्थों का बोध होने से पक से उत्पन्न हुए कुमुदादि में और स्थल से उत्पन्न हुए पद्म में पकज पद का प्रसग नहीं। और जो क्षीरनीरधि यहां योगार्थ की प्रतीति विना केवल रूढि बोध्य समुद्र अर्थ की प्रतीति होती है कारण यह है कि नीरधि के साथ क्षीर का अन्वय नहीं बनता। ऐसेही "निष्कलक शशी, कनकसेध, सुरमहट" इत्यादि ज योगरूढ नाम अनेक हैं। पाणिग्रहण नाम का योगार्थ है हाथ पकडना, सो हाथ पकडना तो विवाह, सहायदेने, खींचने आदि में र यथा —

॥ दोहा ॥

वन गहन जु विचरत सघर, पकरयौ कर रति काज ॥

इकसँग भे तुव रिपु रमनि, ग्लानि कोप भय लाज ॥ १ ॥

परतु अन्यत्र अतिव्याप्ति वारण के लिये विवाह में रूढि है। कहा है चिन्तामणिकोषकार ने "पाणिग्रहण विवाहे भार्याप्राप्तिहेतौ" पाणिग्रहण नाम के योगार्थ में विवाह यह अश नहीं आया है। पाणिग्रहण विवाह ...

॥ मरु देश के राज्य का परिवर्तन ॥

॥ छंद वैताल ॥

पंजाब* की शुभ सरित को अति नित्य निर्मल नीर
मंडोर ढिग व्है वहत हो तिंह चिन्ह अवलौं तीर ।
जनमी जु चारन कुल हिं आवड़ शक्ति लहि तिंह श्राप
नृप तिलक विक्रम के समय हठ गयो वह जु अमाप ॥ १ ॥
तब तें जु यह मंडोर मंडल होत भौ जल हीन
पद प्राप्त भौ जु मरुस्थली भे लोग दुख सौं लीन ।
अवलौं जु गढ़ मंडोर पति भे अधिक इक सौं एक
भुवि भोग अपनी अवधि लौं उठ चले वह जु अनेक ॥ २ ॥
कछु काल क्षत्रिय नाग वंशिन छत्र धारन किद्ध
नागाद्रि तिंह हित नाम यह गिरि पुहमि भौ जु प्रसिद्ध ।
परमार पुन तिंह मांझ धरनिवराह† भौ वड़ भाग
नव कोट अर्बुद आदि जिंह दश बंधु कीन्ह विभाग ॥ ३ ॥

---

* पंजाब की नदी मंडोवर के पास होकर पश्चिम समुद्र में मिलती थी। उस के किनारों किनारों पर ऊख पीलने की पत्थर की कोल्हू अर्थात् घानिया अबतक सिलसिलेवार मौजूद हैं। इस नदी का पानी हकलाता मनुष्य बोले जैसे बोलता था इसलिये इस को हाकड़ा समुद्र कहते थे। मारवाड़ की देशीभाषा में हकलाता बोलनेवाले को हाकड़ा कहते हैं ॥

† दस भाइयों ने नव कोटों का बट किया जिस विषय का यह प्राचीन छप्पय है—

॥ छप्पय ॥

मंडोवर १ सामंत हुवो अजमेर २ सिद्ध सुन,
गढ पूगळ ३ गजमल्ल हुवो लोद्रवै ४ भाण भुव ।
अल्ह पल्ह अरबद ५ भोजराजा जाळंधर ६,
जोगराज धर धाट ७ हुवो हासू पारकर ८ ।
नव कोट किराडू ९ सजुगत थिर पँवार हर थप्पिया,
धरणीवराह धर भाइयां कोट बाट जू जू किया ॥ १ ॥

जू जू अर्थात् जुदा जुदा ॥ ये विभाग प्रतिलोमता से किये गये हैं। सब से छोटा सामंत नामक था, जिस के मुख्य स्थान मंडोवर रक्खा। और सब से वडा धरणीवराह था, जिसने ये विभाग किये हैं, उस ने अप ने हिस्से में किराडू रक्खा। अल्ह और पल्ह इन दो के हिस्से में आबू आया ॥

प्राचीन ग्रंथ और उन ग्रंथकर्ताओं के नाम.

न्यायशास्त्र के प्रसिद्धाचार्य गौतम और कणाद हैं। व्याकरण शास्त्र के प्रसिद्धाचार्य पाणिनि आदि हैं। ऐसे ही साहित्य शास्त्र के प्रसिद्धाचार्य "भरत मुनि" हैं, इसलिये इन को भगवान् कहते हैं। बहुत ग्रंथकार लिखते हैं "इति भगवतो भरतस्य"। ये महान् प्रतिष्ठित मुनि हैं। इनको आत्रेय आदि मुनि भी भगवान् कहते थे। लिखा है "नाट्यशास्त्र" के प्रारंभ में—

समाप्तजप्यं व्रतिनं स्वसुतैः परिवारितम्।
अनध्याये कदाचित्तं भरतं नाट्यकोविदम्॥ १॥
मुनयः पर्युपास्यैनमात्रेयप्रमुखाः पुरा।
पप्रच्छुस्ते महात्मानो नियतेन्द्रियबुद्धयः॥ २॥
योयं भगवता सम्यक्कथितो वेदसंमितः।
नाट्यवेदः कथं चायमुत्पन्नः कस्य वा कृते॥ ३॥

अर्थ—किसी समय अनध्याय में जप से पहुंच, अपने पुत्रों से घेरे हुए, नाट्यनिपुण, व्रतधारी भरत मुनि बैठे थे, उन के समीप जाय, सत्कार कर, जितेंद्रिय और बुद्धिमान् महात्मा आत्रेय आदि मुनियों ने प्रश्न किया, कि जो यह वेदमान्य नाट्यवेद, हे भगवान्! आप ने भलीभांति कहा है यह कैसे और किस प्रयोजन के लिये उत्पन्न हुआ है? यहां नाट्य कोविद विशेषण होने से ऐसा न जानना चाहिये कि भरत ऋषि केवल नाट्य में ही कुशल थे; क्योंकि नाट्य वृत्तांताभिलाषी ऋषियों के प्रश्न में ऐसा कहा गया है, सो तो वक्ष्यमाण उल्लेख अलंकार का विषय है॥ काव्यप्रकाशादि साहित्य के सब ग्रंथ भरत मतानुसारी हैं। भरत की लक्षण करने की शैली का इन समस्तों ने अनुसरण किया है। और बहुतसी जगह भरत का प्रमाण भी दिया है। इन प्राचीनों के खंडन मंडन का अनुधावन भरत पर्यंत समझना चाहिये। भरत का बनाया हुआ "नाट्यशास्त्र" नामक ग्रंथ मिलता है।

काव्यप्रकाशादि प्राचीन ग्रंथों में कहीं उस नाट्यशास्त्र का सूत्र और कहीं कारिका लिखी है, परंतु भरत का वनाया हुआ केवल काव्य गत का ग्रंथ अवतक मिला नहीं। जयपुर निवासी "सीताराम" नामक पंडित ने विक्रमी संवत अठारह सौ पच्यासी १८८५ में काव्यप्रकाश गत कारिका की लक्षणचंद्रिका नामक व्याख्या की है, उस के आरंभ में—

भारतीः कारिकाः सर्वा विवृणोमि यथामति ॥

अर्थ—मैं मेरी वुद्धि के अनुसार भरत की समस्त कारिकाओं की व्याख्या करता हूं॥ इस प्रकार काव्यप्रकाश गत कारिकाओं को भरत की कारिका मान करके लिखा है, सो भरत साहित्य का प्रसिद्धाचार्य होने से काव्यप्रकाश गत कारिका भरत मत के अनुसार तो अवश्य हैं, परंतु भरत की वनायी हुई नहीं हैं। क्योंकि रस प्रकरण में काव्यप्रकाशकार ने—

व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसःस्मृतः ॥

अर्थ—उन विभाव आदि करके व्यंजित हुआ जो स्थायीभाव वह रस स्मरण किया गया॥ इस कारिका को लिख कर इस के प्रमाण में लिखा है—

"उक्तं हि भरतेन। विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" इति ॥

अर्थ—कहा है भरत ने, विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की उत्पत्ति होती है॥ यदि काव्यप्रकाश गत कारिकायें भरत की वनाईं होतीं तो काव्यप्रकाशकार भरत का प्रमाण नहीं देता. काव्यप्रकाश गत कारिकावली के रस प्रकरण में कईएक कारिकायें नाट्यशास्त्र की हैं, सो यह रीति है कि ग्रंथकार कहीं दूसरे ग्रंथ की कारिका भी लिख देते हैं भरत मुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र के सोलहवें १६ अध्याय में कहा है—

उपमा दीपकं चैव रूपकं यमकं तथा ॥
काव्यस्यैते ह्यलंकाराश्चत्वारः परिकीर्तिताः ॥ १ ॥

अर्थ—उपमा, दीपक, रूपक तथा यमक ये काव्य के चार ही अलंकार कहे हैं ॥ और इन चारों अलंकारों के ही लक्षण उदाहरण दिखाये हैं। इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि इन चार अलंकारों से इतर अलंकार नहीं हैं, किंतु यह तात्पर्य है कि अन्य सब अलंकार इन चारों अलंकारों में अंतर्भूत हैं। अन्य अर्थालंकारों का तो उपमा दीपक और रूपक में अंतर्भाव है ॥ और अन्य शब्दालंकारों का यमक में अंतर्भाव है ॥ जैसाकि रुद्रट ने स्वभावोक्ति आदि चार ही अलंकार मान कर अन्य अलंकारों का उन में अंतर्भाव किया है—

अर्थस्यालंकारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः ॥
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः ॥ १ ॥

अर्थ—अर्थ के अलंकार चार हैं। वास्तव अर्थात् स्वभावोक्ति, उपमा, अतिशयोक्ति और श्लेष। दूसरे तो सब अलंकार इन्हीं चारों के विशेष हैं ॥ उपमा के प्रकार कह कर कहा है भरत भगवान् ने—

उपमाया बुधैरेते भेदा ज्ञेयाः समासतः ॥
ये शेषा लक्षणे नोक्तास्ते ग्राह्याः काव्यलोकतः ॥ १ ॥

अर्थ—विद्वानों को उपमा के ये भेद संक्षेप से जानने चाहिये। और जो बाकी के भेद लक्षण वाक्य में नहीं कहे गये वे काव्यलोक से ग्रहण कर लेने चाहिये ॥ "काव्यलोकतः" अर्थात् काव्य से और लोक से। निष्कर्ष यह है कि कवि कृत वर्णन से और लोक व्यवहार से। अलंकारादिक कवि रचनारूप उदाहरणों से और लोक व्यवहार रूप उदाहरणों से ही लखे गये हैं। और ये अनंत हैं। अथवा साहित्य के प्रसिद्धाचार्य भरत भगवान् ने "काव्यलोक" नामक कोई श्रव्य काव्य का भी ग्रंथ बनाया हो तो "काव्यलोकतः" इस का यह अर्थ है कि काव्यलोक ग्रंथ से शेष भेद ग्रहण कर लेने चाहिये। इस पक्ष में काव्यलोक नाम की व्युत्पत्ति यह है "काव्यं लोक्यते यत्र स काव्यलोकः" काव्य जिस में देखा जाता है ॥ काव्य शब्द, अर्थ, गुण,

अलंकार और रसादि रूप होता है। चिंतामणि कोपकार ने भरत के नाम से लीला हाव का लक्षण लिखा है, सो वक्ष्यमाण द्वितीयाकृति में भावप्रकरण में लिखा जायगा; वह लक्षण भरत प्रणीत नाट्य शास्त्र का नहीं है, नाट्य शास्त्र में दूसरा लक्षण है। इस से यह सिद्ध होता है कि वह लक्षण भरत प्रणीत काव्यलोक ग्रंथ का है॥ संस्कृत के प्राचीन पंडित अपने ग्रंथों में शक संवत् नहीं लिखते, इसलिये यह निश्चय नहीं होता कि भरत मुनि कब हुए हैं; परंतु वेदव्यास भगवान् ने अग्निपुराण के रीति निरूपण नामक तीन सौ चालीसवें ३४० अध्याय में कहा है—

भरतेन प्रणीतत्वाद्भारती रीतिरुच्यते ॥

अर्थ—भरत ने बनाई है इसलिये भारती रीति कहलाती है॥ इस से यह सिद्ध होता है कि भरत मुनि व्यास भगवान् से प्रथम हुए हैं॥ १॥

"वेदव्यास भगवान्" ने "अग्निपुराण" के तीन सौ चवालीसवें ३४४ अध्याय में शब्दालंकारों का और तीन सौ पैंतालिसवें ३४५ अध्याय में अर्थालंकारों का और तीन सौ छयालीसवें ३४६ अध्याय में उभयालंकारों का निरूपण किया है। कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास भगवान् पांडव राजा युधिष्ठिर के समय में थे, यह तो प्रसिद्ध है। और राजा युधिष्ठिर को हुए अनुमान से पांच हज़ार वर्ष हुए हैं॥ २॥

महाराजा "भोज" का निज निर्मित "सरस्वतीकंठाभरण" नामक ग्रंथ है। महाराजा भोज ने धनपतिभट्ट को वीराणक नाम ग्राम दिया। जिस का दानपत्र मुंबई में एज्यूकेशन सोसाईटी में छपा है। जिस में विक्रमी संवत् एक हज़ार अठत्तर १०७८ लिखा है, सो महाराजा भोज का समय यह था॥ ३॥

"ध्वन्यालोक" ग्रंथ का कर्त्ता "राजानक श्रीमदानन्दवर्द्धनाचार्य" कश्मीर के महाराजा अवन्तिवर्मा के समय में था। और अवन्तिवर्मा विक्रमी संवत् नव सौ सत्तावन ९५७ में था। यह राजतरङ्गिणी ग्रंथ से सिद्ध है। सो ध्वन्यालोक ग्रंथ महाराजा भोज से पहिले बना है॥ ४॥

"काव्यालंकार सूत्र" ग्रंथ का कर्ता "वामन" ध्वन्यालोक के पहिले है। क्योंकि ध्वन्यालोक के प्रथमोद्योत में "वामनाभिप्रायेणायमाक्षेपः" ऐसा लिखा है। और यह वामन विक्रमी आठवें शतक से उरली तर्फ़ हुआ है, क्योंकि विक्रमी आठवें शतक में कनोज का राजा यशोवर्मा था। जिस के पंडित भवभूति के बनाये हुए उत्तररामचरित के श्लोक का वामन ने अपने ग्रंथ में उदाहरण दिया है। यह वामन काश्मीर के राजा जयापीड़ का मंत्री था ॥ ५ ॥

"काव्यालंकार" ग्रंथ का कर्ता "रुद्रट" भी महाराजा भोज से पहिले हुआ है। क्योंकि इस ग्रंथ का उदाहरण महाराजा भोज ने अपने ग्रंथ सरस्वतीकंठाभरण में दिया है ॥ ६ ॥

"आचार्य दंडी" कृत "काव्यादर्श" ग्रंथ है। दंडी महाराजा भोज के समकालीन है। यह भोजप्रबंध से सिद्ध है ॥ ७ ॥

"वाग्भट" कृत "वाग्भटालंकार" ग्रंथ है ॥ ८ ॥

"जयदेव" कृत "चंद्रालोक" ग्रंथ है ॥ ९ ॥

"भानुदत्त" कृत "अलंकारतिलक" ग्रंथ है ॥ १० ॥

इन तीन ग्रंथों के समय की खबर नहीं ॥

महाराजा भोज के पीछे "मम्मट" कृत "काव्यप्रकाश" है; क्योंकि काव्यप्रकाश में महाराजा भोज के दान वर्णन का उदाहरण उदात्त अलंकार के प्रकरण में दिया है ॥

यथा—

मुक्ताः केलिविसूत्रहारगलिताः संमार्जनीभिर्हृताः
प्रातः प्राङ्गणसीम्नि मन्थरचलद्बालाङ्घ्रिलाक्षारुणाः।
दूराद्दाडिमबीजशङ्कितधियः कर्षन्ति केलीशुका
यद्विद्वद्भवनेषु भोजनृपतेस्तत्त्यागलीलायितम् ॥ १ ॥

काव्यप्रकाश बहुत प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित ग्रंथ है। इस की इक्कीस टीकायें तो मिलती हैं। और लोक ऐसे कहते हैं कि काव्यप्रकाश पर बावन टीकायें हैं। काव्यप्रकाश ग्रंथ तो मम्मट का बनाया हुआ है; परंतु कारिकायें किसी दूसरे ग्रंथ की हैं। क्योंकि काव्यप्रकाश के आरंभ

में मम्मट ने ही "ग्रंथ के आरंभ में विघ्न विघात के लिये समुचित इष्ट देवता का ग्रंथकार परामर्श अर्थात् स्मरण करता है" ऐसा कह कर यह कारिका लिखी है—

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥ १ ॥

अर्थ—दैव कृत नियम करके रहित, एक आनंदमय ही, अन्य के परतंत्र नहीं, नव रसों करके सुंदर, ऐसी रचना को करती हुई कवि की वाणी जयति अर्थात् सब से उत्कृष्ट वरतती है। कवि की वाणी की उत्कृष्टता तौ यह है कि विधि सृष्टि दैव कृत नियम करके सहित है, सुख दुःख दोनोंमय है, परमाणु आदि उपादान कारण और कर्म आदि सहकारी कारण इन के परतंत्र है, षट् ही रसवाली है ॥ जो ग्रंथकार अपनी बनाई कारिका की व्याख्या करता है वह उक्त रीति से नहीं लिखता, ऐसा लिखना तौ दूसरे ग्रंथ की कारिका के लिये ही हो सकता है। दूसरे इन कारिकाओं के कर्ता ने केवल लक्षण कहे हैं उदाहरण नहीं दिये, इसलिये कारिकाओं में क्रम से निरंतर लक्षण ही लक्षण हैं ॥

उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे ॥
अनन्वयो विपर्यास उपमेयोपमा तयोः ॥ १ ॥

अर्थ—एक वाक्य में एक ही उपमान और उपमेय होवे वहां अनन्वय ॥ और तयोः अर्थात् उपमान और उपमेय के विपरीत भाव में उपमेयोपमा ॥ मम्मट ने इन कारिकाओं की व्याख्या की है और उदाहरण दिये हैं, इसलिये मम्मट को कारिकायें खण्डित लिखनी पड़ी हैं ॥

उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे।
अनन्वयः ॥

इतना लिख कर अनन्वय का उदाहरण दिया है। उस के अनंतर विपर्यासोपमा के लिये—

विपर्यास उपमेयोपमा तयोः ॥

यह लिख कर उदाहरण दिया है। ऐसा बहुत स्थलों में है। काव्यप्रकाश

में लक्षण कारिकायें मम्मट की बनाई हुई नहीं हैं, दूसरे ग्रंथ की हैं, इसलिये हम बहुधा तो "काव्यप्रकाश गत कारिकाकार का यह लक्षण है" ऐसा लिखेंगे। कहीं लाघव के लिये "काव्यप्रकाश में यह लक्षण है" इतना ही लिखेंगे ॥ ११ ॥

"राजानक रुय्यक" कृत "अलंकारसर्वस्व" ग्रंथ है ॥ १२ ॥

"शोभाकर" कृत "अलंकाररत्नाकर" ग्रंथ है ॥ १३ ॥

"राजानक जयरथ" कृत "अलंकारसर्वस्व की टीका विमर्शिनी" है ॥ यह जयरथ काश्मीर के राजा राजराज का मंत्री था ॥ १४ ॥

"अप्पय दीक्षित" कृत "कुवलयानंद" नामक ग्रंथ है। यह ग्रंथ अति प्रसिद्ध है। इस ग्रंथ में लक्षण उदाहरण की कारिकायें चन्द्रालोक ग्रंथ की हैं। कहा है कुवलयानन्दकार ने ही—

येषां चन्द्रालोके दृश्यन्ते लक्ष्यलक्षणश्लोकाः।
प्रायस्त एव तेषामितरेषां त्वभिनवा विरच्यन्ते॥ १ ॥

अर्थ—जिन के लक्ष्य अर्थात् उदाहरण और लक्षणों के श्लोक चन्द्रालोक में दिखाई देते हैं बहुधा तो उन के वे ही, और दूसरों के तो श्लोक नये रचे जाते हैं ॥ १५ ॥

और "अप्पय दीक्षित का" ही बनाया हुआ "चित्रमीमांसा" नामक ग्रंथ है। वह संपूर्ण नहीं हुआ ॥ १६ ॥

"विश्वनाथ" कृत "साहित्यदर्पण" ग्रंथ है ॥ १७ ॥

"गोविंद ठक्कुर" कृत "काव्यप्रदीप" ग्रंथ है ॥ १८ ॥

"हेमाचार्य" कृत "अलंकारचूडामणि" नाम ग्रंथ है ॥ १९ ॥

"विद्यानाथ" कृत "प्रतापरुद्रीय" ग्रंथ है। प्रतारुद्र तैलंग देश में हनुमत्कोंडा नामक शहर का छोटासा राजा था। उसके नाम से विद्यानाथ पंडित ने यह ग्रंथ बनाया है। तैलंग देश की भाषा में पर्वत को कोंडा कहते हैं। हनुमत्कोंडा अर्थात् हनुमान् का पर्वत ॥ २० ॥

"विश्वेश्वर" कृत "अलंकारकौस्तुभ" ग्रंथ है ॥ २१ ॥

"यशस्क" कृत "अलंकारोदाहरण" ग्रंथ है ॥ २२ ॥

"विश्वनाथ देव" कृत "साहित्यसुधासिंधु" ग्रंथ है ॥ २३ ॥

"केशव मिश्र" कृत "अलंकारशेखर" ग्रंथ है ॥ २४ ॥

"जगन्नाथ" जिस का उपनाम था त्रिशूली, उसका वनाया हुआ "रसगंगाधर" ग्रंथ है ॥ २५ ॥

ये सब ग्रंथ काव्यप्रकाश से पीछे वने हैं। यह जगन्नाथ त्रिशूली तैलंग देश का था। और दिल्ली के वादशाह शाहजहां का पंडित था। बादशाह ने इस को महा कविराज और महापात्र पदवी दी थी ॥ बादशाह ने कईवार इस के वरावर तोल कर सोना दिया था। कईवार अमूल्य जवाहिर से इस का मुख भर दिया था। यह जगन्नाथ अठारहवें विक्रमी शतक में था ॥

ऊपर लिखे हुए पचीस ग्रंथों का विचार करके हम ने यह ग्रंथ वनाया है। भाषा में तौ भरत मतानुसार चन्द्रालोक ग्रंथ की छाया से "भाषाभूषण" नाम साहित्य का ग्रंथ प्रथम हीं प्रथम मारवाड़ के वड़े महाराजा श्री "जसवंतसिंहजी" ने वनाया है। इन महाराजा का जन्म विक्रमी संवत् सत्रह सौ तैंयासी १७८३ माघ कृष्ण चतुर्थी का है ॥

विरुद्ध मतवालों ने संस्कृत के वहुतसे ग्रंथों को नष्ट कर दिया, इसलिये नाट्यशास्त्र और अग्निपुराण के सिवाय अत्यंत प्राचीन कोई ग्रंथ नहीं मिलता। विद्या की सहायता तौ यूरोपियन महाशयों ने की है ॥

॥ दोहा ॥

जीर्ण ग्रंथ उद्धार किय, अरु हित करत अपार।
धन्यवाद यूरोपियन, यातें वारहिवार ॥ १ ॥

कितने ही अलंकार कितने ही ग्रंथकारों ने नहीं कहे हैं। जिस के कारण तीन हो सकते हैं। प्रथम तौ वे अलंकार उन को मिले नहीं। दूसरे मिले भी हों तौ उनको रम्य समझा नहीं। तीसरे किसी अलंकार में अंतर्भाव समझ लिया है। जिस ग्रंथकार से नया अलंकार लखा गया है उस ने कह दिया है, कि यह मुझ से लखा गया है। जैसे विकल्प विधान तौ अनादि है, परंतु विकल्प में अलंकारता सर्वस्वकार ने ही

लखी है, इसलिये उस ने अपने ग्रंथ में लिख दिया है कि पूर्वों करके विवेक नहीं किया गया वह मैं ने दिखाया है ॥

साहित्य शास्त्र का प्रयोजन.

यह साहित्य शास्त्र अनेक प्रयोजनवाला होने से अत्यंत आदरणीय है। कहा है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते
व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ॥
सद्यः परनिर्वृतये
कान्तासंमिततयोपदेशयुजे ॥ १ ॥

॥ चौपाई ॥

जस धन पुन परमानँददाता,
अशिव हरत व्यवहार बताता।
कांता संमित दें उपदेश हि,
काव्य करत शुभ कार्य अशेषहि ॥ १ ॥

उपदेश तीन प्रकार का होता है। प्रभु संमित, मित्र संमित और कांता संमित; अर्थात् राजा के जैसा, स्नेही के जैसा और सुंदरी के जैसा। जगत् की अनित्यता के विषय में वेद का यह वचन है—

यो वै भूमा तदमृतम्।
अथ यदल्पं तन्मर्त्यम् ॥

अर्थ—जो भूमा अर्थात् सर्व व्यापी है, वह अमृत अर्थात् नित्य है। और जो अल्प है अर्थात् जो सर्व व्यापी नहीं है, तन्मर्त्य अर्थात् वह नाशवाला है। यह उपदेश तो राजा की आज्ञा जैसा है। क्योंकि हुकमन कहना है। महा भारत का यह वचन है—

अहन्यहनि भूतानि प्रविशन्ति यमालयम्।
शेषाः स्थिरत्वमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् ॥ १ ॥

॥ दोहा ॥

दिन दिन प्रति प्राणी सकल, जम के आलय जात ।
थिरता चाहत पाछले, यह बढ़ कोद्भुत वात ॥ १ ॥

यह उपदेश मित्र के जैसा है; क्योंकि समझा करके कहा है। और साहित्य का यह वचन है—

॥ मनहर छंद ॥

कोऊ कोर रीती नां करोर नछत्रावली सों,
च्यारों ओर सोर थो चकोर छरीगीर को ।
आपने प्रताप हर्यो जग को अमाप तम,
दूर कर्यो ताप तिन सब के शरीर को ॥
वरख्यो सुधा ही हरख्यो हो देख पाहन हू,
करख्यो न खोले कोस वृंद भौंर भीर को ।
होत प्रात ताही रात नाथ कों मुरार भनें,
साथ विन जात देख्यो नीर निधि तीर को ॥ १ ॥

यह उपदेश सुंदरी के जैसा है, क्योंकि मनोहर है। ऐसे उपदेश को मन अत्यंत मानता है। उपदेश का प्रयोजन मनाना है॥

॥ दोहा ॥

करत बुद्धि कों तीव्र अति, विमल जु करत विचार* ।
या हित सब ही शास्त्र को, है साहित हितकार ॥ १ ॥

वाणी विना संसार का व्यवहार चल नहीं सकता। सो ही कहा है आचार्य दंडी ने—

वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते ॥

अर्थ—वाणी की कृपा से ही लोक व्यवहार प्रवर्तमान होता है अर्थात् चलता है ॥ फिर कहा है आचार्य दंडी ने—

इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायते भुवनत्रयम् ।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ॥ १ ॥

---

* विचार की विमलता कर्तव्याकर्तव्य विषय का स्पष्ट होना है ॥

अर्थ—जो शब्द रूप ज्योति संसार के आरंभ से लेकर महाप्रलय पर्यंत प्रकाशमान न होती तौ संपूर्ण तीन ही लोकों में घोर अंधकार हो जाता ॥ और वह वाणी अलंकार विना रमणीय नहीं होती ॥ कहा है अग्निपुराण में अर्थालंकार के आरंभ में वेदव्यास भगवान् ने—

अलंकरणमर्थानामर्थालंकार इष्यते।
तं विना शब्दसौन्दर्यमपि नास्ति मनोहरम् ॥ १ ॥

अर्थ—अर्थों का जो शोभा करनेवाला है वह अर्थालंकार इष्ट है। उस के विना शब्द की सुंदरता भी मनोहर नहीं होती ॥

अर्थालंकाररहिता विधवेव सरस्वती ॥

अर्थ—अर्थालंकार विना सरस्वती अर्थात् वाणी विधवा की नाईं है ॥ इस व्यास वचन से वाणी मात्र को अलंकारों की आवश्यकता होने से वेद को भी अलंकारों की आवश्यकता सिद्ध है। और वेद वचन में भी अलंकारों का ग्रहण है। और वेद वाणी में जहां जहां अलंकारों का ग्रहण है, तहां तहां रमणीयता है ॥

यथा—

अस्माकमुत्तमं कृधि श्रवो देवेषु सूर्य्य ।
वर्षिष्ठं द्यामिवोपरि ॥ १५-२६

इस का भावार्थ यह है—हे मनुष्यो! जैसे आकाश में सूर्य बड़ा है, वैसे ही विद्या और विनय की उन्नति से उत्तम ऐश्वर्य को उत्पन्न करो ॥ यहां उपमा है ॥

॥ संकेत ॥

जहां हम संस्कृत ग्रंथ कर्ताओं के लिये ऐसा लिखें कि यह उदाहरण अमुक का है, वहां उस के संस्कृत उदाहरण का अनुवाद जानना चाहिये। और जहां हम ऐसा लिखें कि अमुक का ऐसा उदाहरण है, वहां उस के संस्कृत उदाहरण के सदृश समझना चाहिये ॥ और हम दूसरों के वनाये हुए भाषा के उदाहरण आदि लिखेंगे तहां उन के वनानेवालों के नाम

अथवा उन के ग्रंथों के नाम लिख देंगे। और किसी काव्य के वनानेवाले का निश्चय न होगा तहां "कस्यचित्कवेः" ऐसा लिख देंगे ॥

॥ छंदादि विचार ॥

छंदों का संचा जिव्हा है। कहा है किसी छंद वेत्ता ने---"जिव्हा जाणादि छंदो" जिव्हा छंद को जानती है। और छंदों की तुला श्रवण है ॥ कहा है केशव कवि ने कविप्रिया ग्रंथ में----

॥ दोहा ॥

तोलत तुल्य रहै न ज्यों, कनक तुला तिल आध ॥
त्यों ही छंदो भंग कों, सह न सकत श्रुति साध ॥ १ ॥

प्रथम जिव्हा के संचे से ही छंद वने हैं। फिर उन छंदों के अनुसार मात्रा वर्ण और गणों का विचार करके छंदों के लक्षण वनाये हैं। न कि पहिले लक्षण वना कर पीछे छंद वनाये गये हों, यह अनुभव सिद्ध है। शब्दों के अनुसार साधनिका वनी है। न कि साधनिका के अनुसार शब्द। वाणीभूषण ग्रंथ में दोहा छंद का यह लक्षण है—

षट्कलतुरगौ त्रिकलमपि विषमपदे विनिधेहि ।
समपादान्ते चैककलमिति दोहामवधेहि ॥ १ ॥

अर्थ—विषम पद में छः मात्रा, और तुरग अर्थात् चार, और तीन भी रक्खो। निष्कर्ष यह है, कि पहिले और तीसरे चरण में तेरह मात्रा, सम अर्थात् दूसरे और चौथे चरण के अंत में एक मात्रा रक्खो। निष्कर्ष यह है, कि दूसरे और चौथे चरण में छः चार और एक अर्थात् ग्यारह मात्रा रक्खो। "इति दोहामवधेहि" अर्थात् इस प्रकार दोहा छंद जानो ॥ दोहा नाम की व्युत्पत्ति यह है "दोग्धि चित्तमिति दोहा" चित्त को दोहता है अर्थात् द्रवीभूत करता है, इसलिये इस का नाम दोहा छंद है। यहां तुरग शब्द चार मात्रा में संकेतित है। कहा है वाणीभूषणकार ने ही—

विविधः प्रहरणनामा पञ्चकलः पिङ्गलेनोक्तः ।
गजरथतुरगपदातिसंज्ञकः स्याच्चतुर्मात्रः ॥ १ ॥

अर्थ—पिंगल ने पांच मात्रा में नाना प्रकार के शस्त्रों के नाम

का संकेत कहा है। और चार मात्रा में गज, रथ, तुरग और पदाति इन शब्दों का संकेत कहा है॥ महाकवि मिश्रण चारण "सूर्यमल्ल' कृत "वंशभास्कर" ग्रंथ की चतुर्थ राशि के नवम मयूख में अजमेर के चाहुवांन राजा "वीसलदे" के वर्णन में यह दोहा है—

॥ दोहा ॥

ललना पुर न मिलन लगी, देशमांहिंतव दूत।
भेज जुवति ऐंचत भयो, अनाहूत आहूत॥ १॥

दोहा छंद में प्रथम पद में तेरह, दूसरे में ग्यारह, तीसरे में तेरह और चौथे में ग्यारह मात्रा होती हैं। सो यहां मात्रा तो बराबर हैं; परंतु पुर शब्द के और मिलन शब्द के बीच में निषेधार्थक नकार है, उस का इतर वर्णों के समान उच्चारण करें तो जिव्हा के संचे में छंद नहीं बैठता और श्रवणों को असहन होता है, इसलिये इस नकार का उच्चारण इतर वर्णों से विलक्षण शिथिलता से किया जाता है। छंदरत्नावली नामक भाषा ग्रंथ में मनहर छंद का यह लक्षण है—

मनहर

जा के पद माहिं हौंहिं, अक्षर जो एकतीस,
दिग्घ लघु नेम नांहिं, अंत्य गुरु आनिये।
सौला अरु पन्द्रा पर विरति विचार जहां,
छंद छंद मांहिं मनहर सो वखांनिये॥

मनहर

मांगन गयो हो भाट भूपति भदावर पै,
आयो घने घोरे लैं उठ्यो पुकार पोरिया।
भिच्छुक की भामिनी सदन में वदन खोल,
झांखत झरोखे झीनो पट दे पिछोरिया॥
इत गुरु जन लाज उत न गडत द्यौस,
प्रानपति मिलवे की लागी चित डोरिया।

"नाक" शब्द का "नांक" और "निःशंक" शब्द का "निसांक" ऐसा उच्चारण किया है। सूरदास और तुलसीदास ने भी शब्द का व्यत्यास किया है। हमारे इस ग्रंथ में तो थोड़े ही छंद हैं। सो गुरु का लघु और लघु का गुरु उच्चारण किये विना और शब्द स्वरूप में व्यत्यास किये विना भी निर्वाह करना कुछ अशक्य नहीं। परंतु कहीं गुरु का लघु और लघु का गुरु उच्चारण करने से और शब्द का व्यत्यास करने से भाषा में दोष नहीं, यह सूचन करने के लिये उक्त धोरी के मत का अनुसरण किया है॥ प्राकृत में तालव्य शकार को और मूर्धन्य षकार को दंत्य सकार होता है, इस के लिये यह सूत्र है "रशषाणां सः" रकार, शकार और षकार इन को सकार हो जाता है। संस्कृत शब्द है "शिरः" जिस का प्राकृत में "सीस" शब्द होता है। यहां तालव्य शकार को और रकार को दंत्य सकार हुआ है। संस्कृत शब्द है "आमिष" जिस का प्राकृत में "आमिस" शब्द होता है। यहां मूर्धन्य षकार को दंत्य सकार हुआ है। इस के अनुसार भाषा में बहुधा तालव्य शकार के और मूर्धन्य षकार के स्थान में दंत्य सकार का उच्चारण किया जाता है॥

इति श्रीमन्मरुमंडल मुकुटमणि राजराजेश्वर जी, सी, एस्, आई, महाराजाधिराज जसवंतसिंह आज्ञानुसार कविराज मुरारिदान विरचिते जसवंतजसोभूषण ग्रंथे भूमिका निरूपणं नाम प्रथमाकृतिः समाप्ता॥ १॥

ऐसा इतिश्री में लिखा है । और इन के कर्ता कवि हैं ॥ प्राचीनों ने कहा भी है—

जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभवद्ध्वनिः ।
कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्विति दण्डिनि ॥ १ ॥

अर्थ—जगत् में वाल्मीकि के जन्मने पर "कविः" ऐसा एक वचनांत शब्द हुआ । फिर वेदव्यास के जन्मने पर "कवी" ऐसा द्विवचनांत शब्द हुआ, और दंडी के जन्मने पर "कवयः" ऐसा बहु वचनांत शब्द हुआ ॥

मनुष्य छायानुसार काव्य का निरूपण करते हुए कितनेक प्राचीन तो शब्द को शरीर और अर्थ को आत्मा मानते हैं । सो ही कहा है सहृदय धुरंधर ध्वनिकार ने—

अर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मा यो व्यवस्थितः ।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥ १ ॥

अर्थ—सहृदयों से सराहा हुआ अर्थ काव्य की आत्मा करके स्थापन किया गया है । उस अर्थ के वाच्य और प्रतीयमान नाम से दो भेद कहे गये हैं । अभिधेयार्थ, और वाच्यप्राय होने से लक्ष्यार्थ, ये दोनों वाच्य हैं । और प्रतीयमान व्यंग्यार्थ है । कितनेक प्राचीन शब्द अर्थ इन दोनों को तो काव्य का शरीर, और व्यंग्य को आत्मा मानते हैं । सो ही कहा है प्रतापरुद्रीय ग्रंथ में विद्यानाथ ने—

शब्दार्थौ मूर्त्तिराख्यातौ जीवितं व्यङ्ग्यवैभवम् ।
हारादिवदलंकारास्तत्र स्युरुपमादयः ॥ १ ॥

अर्थ—शब्द और अर्थ को काव्य की मूर्त्ति कहते हैं । व्यंग्य का वैभव जीव है । उपमादि हारादि की नांई वहां अलंकार होवेंगे ॥ हमारे मत में विद्यानाथ का मत समीचीन है । निरर्थक शब्द काव्य नहीं होता, इसलिये शब्द और अर्थ दोनों मिलकर काव्य है ॥ ऐसा मत कहो कि तुम "रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" ऐसा काव्य का लक्षण मानोगे, फिर यहां शब्द अर्थ मिल करके काव्य होता है यह कैसे कहते हो? क्योंकि वहां केवल शब्द को काव्यता विवक्षित नहीं

है; किंतु रमणीय अर्थ को कहता हुआ शब्द काव्य है, यह विवत्ता है ॥ शब्द और वाच्यार्थ दोनों शरीरवत् स्थूल होने से शरीर है। लक्ष्यार्थ भी वाच्यार्थ तुल्य ही है। शरीर भी अस्थि मांसादि मिल कर होता है; वैसे ही शब्द और अर्थ मिल करके काव्य का शरीर है। वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ सूक्ष्म होने से जीव प्राय है ॥ ऐसा मत कहो कि व्यंग्य को जीव मानोगे तव विना व्यंग्य का काव्य निर्जीव होने से मृतकप्राय हो करके सर्वथा त्याग योग्य हो जावेगा? क्योंकि लोक में पाषाणादिमय निर्जीव मूर्ति भी रमणीयता से ग्राह्य है। कितनीक वातें जो सजीव मूर्ति में होती हैं वे निर्जीव मूर्ति में नहीं होतीं; वैसे ही कितनीक वातें जो निर्जीव मूर्ति में होती हैं वे सजीव मूर्ति में नहीं होतीं यह प्रत्यक्ष है ॥ और वैसे ही उक्त मूर्त्ति साहित्य शास्त्र में भी रमणीयता से ग्राह्य है। कहा है असम अलंकार के उदाहरण में प्राचीनों ने—

न तन्मुखस्य प्रतिमा चराचरे ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

नां कोई देवळ पूतळी, नां कोई रावळ रज्ज।
हेरी हेरी लाधसी, शहर उदैपुर मज्झ ॥ १ ॥

इति कस्यचित्कवेः ॥

इसी अभिप्राय से विद्यानाथ ने काव्य के शरीर को उक्त श्लोक में मूर्ति नाम से कहा है। व्यंग्य विना भी काव्यत्व तो रमणीयता मात्र से सिद्ध हो जाता है ॥

यथाः—

॥ मनहर ॥

रैंन की उनींदी राधे सोवत सवेरो भयें,
झीनो पट तांन रही पायन लौं मुख तैं।
सीस तैं उलट वैनी भाल व्है के उर व्है के,

जानु व्है अंगूठन सौं लागी सूधे रुख तैं ॥
सुरत समर रीत जोबन की जेब जीत,
सिरोमन महा अलसाय रही सुखतैं।
हर कों हराय मानों मैन मधुकर हू की,
धरी है उतार जिह चंपे के धनुख तैं ॥ १ ॥

इति शिरोमणिकवेः ॥

॥ चौपाई ॥

शब्द अर्थ मूर्ती नृप मानहु,
व्यंग्य काव्य को जीव वखानहु ॥
गुन दूपन गुन दोप वताये,
है भूपन भूपन मन भाये ॥ १ ॥

मनुष्य में उदारतादि गुण हैं, जैसे काव्य में प्रसाद आदि गुण हैं। गुण शब्द का अर्थ है लोकों को अपनी ओर करना। कहा है चिंतामणिकोपकार ने "गुण आमन्त्रणे" सो काव्य के प्रसाद आदि गुण भी सहृदयों को अपने सन्मुख करते हैं॥ काव्य में गुण की आवश्यकता के लिये व्यास भगवान् ने यह आज्ञा की है अग्निपुराण में—

अलंकृतमपि प्रीत्यै न काव्यं निर्गुणं भवेत्।
वपुष्यललिते स्त्रीणां हारो भारायते परम्॥ १ ॥

अर्थ—अलंकार युक्त किया हुआ भी निर्गुण काव्य प्रीति के लिये नहीं होता। जैसे स्त्रियों के असुंदर शरीर में हार भार के सदृश होता है॥

मनुष्य के शरीर विपयक पंग्वादि दोप और आत्मा विपयक कृपणतादि दोप हैं, जैसे काव्य में श्रुतिकट्वादि शब्द दोप, और अपुष्टार्थ आदि अर्थ दोप हैं। वे सर्वथा वर्जनीय हैं॥ दोप निवृत्ति की आवश्यकता के लिये व्यास भगवान् ने दोप का यह स्वरूप कहा है—

उद्वेगजनको दोषः सभ्यानां स च सप्तधा ॥

अर्थ—सभासदों को उद्वेग करनेवाला दोप सप्तधा है ॥

हारादिवत् शोभाकर होने से उपमादि अलंकार हैं ॥ ऐसा मत कहो कि, काव्य के शरीर की कल्पना तौ उपमादि अलंकारों की लोकालंकार न्याय से अलंकारता ठहराने के लिये मानी गई है, सो शब्द और वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ को शरीर, और व्यंग्यार्थ को आत्मा मानोगे तब व्यंग्यार्थ को शोभा करनेवाले शब्दालंकारों और अर्थालंकारों को लोकालंकार न्याय से अलंकारता नहीं बनेगी, लोक में अलंकार व्यवहार तौ शरीर की शोभा करनेवालों को है, न कि आत्मा की शोभा करनेवालों को? क्योंकि ऐसा सूक्ष्म विचार करें तब मनुष्य का शरीर तौ अस्थ्यादिमय होता है और लौकिक भूषण रत्न, सुवर्णादिमय होते हैं। और अनुप्रास, उपमादि अलंकार काव्य के शरीर और आत्मामय ही होते हैं अर्थात् शब्दार्थमय ही होते हैं। यहां भी उपमादि अलंकारों की समता लौकिक अलंकारों से नहीं बनती, इसलिये यहां तौ यत्किंचित् समता से काव्य की मनुष्य से समता मान लेनी चाहिये ॥ उपमा प्रकरण में कहा है वेदव्यास भगवान् ने—

किंचिदादाय सारूप्यं लोकयात्रा प्रवर्तते।

अर्थ—किंचित् सारूप्य ले करके लोक यात्रा अर्थात् लोक व्यवहार प्रवृत्त होता है ॥ कहा है आचार्य दंडी ने भी—

यथाकथंचित्सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते।
उपमा नाम सा ॥

अर्थ—जहां जिस किस प्रकार से स्पष्ट सादृश्य प्रतीत होवे वह उपमा नाम अलंकार ॥ रसगंगाधरकार ने काव्य का यह लक्षण कहा है—

रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ॥

अर्थ—रमणीय अर्थ को कहनेवाला जो शब्द वह काव्य ॥

॥ दोहा ॥

कहत अर्थ रमणीय को, जो शब्द जु नृपराय ।
सो है काव्य प्रसिद्ध जग, यह लच्छन सदभाय ॥ १ ॥

काव्यप्रकार

काव्य के प्रकार काव्यप्रकाश में कहे हैं—

इदमुत्तममतिशयिनि
व्यङ्ग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः ॥

अर्थ—वाच्य से व्यंग्य अतिशयवाला होवे अर्थात् वाच्य से व्यंग्य अधिक चमत्कारवाला होवे यह काव्य उत्तम है । उत्तम काव्य पंडितों करके ध्वनि कहा जाता है ॥ उक्त काव्य ध्वनि इसलिये कहा जाता है, कि यह ध्वनिवाला है ।

अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम् ॥

अर्थ—व्यंग्य अतादृशि अर्थात् पहिले कहा जैसा न होवे, अर्थात् वाच्य से अधिक चमत्कारवाला न होवे वह काव्य मध्यम है ॥ मध्यम काव्य को गुणीभूत भी कहते हैं । उक्त काव्य गुणीभूत इसलिये कहा जाता है, कि यह गुणीभूत व्यंग्यवाला है ॥

शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् ॥

अर्थ—व्यंग्य रहित शब्दचित्र अथवा वाच्यार्थचित्र मात्र होवे वह काव्य अवर अर्थात् अधम स्मरण किया गया है ॥ अधम का अर्थ है नीची श्रेणी का । मध्यम काव्य तो इन दोनों का मध्यवर्ती है ॥ भरत भगवान् ने तो उत्तम काव्य का यह लक्षण कहा है—

मृदुललितपदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनं
जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यम् ।
बहुकृतरसमार्गं संधिसंधानयुक्तं
स भवति शुभकाव्यं नाटकप्रेक्षकाणाम् ॥ १ ॥

अर्थ—कोमल और सुंदर पदों करके सहित, गूढ शब्द और अर्थ करके रहित, लोगों के समझने में सुगम, युक्तिवाला, नृत्य में जुड़ने योग्य, बहुत किये हैं रस के मार्ग जिसने, और संधियों के संधान अर्थात् जुड़ाव सहित, ऐसा काव्य नाटक देखनेवालों के लिये शुभ अर्थात् उत्तम होता है ॥ गूढ शब्द वह है कि जो उस भाषा में प्रचलित न होवे "बहुकृतरसमार्ग" इस कथन का यह अभिप्राय है कि जिस में जगह जगह रस टपकता होवे। जैसा कि पुष्कल जलवाले पर्वत में जगह जगह झरने झरते हैं। यहां रस शब्द से आनंद मात्र विवक्षित है, न कि ब्रह्मानंद सदृश आनंद। अन्यथा शृंगारादि रस रहित वाणी में काव्यत्व की हानि हो जायगी। कहा है वेदव्यास भगवान् ने भी अग्निपुराण में—

लक्ष्मीरिव विना त्यागान्न वाणी भाति नीरसा ॥

अर्थ—त्याग के विना लक्ष्मी के समान नीरस वाणी शोभा नहीं देती ॥ "नृत्ययोज्यं" इस कथन का यह प्रयोजन है कि नृत्य समय ताल आदि में समीचीन बैठ जावे. नाटक में संधि का यह लक्षण है—

अन्तरैकार्थसंबन्धः संधिरेकान्वये सति ॥

अर्थ—एकान्वये अर्थात् एक प्रयोजन रहते अन्तरा अर्थात् मध्य में एकार्थ संबंध अर्थात् दूसरे अर्थ का जो संवंध वह संधि ॥ जैसे शरीर एक पादार्थ है जिस में अस्थियों की अनेक संधियां हैं। सो ही कहा है योगवासिष्ट में—

इदं शरीरं शतसंधिजर्जरं
पतत्यवश्यं परिणामदुर्वहम्।
किमौषधं पृच्छसि राम! दुर्मते!
निरामयं ब्रह्म रसायनं पिब ॥ १ ॥

अर्थ—यह शरीर सैकड़ों संधियों करके जर्जरीभूत है, इसीलिये इसका परिणाम अर्थात् परिपक्व अवस्था दुर्वह है। और कदाचित्

परिपक्व अवस्था को पहुंच जाय तो भी अवश्य पड़ेगा। सो हे अज्ञ राम! ऐसे शरीर का तू क्या औषध पूछता है? जो पीना है तो रोग नाशक ब्रह्म रसायन का पान कर॥ ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मज्ञान॥ नाटक में संधियां पांच होती हैं। मुख १ प्रतिमुख २ गर्भ ३ विमर्ष ४ और उपसंहृति ५॥ यहां आवश्यकता न होने से इन के लक्षण उदाहरण नहीं दिखाये हैं॥ काव्य के दो प्रकार हैं। दृश्य और श्रव्य। कहा है साहित्यदर्पणकार ने—

दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्॥

अर्थ—दृश्य और श्रव्य भेद से फिर काव्य के दो प्रकार हैं॥

दृश्यं तत्राभिनेयम्॥

तहां अभिनयवाला काव्य दृश्य काव्य है॥ किसी की अवस्था का अनुकरण अर्थात् नकल करना उस को अभिनय कहते हैं॥

श्रव्यं श्रोतव्यमात्रं तत्पद्यगद्यमयं द्विधा॥

अर्थ—जो काव्य केवल सुनने योग्य है वह श्रव्य काव्य। वह दो प्रकार का है। पद्य १ और गद्य २॥ श्रव्य काव्य से दृश्य काव्य की नृत्ययोज्यता और संधिसंधानयुक्तता इतनी मात्र विलक्षणता है॥ भरत भगवान् ने काव्य का स्वरूप बहुत अच्छा स्पष्ट किया है। कवियों को ऐसे ही काव्य निर्माण करने चाहिये॥

वैताल

मृदु ललित पद जहँ गूढ नांहिंन, शब्द अर्थ निहार।
सब जनन कों सुख बोध्य युक्ती, युक्त लेहु विचार॥
किय बहुत रस मारग सु है मुनि, भरत मत अनुसार।
वह काव्य उत्तम सुनहु नृप, जसवंत भनत मुरार॥ १॥

उत्तम, मध्यम काव्यों के उदाहरण तो प्रथम सविस्तर दिखा चुके हैं। शब्द चित्र यथा—

वैताल

पुच्छ उच्छालनहिं जलनिधि, स्वच्छता किय दूर॥

यहां अनुप्रास मात्र होने से शब्दचित्र है। अर्थात् शब्द का चित्राम है। यद्यपि यहां पुच्छ उच्छालन से जलनिधि को गदला कर देने से मत्स्यावतार का लोकोत्तर पराक्रम व्यंग्य भी है; तथापि यहां चरण समाप्ति पर्यंत अनुप्रास से पूर्ति करने से कवि का निर्भर मुख्यता से अनुप्रास में ही है॥

अर्थचित्र यथा—

॥ दोहा ॥

हयग्रीव आवन समय, दरवाजन पट दीन।
मीलिताक्षि सुरपुरि मनहुं, भई भई भय लीन॥

यहां कवि का निर्भर मुख्यता से उत्प्रेक्षा अलंकार में है, न कि राज रति भाव रूप व्यंग्य में, इसलिये वाच्यचित्र मात्र है॥

॥ अभिधा ॥

शब्द तीन प्रकार का है॥ वाचक, लक्षक और व्यंजक। संकेत किये हुए अर्थ को साक्षात् कहै वह शब्द वाचक है। जैसे—संकेत किये हुए शंख ग्रीवादि आकारवाले अर्थ को घट शब्द साक्षात् कहता है, इसलिये घट शब्द उक्त अर्थ का वाचक है, अर्थात् कहनेवाला है। वाचक शब्द के अर्थ को वाच्यार्थ कहते हैं। वाचक शब्द में उक्त अर्थ का वोध करने की वृत्ति अर्थात् व्यापार संकेत है। संकेत तो, घटादि शब्दों से शंख ग्रीवादि आकारवाले पदार्थों का ज्ञान होना चाहिये, ऐसी नाम रखनेवाले की इच्छा है॥ कारण जिस के द्वारा कार्य करै उस को व्यापार कहते हैं। जैसा कि घट वनाने में घट तो कार्य है, मृत्तिका कुलाल दंड चक्र आदि कारण हैं। वे कारण भ्रमी इत्यादि द्वारा घट वनाते हैं इसलिये भ्रमी इत्यादि व्यापार हैं। इस रीति से यहां शब्द तो कारण है, अर्थ का बोध कार्य है, अभिधा लक्षणा व्यंजना व्यापार है॥

॥ दोहा ॥

कहत अर्थ साक्षातकों, है वाचक तिंह ठाम।
ईश्वर कृत संकेत ह्यां, नृप वृत्ती अभिराम॥ १॥

संकेत, शक्ति और अभिधा ये सब पर्याय शब्द हैं। न्याय शास्त्र में शक्ति का यह लक्षण कहा है—

"अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरसंकेतः शक्तिः"॥

अर्थ—इस पद से यह अर्थ जानना चाहिये ऐसा जो ईश्वर का किया हुआ संकेत वह शक्ति॥ वाच्यार्थ, मुख्यार्थ, अभिधेयार्थ, नामार्थ इत्यादि पर्याय हैं॥

॥ लक्षणा ॥

मुख्यार्थ का बाध अर्थात् वाच्यार्थों के आपस में संबंध का बाध और मुख्यार्थ का संबंध अर्थात् वाच्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ संबंध, रहते रूढि अथवा प्रयोजन निमित्त से जिस शब्द से वाच्यार्थ से अन्यार्थ लखा जावे वह शब्द लक्षक है॥

यथाः—

मम घर गंगा मांहिं॥

यहां गंगा शब्द का वाच्यार्थ गंगा का प्रवाह है. उस में घर न हो सकने से इस वाच्यार्थ का यहां बाध है, और इस वाच्यार्थ का तट के साथ संबंध भी है, इसलिये प्रवाह सदृश शीतलता, पावनता प्रयोजन के लिये गंगा शब्द तट अर्थ को लखाता है अर्थात् दिखलाता है "लक्ष" धातु से "लक्षक" शब्द बना है "लक्ष" धातु का अर्थ है दर्शन॥ गंगा शब्द से तट का बोध होने के लिये गंगा रूप लक्षक शब्द में जो वृत्ति है उस का नाम लक्षणा है "लक्ष्यते अनया इति लक्षणा" लखा जाता है इस से, इसलिये यह लक्षणा है। यह लक्षणा शब्द का अर्थ है॥ लक्षणा तो मुख्यार्थ का बाध, मुख्यार्थ का संबंध और प्रयोजन इस सामग्री से अन्यार्थ की स्फुरणा है॥ यह लक्षणा दो प्रकार की है॥ जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था॥ "मम घर गंगा मांहि" यहां गंगा शब्द ने अपने प्रवाह रूप मुख्यार्थ को छोड़ दिया है, इसलिये यह लक्षणा जहत्स्वार्था है। जहत् अर्थात् छोड़ा है स्व अर्थात् अपने अर्थ को। इस को लक्षण लक्षणा भी कहते हैं॥ जहां स्व अर्थात् निज अर्थ को अजहत् अर्थात्

और विवेचकता रूप संबंध भी है। कुश भी अन्य तृणों में से टाल कर लिया जाता है। काम में चतुर पुरुष भी टाल कर जो अच्छा काम होता है सो करता है। परंतु यहां ऐसा लक्षक शब्द कहने का कुछ प्रयोजन नहीं है, इसलिये यह लक्षणा रूढा है। ऐसे लाक्षणिक शब्दों की अनादि से रूढि चली आती है। प्रयोजन विना ऐसे शब्द का नया प्रयोग नहीं हो सकता। यह रूढा लक्षणा अभिधा तुल्य है॥ लक्षक शब्द के अर्थ को लक्ष्यार्थ कहते हैं॥ अनेक संबंधों से लक्षणा होती है "मम घर गंगा मांहि" यहां प्रवाह के और तट के संयोग संबंध है। "आये मरुपति कुंत लख सभय पलाये शत्रु" यहां भालों के और भाला धारण करनेवालों के धार्य धारक भाव संबंध है॥

कल्पवृक्ष है कमधपति, जग जाहर जसवंत॥

यहां वाच्यार्थ कमधेश और कल्पवृक्ष का आपस में अभेद संबंध बनता नहीं। यह मुख्यार्थ का बाध है, इसलिये कल्पवृक्ष सदृश लक्ष्यार्थ का अंगीकार है। यहां कल्पवृक्ष वाच्यार्थ के साथ कल्पवृक्ष सदृश लक्ष्यार्थ का उदारता रूप गुण संबंध है॥ प्रकाशकारादि समस्त प्राचीन लक्षणा के दो भेद मानते हैं। गुण संबंध में गौणी। इतर संबंधों में शुद्धा। सो हमारे मत में प्राचीनों का यह सिद्धांत समीचीन नहीं; क्योंकि संबंध भेद से भेद मानें तौ संबंध संबंध प्रति भेद मानना होगा। गुण संबंध में गौणी, इतर समस्त संबंधों में शुद्धा, ऐसे दो ही भेद मानने में कोई युक्ति नहीं॥

॥ दोहा ॥

वाच्य अरथ को बाध अरु, वाच्य अरथ संबंध।
बहुरि प्रयोजन सों जहां, व्है बिच काव्य प्रबंध॥ १॥
जो दर्शन अन्यार्थ को, वृत्ति लक्षणा सोय।
जहत रु अजहत निज अरथ, प्रभु प्रकार ये दोय॥ २॥

व्यंजना

वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ से अतिरिक्त अर्थ का बोध करानेवाले शब्द को व्यंजक कहते हैं॥ व्यंजक शब्द से उक्त अर्थ का बोध

करानेवाली वृत्ति अर्थात् व्यापार को अंजन रूप मानते इसीलिये इस का नाम व्यंजना कहते हैं ॥ सो ही कहा है काव्यप्रकाश गत कारिका में—

व्यापारो व्यञ्जनात्मकः ॥

अर्थ—व्यंग्यार्थ बोध में जो व्यापार है सो व्यंजना रूप है ॥ "अञ्जू" धातु से अंजन शब्द बना है। अञ्जू धातु व्यक्ति अर्थ में है। व्यक्ति का अर्थ है स्फुट अर्थात् स्पष्ट। अस्फुट को स्फुट करनेवाली वस्तु अंजन है। वि उपसर्ग यहां विशेष अर्थ में है। व्यंजन इस शब्द समुदाय का अर्थ है अंजन विशेष। अंजन कई प्रकार के होते हैं। कज्जलादिक अंजन तो, घटादि पदार्थों को स्पष्ट दिखाता है। सिद्धांजन लोकांतर देशांतर इत्यादि को स्पष्ट दिखाता है। निधि अंजन पृथ्वी में गड़े हुए धन को स्पष्ट दिखाता है। और यह अंजन अभिधा और लक्षणा से बो[illegible] नहीं कराये हुए अर्थ को स्पष्ट दिखाता है, इसलिये इस वृत्ति का नाम व्यंजना अर्थात् अंजन विशेष है ॥ व्यंजना से जाने हुए अर्थ को व्यंग्यार्थ ध्वन्यर्थ आक्षेपार्थ, सूच्यार्थ और प्रतीयमानार्थ इत्यादि कहते हैं ॥ यहां व्यंग्यार्थ व्यंजक शब्द का साक्षात् अर्थ भी नहीं। और व्यंजक शब्द करके वाच्यार्थ बाध इत्यादि से व्यंग्यार्थ का लखाना भी नहीं; किंतु अंजन न्याय से दूरस्थ अर्थ को दिखाना है। जैसा कि उक्त लोक अंजन विशेष पृथ्वी में रहे धन को और देशांतर में रहे पदार्थों को दिखाता है। इस रीति से ये तीनों आपस में अत्यंत विलक्षण हैं। व्यंग्यार्थ की प्रतीति करानेवाली वृत्ति को वेदव्यास भगवान् आक्षेप रूप और ध्वनि रूप मानते हैं ॥ सो ही कहा है अग्निपुराण में—

श्रुतेरलभ्यमानोऽर्थो यस्माद्भाति सचेतनः ॥
स आक्षेपो ध्वनिः स्याच्च ध्वनिना व्यज्यते यतः ॥ १ ॥

अर्थ—श्रवण मात्र से नहीं लभ्य हुआ अर्थात् अभिधा लक्षणा से नहीं जाना हुआ अर्थ, जिस से सचेतन अर्थात् प्रकाशमान होकर भाति अर्थात् भासता है वह आक्षेप है ॥ "आ समंतात् क्षिप्यते प्रेर्यते इति आक्षेपः" चारों ओर से प्रेरणा को आक्षेप कहते हैं ॥ और ध्वनि करके व्यज्यते अर्थात् प्रकाशित होता है, इसलिये यह ध्वनि भी है।

ध्वनि करके प्रकाशित होता है, इस कथन का तात्पर्य यह है कि वर्ण के संकेत आदि विना इस अर्थ का बोध होता है॥ वर्ण विवेक के विना जो दुंदुभि और झल्लर्यादि का शब्द सुना जाता है उस को ध्वनि कहते हैं। ऐसे ध्वनि रूप शब्द से संकेत और बाध आदि विना नृप गमनादि, देव पूजनादि, अर्थ की प्रतीति होती है, वैसे ही संकेत और बाधादि विना अर्थ की प्रतीति होती है, सो ध्वनि न्याय होने से उस को ध्वन्यर्थ कहते हैं॥

यथा—

॥ दोहा ॥

अनिमिष अचल जु बक बकी, नलिनी पत्र निहार।
मरकत भाजन में धरे, शंख सीप उनिहार॥ १॥

यहां स्थान की निर्जनता व्यंग्यार्थ है, सो न तो उक्त काव्य के किसी शब्द से संकेत किया हुआ है, और न वाच्यार्थ के बाध आदि से इस अर्थ की प्रतीति है; किंतु ध्वनि न्याय से इस अर्थ की प्रतीति है, इसलिये इस को ध्वन्यर्थ भी कहते हैं॥ व्यंजक शब्द में व्यंग्यार्थ बोध के लिये व्यापार तो सूर्य चंद्र में वस्तु प्रकाशन सामर्थ्य की नांई सामर्थ्य विशेष है। जिस में अंजन न्याय घटने से व्यंजना और ध्वनि न्याय घटने से ध्वनि कहते हैं॥ वक्ता देश काल आदि की विलक्षणता तो उक्त व्यापार से अर्थ बोध कराने में सहकारी है॥ हमारे मत में यहां ध्वनि रूपता इस रीति से भी है कि वाच्यार्थ बोध के अनंतर व्यंग्यार्थ का बोध होता है। जैसा कि झल्लरी के टंकार के अनंतर झंकार। और वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ सूक्ष्म भी होता है। जैसा कि झल्लरी के टंकार की अपेक्षा झंकार। और उक्त टंकार और झंकार में व्यवधान भी नहीं है। वैसे ही वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में व्यवधान नहीं रहता है। और प्रतीयमानार्थ की वृत्ति के लिये अंजन रूपता, ध्वनि रूपता और आक्षेप तीनों समीचीन हैं॥ व्यास भगवान् के मतानुसार काव्य प्रकाश गत कारिका में प्रतीयमान अर्थ की वृत्ति को ध्वनि भी कहा है॥

इदमुत्तममतिशायिनि
व्यङ्ग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः ॥

अर्थ—वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ अतिशयवाला हो वह उत्तम काव्य है, इस को पंडित लोग ध्वनि कहते हैं ॥ ध्वनिवाला होने से ऐसे काव्य का ध्वनि नाम है ॥ व्यंजना को व्यंजन, ध्वनन, द्योतन, सूचन इत्यादि भी कहते हैं ॥

॥ दोहा ॥

होत छतें वाच्यार्थ में, विश्राम जु भल रीति ।
वक्तादिक के जोग सों जो अन्यार्थ प्रतीति ॥ १ ॥
सो व्यंग्यार्थ सु वृत्ति है, यहां व्यंजना भूप ॥
ध्वनि आक्षेपा है यही, लीजै समझ स्वरूप ॥ २ ॥

प्राचीन लक्षणा के प्रयोजन को व्यंग्य मानते हैं, परंतु हमारे मत में उस में व्यंग्य सदृश चमत्कार न होने से उस का इस व्यंग्य में ग्रहण करना समीचीन नहीं ॥ व्यंजना दो प्रकार की है । शब्द व्यंजना और अर्थ व्यंजना ॥

शब्द व्यंजना यथा—

॥ दोहा ॥

बहुमुख जसवँत वाहिनी, मिली जाय अरि वृंद ।
ठौर ठौर में देखिये, किय जुत नृत्य कवंध ॥ १ ॥

यहां वाहिनी शब्द और कवंध शब्द अनेकार्थवाची हैं । वाहिनी शब्द का अर्थ सेना भी है । नदी भी है । कवंध शब्द का अर्थ युद्ध में मस्तक कटे पीछे लड़ता हुआ धड़ है, और जल भी है । सो यहां राज वर्णन प्रकरण वश से वाहिनी और कवंध शब्द का सेना में और मस्तक कटे हुए शरीर में अभिधा का नियमन होने के पश्चात् अर्थात् रुक जाने के अनंतर व्यंजना से नदी की और जलों की प्रतीति होती हैं । यह शब्द की व्यंजना है; क्योंकि वाहिनी की जगह सेना और कवंध की जगह विन शिर का धड़ ऐसे शब्द रक्खें तो नदी

और जलों की प्रतीति नहीं होती। और वहुमुख हो करके नदी के मिलने से जलों के उछलने की प्रतीति होने पर और बूंद में समुद्रता की प्रतीति होती है, वह तो वहुमुख नदी के मिलने से जलों के उछलने रूप अर्थ की व्यंजना से है॥ ऐसी शब्द व्यंजना को दिखलाती हुई काव्यप्रकाश में ये कारिकायें हैं—

अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम्॥ १॥

अर्थ—संयोग आदि से अनेकार्थ शब्द की वाचकता का नियमन होने पर उस अनेकार्थ शब्द के अवाच्य अर्थों की अर्थात् अभिधा करके नहीं जाने हुए अर्थों की बुद्धि करानेवाला व्यापार अंजन अर्थात् व्यंजना है॥

॥ दोहा ॥

अनेकार्थप्रद शब्द की, वाचकता को होय।
नियमन संयोगादि सों, कहत जु हैं कवि लोय॥ १॥
अवाच्यार्थ की बुद्धि पुन, वहां करावन काज।
है व्यापार सु व्यंजना, सुन जसवँत महाराज॥ २॥

श्लेष में समस्त अर्थ अभिधा से जाने जाते हैं॥

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥ १॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥ २॥

अर्थ—संयोग १, वियोग २, साहचर्य अर्थात् साथ ३, विरोधिता अर्थात् वैर ४, अर्थ अर्थात् प्रयोजन ५, प्रकरण अर्थात् प्रस्ताव ६, लिङ्ग अर्थात् व्याप्तिवाला, व्याप्ति तो यह है, जैसे अग्नि के विना धूम का न रहना ७, अन्य शब्द की सन्निधि अर्थात् दूसरे प्रसिद्ध शब्द की समीपता ८, सामर्थ्य अर्थात् शक्ति ९, औचिती अर्थात् योग्यता १०, देश अर्थात् स्थान विशेष ११, काल अर्थात् समय १२, व्यक्ति अर्थात् शब्द की स्त्री-

लिङ्गता, पुल्लिङ्गता, नपुंसकलिङ्गता १३, स्वर अर्थात् उदात्त, अनुदात्त, स्वरित १४, अनेकार्थ शब्द के अर्थ का निर्णय न होते रहते विशेष अर्थ की स्मृति के ये संयोगादि हेतु हैं ॥

छप्पय ॥

है संयोग, वियोग, साहचर्य, जु विरोध, भन,
अर्थ, रु प्रकरण, लिंग, सुनहु रवि कुल के भूषन ॥
अन्य शब्द सन्निधि, सु बहुरि सामर्थ्य, उचितपन,
देश, काल, व्यक्ती जु, और स्वर, आदि लहु गन॥
बहु अर्थ शब्द के अर्थ को नहिं रहते निर्णय जु यह,
है विशेषार्थस्मृति हेतु नृप उदाहरन इन के सु लह॥ १ ॥

क्रम से यथा—

शंखचक्रवाला हरि.

हरि शब्द इंद्रादि अनेकार्थ वाची है, सो यहां शंख चक्र के संयोग से विष्णु में वाचकता का नियमन होता है ॥

शंख चक्र रहित हरि.

यहां शंख चक्र के वियोग से विष्णु में हरि शब्द की वाचकता का नियमन होता है ॥

रामलक्ष्मण.

राम शब्द अनेकार्थ वाची है। यहां लक्ष्मण के साहचर्य से रघुनाथ में वाचकता का नियमन होता है। संयोग का अर्थ सम्यक् योग है। जैसे शंख चक्र विष्णु के हाथ में पकड़े हुए हैं॥ और साहचर्य का अर्थ साथ विचरना मात्र है ॥

सिंह नाग.

नाग शब्द अनेकार्थ वाची है, सो सिंह के वैर से हाथी में वाचकता का नियमन होता है ॥

संसार नाश के लिये स्थाणु भजो.

स्थाणु शब्द का अर्थ महादेव भी है, और शाखा पत्रादि रहित

वृक्ष भी है, सो यहां संसार नाश रूप प्रयोजन से शिव में वाचकता का नियमन होता है ॥

तुम सव जानत देव.

यहां राज सभा का प्रकरण हो तौ देव शब्द का राजा में वाचकता का नियमन होगा। और पूजा प्रकरण हो तौ देवता में वाचकता का नियमन होगा।

मकरध्वज कुपित हुआ.

संयोगातिरिक्त संबंध से दूसरे पक्ष से टला हुआ जो धर्म सो यहां लिङ्ग ॐ मकरध्वज शब्द का अर्थ कामदेव भी है। समुद्र भी है। कोप लिंग से कामदेव में वाचकता का नियमन होता है। समुद्र जड़ है। उस में वास्तव में कोप नहीं है। कोप तौ चेतन का लिंग है। चेतन के विना नहीं होता ॥

अमर रु निजरं देव.

देव शब्द का अर्थ देवता भी है। और राजा भी है। यहां अमर निर्जर शब्दों की समीपता से इंद्रादि देवताओं में वाचकता का नियमन होता है ॥

मधु मत्त कोकिला.

मधु शब्द के अर्थ मदिरा मकरंद आदि अनेक हैं, सो कोकिला को मत्त करने की सामर्थ्य से यहां वसंत ऋतु में वाचकता का नियमन होता है ॥

कांता तुम्हारे सन्मुख होओ.

सन्मुख शब्द का अर्थ मुख साम्हने करना भी है। और प्रसन्न होना भी है। यहां आशीर्वाद की उचितता से प्रसन्नता में वाचकता का नियमन होता है ॥

यहां विराजत देव.

यहां राजधानी देश होवे तौ राजा में वाचकता का नियमन होवेगा। तीर्थादि देश होवे तौ देवता में वाचकता का नियमन होवेगा ॥

चित्रभानु सोभत जु अति.

यहां दिवस समय होवे तो सूर्य में वाचकता का नियमन होवेगा, रात्रि समय होवे तो अग्नि में वाचकता का नियमन होवेगा ॥

घोड़ा घोड़ी.

घोड़ा ऐसा पुल्लिङ्ग कहेंगे तो नर अश्व में वाचकता का नियमन होवेगा। घोड़ी ऐसा स्त्रीलिंग कहेंगे तो मादा अश्व में वाचकता का नियमन होवेगा ॥

इंद्र शत्रु.

यहां पूर्व पद इंद्र शब्द का उदात्त स्वर से उच्चारण करें तो "इंद्र है शत्रु जिस का" ऐसे अर्थ में अभिधा का नियमन होवेगा। और उत्तर पद शत्रु शब्द का उदात्त स्वर से उच्चारण करें तो "इंद्र का शत्रु" इस अर्थ में वाचकता का नियमन होवेगा ॥

छप्पय

शंख चक्र युत हरि सु हरि जु विन शंख चक्र यह,
राम लच्छमन लखौ सिंघ नाग जु इकठां वह ॥
स्थाणु भजहु हित मोक्ष देव तुम तौ जानत सब,
मकरध्वज भौ कुपित अमर निर्जर सुर पढ़ अब ॥
मधु मत्त कोकिला व्है रही व्हौ कांता तुमरे समुख,
रे मूढ विराजत देव ह्यां चित्रभानु अति देत सुख ॥ १ ॥

॥ दोहा ॥

घोड़ा घोड़ी लाइये, इंद्र शत्रु जसवंत ॥
दिग्दर्शन हित कछु कहे, बुधि बल लखहु अनंत ॥ १ ॥

इस प्रकार संयोगादिकों करके एक अर्थ में अभिधा का नियमन होने पर अर्थात् रुक जाने पर जो अन्यार्थ की प्रतीति होती है, उस में अभिधा वृत्ति हेतु नहीं है। क्योंकि उक्त रीति से अभिधा रुक जाती है। तात्पर्य यह है कि अभिधा वहां अपना काम करके ठैर जाती है। अ-

॥ दोहा ॥ ...ो नहीं; क्योंकि

...र व्यंजना ही है।

है कालि अवसर वांछा अपन, किन पूरन ...

यातें छि दिन फिर ऐहैं नहीं, है छिन भं... ...ता है ॥

श्रोता कामी होवे तो विषय वास...

कवि संप्र... ...ु होवे तो मोक्ष साधन में ...

...ा है अनुगुण ...भयो पुलक सद भाय।

॥ मनह...

नीलोर... ...न पै, आई वापी न्हाय ॥ १ ॥

महि मं...

अर्थ—व ...पी स्नान है। व्यंग्यार्थ दूती का नायक के साथ

...रमण है। यह ...यार्थ नायिका ने नायक के लिये जो अधम शब्द कहा है उस सामर्थ्य से प्रतीत होता है। शब्द व्यंजना में अर्थ भी सहकारिता करके इष्ट है; तथापि यहां प्रधानता तो शब्द की है। ऐसा काव्यप्रकाशकार ने कहा है। हमारे मत में यहां प्रधानता अर्थ की है, शब्द ... सहकारी है। क्योंकि अधम शब्द विना भी यहां अन्यसंभोगदुःखि... नायिका की प्रतीति हो जाती है॥

यथवा—

॥ सवैया ॥

अंजन रंजन फीको पर्यो,
अनुमानत नैनन नीर ढर्यो री।
प्रात के चंद समान सखी,
मुख को सुखमा भर मंद पर्यो री॥
भाखे मुरार निसासन पौन नें,
तो अधरान को राग हर्यो री।
वावरी! पीव संदेसो न मान्यो तौ,
तें क्यों इतो पछतावो कर्यो री॥ १ ॥

यहां सहृदयों का हृदय ही साक्षी है। अर्थांतर प्रतीत करानेवाली जो अर्थ में वृत्ति है वह अर्थ व्यंजना है। अर्थांतर प्रतीति तौ अभिधा से अथवा लक्षणा से वाक्यार्थ का वोध हो जाने के अनंतर

॥ दोहा ॥

हे कालि अवसर वांछा अपन, किन पूरन कर लेह।
यातें हि दिन फिर ऐहें नहीं, हे छिन भंगुर देह ॥ १ ॥

कवि संप्र श्रोता कामी होवे तो विषय वासना में जुड़ाना व्यंग्य है। और
ा है अनुमुक्षु होवे तो मोक्ष साधन में जुड़ाना व्यंग्य है ॥

नीलो

॥ मनहर छंद ॥

अर्थ—व

ते हैं ॥ औ

महि मंडन मंडल के मध में,
पट ऐंचत द्रोपदि कों जु निहारी।
धर वल्कल व्याधन के संग वास,
कस्यो वन वीच भये वनचारी ॥
वसुनाथ विराट के घाट वुरे तें,
भये सव भ्रात अनोचितकारी।
वहु भांत सों खिन्न में ता पैं व्हैं खेदित,
होत न कौरव पें छत्रधारी ॥ १ ॥

भीम को समझाने के लिये राजा युधिष्ठिर के भेजे हुए सहदेव प्रति भीम का यह वचन है। खिन्न (खेद युक्त) राजा युधिष्टिर युद्ध को त्वरा करते हुए भीम पर खेदित है, ऐसे जानते हुए सहदेव प्रति भीम का ऐसा सीधा वचन निरर्थक होता है, इसलिये काकु स्वर की कल्पना हो करके "मेरे पर खेद युक्त न होना चाहिये, कौरवों पै होना चाहिये" ऐसा व्यंग्य होता है ॥

दोहा

जव मम मुख तज दृष्टि तुव, जात न थी अन ठौर।
अव वो ही मो मुख रु मैं, पर तुव दृष्टी और ॥ १ ॥

यहां "जव अव" ऐसे पद रूप वाक्य की विलक्षणता से "मेरे कपोल में प्रतिविंवित भयी हुई मेरी सखी को देखती हुई तेरी दृष्टि और थी। वह सखी का प्रतिविंव मेरे कपोल से निकल जाने पीछे

दृष्टि और हो गई, आश्चर्य है कि तुम प्रच्छन्न कामुक हो" नियमन होवे-
होता है ॥ होवेगा ॥

॥ दोहा ॥

घन गरजन दामनि दमक, झिल्ली गन झंकार। का नियमन
सुरभि कदंबन कुसुम की, जुत कन वारि वयार वाचकता का

यहां इस वाच्यार्थ की सुरतानुकूलता रूप विलक्षणता इच्छा व्यंग्य है ॥

॥ दोहा ॥ अन्यार्थ

सखि जैहौं संध्या समय, शिव पूजन कों आज ॥
सुर सरिता की तीर तहाँ, सोहत सुमन समाज ॥ १ ॥

यहां वक्ता तौ नायिका है। श्रोता सखी है। इन से अन्य उपपति समीप होवे तौ संकेत समय सूचना व्यंग्य है ॥

॥ दोहा ॥

काज विलंब न कीजिये, यहै पुरानी गाथ ॥

यहां कवि का प्रसंग होवे तौ दान, अरि का प्रसंग होवे तौ युद्ध, मित्र का प्रसंग होवे तौ मिलना व्यंग्य होता है ॥

सीता लछमन सह वसे, यह थल श्री रघुनाथ ॥ १ ॥

यहां ऐसे देश से स्नान दानादि ... कर्म। व्यंग्य होता है ॥

॥ दोहा ॥

तापवंत सीरे किये, सूखे हरे विसेस।
किल रीते पूरे किये, ऋतु पावस राजेस ॥ १ ॥

इति राजराजेश्वर योधपुराधीश मानसिंह निर्मित नाथ चरित्र ग्रंथे॥

कवि संप्रदाय में वसंत को ऋतुराज कहते हैं। मानसिंह राजराजेश्वर ने ऐसे वर्णन द्वारा वर्षा को ऋतुराजेश्वर सिद्ध किया है। इस काव्य का नायक अथवा नायिका अनुवाद करे तौ काल अर्थात् समय की विलक्षणता से उद्दीपनाधिक्य व्यंग्य है ॥

॥ दोहा ॥

हे कालिका कटाक्ष इव, कर कृपाण कमधेश ॥
यातैं छित छत्री सकल, हैं विन चिंत हमेश ॥ २ ॥

कवि संप्रदाय में कटाक्ष का वर्ण श्याम माना गया है। सो ही कहा है अनुगुण अलंकार के उदाहरण में चंद्रालोक के कर्ता ने—

नीलोत्पलानि दधते कटाक्षैरतिनीलताम् ॥

अर्थ—कटाक्षों करके नील कमल अति नीलता को धारण करते हैं॥ और तलवार का रंग भी श्याम है। सो यहां राजराजेश्वर के कृपाण को काली के कटाक्ष की उपमा देने से अतिश्यामता रूप धर्मलुप्ता उपमा सिद्ध होने के अनंतर छिन भर में जगत् भक्षण सामर्थ्य धर्मांतर व्यंग्य होता है। यहां उपमा की विलक्षणता से व्यंग्य है। ऐसे अनेक विलक्षणताओं से व्यंग्य होते हैं, इसलिये "वक्तृबोद्धव्य" इस कारिका में आदि पद दिया है॥

॥ दोहा ॥

अनिमिष अचल जु वक वकी, नलिनी पत्र निहार।
मरकत भाजन में धरे, शंख सीप उनिहार॥ २॥

यहां अनिमिष शब्द का वाच्यार्थ तौ निमेष रहित है। अचल शब्द का वाच्यार्थ स्थिरता सहित है। सो यहां कवि ही वक्ता होवे तौ केवल वक वकी का वर्णन मात्र है॥ और दंपती में से कोई वक्ता होवे और सुरत प्रस्ताव होवे तौ वक वकी की निर्भयता प्रतीत होती है, उन की निर्भयता प्रतीति से उस स्थान की निर्जनता प्रतीत होती है। निर्जनता प्रतीति से सुरत विनती प्रतीत होती है। यहां व्यंग्यार्थ की परंपरा है। और संकेत स्थल में एक के प्रथम न आने का प्रस्ताव होवे तौ निर्जन स्थानता प्रतीति के अनंतर उपालंभ की प्रतीति होती है, कि "तुम यहां नहीं आये"॥ न्याय आदि शास्त्रों में अभिधा और लक्षणा दो ही वृत्ति मानते हैं। व्यंजना वृत्ति तौ साहित्य शास्त्र में ही मानी गई है। सो व्यंग्यार्थ को वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ से पृथक् स्थापन करता हुआ सहृदय धुरंधर ध्वनिकार कहता है:—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव
वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं
विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥ १ ॥

अर्थ—जो महाकवियों की वाणी में पुनः अर्थात् वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ के सिवाय प्रतीयमान वस्तु अर्थात् अर्थ है, सो वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ से अन्य ही है। जैसे स्त्रियों में प्रसिद्ध अवयवों से अतिरिक्त लावण्य शोभता है ॥

। चौपाई ।

वसत महाकवि जन वानी मह,
अर्थ सु अन्य प्रतीयमान वह ॥
ज्यों प्रसिद्ध अवयव सौं न्यारा,
लसत स्त्रियन लावन्य निहारा ॥ १ ॥

शब्द अर्थ दोनों में रहती हुई व्यंजना को उभय व्यंजना कहते हैं।
यथा—

॥ दोहा ॥

सर्वमंगला विलसत जु, राज मौलि जगनाथ ।
अरि पुर दाहक देखिये, यह जसवँत विख्यात ॥ १ ॥

राजराजेश्वर के पक्ष में संपूर्ण मंगलों को आ समंतात् अर्थात् चारों ओर से विलसता है। तात्पर्य यह है कि संपूर्ण कल्याणों करके युक्त है। महादेव पक्ष में सर्वमंगला नाम पार्वती का है । उन करके शोभित है। शिवजी अर्धनारीनटेश्वर हैं ही । राजराजेश्वर के पक्ष में राजमौलि अर्थात् राजाओं में श्रेष्ठ। महादेव के पक्ष में चंद्रमा है मस्तक में जिन के। जगदीश और अरिपुर दाहक दोनों हैं। सो राजवर्णन प्रसंग से राजराजेश्वर में अभिधा का नियमन होने पर यहां व्यंग्यार्थ तौ राजराजेश्वर को शिवजी की उपमा है, सो शब्द अर्थ उभय व्यंजना से आई है। यहां उभय व्यंजना इस रीति से है कि सर्वमंगला राजमौलि ये दोनों शब्द परिवर्तन को नहीं सहते हैं, यहां तौ शब्द शक्ति है

और "जगन्नाथ, अरिपुरदाहक" यहां शब्द परिवर्तन का सहन है, इसलिये अर्थ शक्ति भी है। इस प्रकार यह उभय शक्ति मूलक व्यंजना है॥

॥ दोहा ॥

है प्रधान अप्रधान ये, व्यंग्य द्विविध मरुनाथ।
ह्यां प्रधान अप्रधानपन, चमत्कार के हाथ ॥ १ ॥
है अविवक्षितवाच्य अरु, वाच्यविवक्षित और।
व्यंग्य प्रधान जु भांति द्वै, जानहु पति राठौर ॥ १ ॥

॥ चोपाई ॥

अर्थांतरसंक्रमितवाच्य भन,
वाच्य अत्यंततिरस्कृत पुन गन।
यों जु प्रथम कों द्विविध बताया,
लक्षना मूलक यही कहाया ॥ १ ॥

॥ दोहा ॥

है दुसरो हू भांति द्वै, असंलक्ष्यक्रम एक।
संलक्ष्यक्रम द्वितिय ह्यां, नृप कर लेहु विवेक ॥ १ ॥
भाव व्यंग्य होवत जहां, असंलक्ष्यक्रम भूप।
रस हू याही में लखो, कहि हौं अग्र स्वरूप ॥ २ ॥
संलक्ष्यक्रम है तहां, जहां अर्थ सौं अर्थ।
अलंकार वा अर्थ सौं, सुन जसवंत समर्थ ॥ ३ ॥
अलंकार सौं अर्थ वा, अलंकार सौं होय।
अलंकार की ठौर जिह, नृपति प्रतीती जोय ॥ ४ ॥
कहत विवक्षितवाच्य कों, अभिधामूलक भूप।
उदाहरन इन सबन के, आगे कहौं अनूप ॥ ५ ॥

व्यंग्य दो प्रकार का है। प्रधान और अप्रधान॥ वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ में अधिक चमत्कार होवे उस व्यंग्य को प्रधान कहते हैं। और वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ में अधिक चमत्कार न होवे किंतु वाच्यार्थ के समान अथ-

वा न्यून चमत्कार होवे उस व्यंग्य को अप्रधान कहते हैं। इसी को गुणी-भूत व्यंग्य कहते हैं। अप्रधान अर्थात् मुख्य नहीं, इसलिये उसको गौण कहते हैं। यहां प्रधानता अप्रधानता तौ चमत्कार मूलक है। सो ही कहा है सहृदय धुरंधर ध्वनिकार ने—

चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्य-
व्यङ्ग्ययोः प्राधान्य विवक्षा ॥

अर्थ—वाच्य और व्यंग्य के प्रधानपन की विवक्षा तौ चारुता के उत्कर्ष के आधीन है॥ प्रधान व्यंग्य दो प्रकार का है। अविवक्षितवाच्य और विवक्षितवाच्य॥अविवक्षितवाच्य अर्थात् वाच्यार्थ की विवक्षा जहां न होवे॥ लक्षणा के स्थल में प्रयोजन भूत जो व्यंग्य है सो अविवक्षितवाच्य होता है; क्योंकि वहां वाच्यार्थ का बाध होने से वाच्यार्थ में विवक्षा नहीं, इसी को लक्षणा मूलक कहते हैं। अविवक्षितवाच्य के दो प्रकार हैं।अर्थांतरसंक्रमितवाच्य और अत्यंततिरस्कृतवाच्य। अर्थांतरसंक्रमितवाच्य स्थल में तौ अजहत्स्वार्था लक्षणा है॥
यथा—

आये मरुपति कुंत लख, सभय पलाये शत्रु ॥

यहां लक्षणा से कुंत शब्द का अर्थ कुंतधर है, इसलिये कुंत रूप वाच्यार्थ ने धारण करनेवाले रूप अर्थांतर में संक्रमण किया है। यह व्यंग्य तौ कुंतधरों में कुंत सदृश दारुणता है। अत्यंततिरस्कृतवाच्य स्थल में तौ जहत्स्वार्था लक्षणा है॥
यथा—

मम घर गंगा मांहि ॥

यहां लक्षणा से गंगा शब्द का अर्थ तट है, इसलिये गंगा रूप वाच्यार्थ का अत्यंत तिरस्कार है। यहां व्यंग्य तौ तट में प्रवाह के सदृश शीतलता पावनता है। विवक्षितवाच्य अर्थात् जिस व्यंग्य में वाच्यार्थ की विवक्षा है॥ यहां वाच्यार्थ ज्यों का त्यों रहते व्यंग्य होता है। इसी को अभिधा मूलक व्यंग्य कहते हैं। यह व्यंग्य भी दो प्रकार का है। असंलक्ष्यक्रम और संलक्ष्यक्रम॥ जहां भले प्रकार से क्रम

नहीं लखा जावे वह असंलक्ष्यक्रम। और भले प्रकार से क्रम लखा जावे वह संलक्ष्यक्रम। यहां क्रम तो यह है कि वाच्यार्थ बोध के अनंतर व्यंग्यार्थ का बोध होना। जैसा कि, झल्लरी के टंकार के अनंतर झंकार ॥ यथा "अनिमिप अचल जु वक वकी" इति ॥ यहां वक वकी वृत्तांत रूप वाच्यार्थ बोध होने के अनंतर स्थान की निर्जनता रूप व्यंग्यार्थ का बोध होता है ॥ उक्त झल्लरी रव का दृष्टांत वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ सूक्ष्म होने में भी है, सो इस काव्य में तौ वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ का क्रम भले प्रकार लखा जाता है, इसलिये यहां संलक्ष्यक्रम व्यंग्य है। और संलक्ष्यक्रम वस्तु से वस्तु, वस्तु से अलंकार, इत्यादि व्यंग्य होवे तहां होता है, सो सविस्तर आगे दिखाया जायगा. और—

॥दोहा॥

दीठ वरत वांधी अटन, चढ़ धावत न डरात।
इत उत तैं चित दुहुन के, नट लौं आवत जात ॥ २ ॥

इति विहारी सतशत्याम् ॥

यहां भी नायक नायिका के परस्पर अवलोकन रूप वाच्यार्थ बोध के अनंतर नायक नायिका के परस्पर रति भाव रूप व्यंग्यार्थ का बोध होता है, इसलिये यहां भी वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ का क्रम तौ है, परंतु शतपत्र भेदन न्याय से यहां क्रम भले प्रकार लखा नहीं जाता, इस रीति से यहां असंलक्ष्यक्रम है। इस तात्पर्य से ही इन में "सम्" उपसर्ग का ग्रहण है। शत पत्र भेदन न्याय यह है कि कमल के शत पत्रों को एक दूसरे के ऊपर क्रम से रख कर सूई से वेधना। वहां यद्यपि पत्रों का क्रम से वेध होता है, परंतु शीघ्र वेध होने से एक संग वेध होने का व्यवहार है. भाव व्यंग्य होवे तहां असंलक्ष्यक्रम है॥

भावनिरूपण

मन का धर्म भाव है। सो ही कहा है चिंतामणिकोपकार ने "भावः

मानसधर्मे" कहा है अमरकोपकार ने भी "विकारो मानसो भावः" अर्थ—मन का विकार भाव है। भाव के कारण को विभाव कहते हैं। विभाव शब्द का अर्थ है विशेष करके उत्पत्ति करनेवाला विभाव दो प्रकार-के हैं। आलंवन और उद्दीपन। जिस के अवलंबन से भाव उत्पन्न होवे वह आलंवन विभाव। और भाव को उद् अर्थात् उत्कटता से दीपन करे अर्थात् बढ़ावे वह उद्दीपन विभाव। भाव के कार्य को अनुभाव कहते हैं। अनुभाव शब्द का अर्थ है भाव के पीछे जो होता है॥ अनुभाव भाव का बोधक है। सोही कहा है अमरकोपकार ने॥

"विकारो मानसो भावोऽनुभावो भाव बोधकः"॥

चौपाई॥

मन को धर्म भाव नृप मानहु,
कारन तिंह विभाव पहिचानहु।
है अनुभाव भाव के बोधक,
भाखत सुकवि तत्व के सोधक॥ १॥

॥ दोहा॥

आलंवन उद्दीपन जु, उभय विभाव कहंत।
चेष्टा वचन विकार वपु, हैं अनुभाव अनंत॥ १॥

चेष्टा कटाक्षादि क्रिया है, शरीर का विकार स्तंभ स्वेदादि है, भाव मन का धर्म है, वह अपरिमित है। परंतु काव्य की उपयोगिता से धोरी ने यहां रत्यादि इकतालीस का ही ग्रहण किया है॥ लौकिक भावों का ही निबंधन दृश्य काव्य (नाटक) में और श्रव्य काव्य में होता है। सो नाटक देखनेवाले को तथा काव्य सुननेवाले को भाव स्वाद देवे अर्थात् रस देवे तहां भाव की रस दशा है। अन्यथा भाव संज्ञा है। नाटक मत में स्वाद देनेवाले भाव रति आदि आठ ८ माने गये हैं। और काव्य मत में निर्वेद भाव को मिला कर नौ ९ माने गये हैं। रति आदि भाव वासना वासित हृदयों को रति आदि रस होते हैं।

अन्य भाव वासना वासित हृदयों को अन्य भाव से रस नहीं होते। जैसे निर्वेद भाव वासना वासित हृदय को रतिभाव से रस नहीं होता ॥

स्थायी संचारी विवेक.

नाटक देखते ही और काव्य सुनते ही रसोत्पत्ति नहीं होती; किंतु नाटक निबंधित काव्य निबंधित भाव को समझ लेवे तब रसोत्पत्ति होती है। सो नाटक देखनेवाले के तथा काव्य सुननेवाले के रसोत्पत्ति पर्यंत रत्यादिक भाव अन्य भावों से अनाच्छादित भये हुए स्थिर रहें तब रसोत्पत्ति होती है, इसलिये रत्यादिक भावों की रस दशा में स्थायी संज्ञा है। सो ही कहा है दशरूपक में—

सजातीयैर्विजातीयैरतिरस्कृतमूर्त्तिमान्।
यावद्रसं वर्त्तमानः स्थायिभाव उदाहृतः ॥ १ ॥

अर्थ—जब रत्यादि भाव सजातीय भाव से अथवा विजातीय भाव से तिरस्कार नहीं पाया हुआ अपने स्वरूप से रसोत्पत्ति पर्यंत वर्त्तमान होवे तब स्थायी भाव कहा गया है ॥ रति भाव आपस में सजातीय हैं। रति और हास्यादि भाव आपस में विजातीय हैं। सो नाटक देखनेवाला अथवा काव्य सुननेवाला एक रति भाव का अनुभव करने लगता है, उस समय में दूसरा रति भाव अथवा हास्यादि भाव वैसा अनुभव में आजावे तो पूर्व रतिभाव तिरस्कृत होजाता है इत्यादि ॥ कहा है प्रदीपकार ने भी—

विरुद्धा अविरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः।
आनन्दाङ्कुरकन्दोसौ भावः स्थायिपदास्पदम् ॥ १ ॥

अर्थ—यं अर्थात् जिस भाव को विरुद्ध भाव अथवा अविरुद्ध भाव तिरोधान करने को समर्थ न होवे यह भाव आनंद के अंकुर का कंद अर्थात् मूल हो करके स्थायी पद का आस्पद अर्थात् स्थान है। रति और क्रोधादि भाव आपस में विरुद्ध हैं। रति और हास्य आदि भाव

॥ दोहा ॥

मिल मुल्लां काजी करत, एक राह कज वात।
सुन विकसत अवरँग समय, अधर मरुद्धर नाथ ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर का हास भाव व्यंजित है। इस काव्य के श्रोता का अंतःकरण हास्यमय नहीं होता, इसलिये इस हास को रस दशा नहीं; किंतु भाव ही है। सो यहां हास भाव तो प्रधान होने से स्थायी है, और इस के साथ होने से गम्य उत्साह, असूया इत्यादि भाव संचारी हैं ? क्योंकि मन अत्यंत चंचल है॥ सो ही कहा है विचारमाला भाषा ग्रंथ में—

॥ दोहा ॥

चल दल पत्र पताक पट, दामनि कच्छप माथ।
भूतदीप दीपक शिखा, यों मन वृत्ति अनाथ ॥ १ ॥

सो अन्य भावों से अतिरस्कृत हो कर रसोत्पत्ति पर्यंत मन में भाव की स्थिरता का श्लाघनीय चमत्कार है वह रस दशा से अन्यत्र नहीं। ऐसे ही स्थायी को पुष्ट करने में जो संचारिता का चमत्कार है वह भी रस दशा से अन्यत्र नहीं। अन्यत्र तो प्रधान का पर्याय मात्र स्थायी और गौण का पर्याय मात्र संचारी होगा॥ स्थायी तो स्थानी है। संचारी अतिथि है। स्थानी अर्थात् गृहपति। वह तो प्रधान है। अतिथि गौण है, इसीलिये प्राचीनों ने रस दशा में ही स्थायी संचारी संज्ञा का अंगीकार किया है। रस दशा विना भावों को स्थायी संचारी व्यवहार नहीं; किंतु सामान्यता से भाव व्यवहार है। सो ही कहा है काव्यप्रकाश गत कारिकाकार ने—

रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः।
भावः प्रोक्तः ॥

अर्थ—देवता विषयक रति और वैसा व्यंग्य भया हुआ अर्थात् स्थायी भाव की नांई व्यंग्य भया हुआ व्यभिचारी भाव कहा गया॥ यहां रति शब्द से समस्त स्थायी भाव विवक्षित हैं। और देवादि विषयक रति कहने से अप्राप्त रसावस्थावाले रत्यादि विवक्षित हैं। ऐसा

प्रदीपकार ने स्पष्ट किया है। काव्यप्रकाश गत कारिकाकार का यह मत है कि, रस दशा को प्राप्त नहीं भये हुए रत्यादिक भाव हैं। और रस दशा को प्राप्त भये हुए रत्यादि भाव रस हैं। और भरत भगवान् का यह मत है कि, रस विना भाव नहीं, और भाव विना रस नहीं॥ सो ही कहा है उन्हों ने नाट्यशास्त्र में–

न भावहीनोस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत्॥ १॥

अर्थ–भाव विना रस नहीं है, रस विना भाव नहीं है। अभिनये अर्थात् नाटक में इन दोनों की सिद्धि परस्पर होती है॥ सो हमारे मत दोनों का कहना सत्य है। काव्यप्रकाश गत कारिकाकार ने तो ब्रह्मानंद सहोदर ऐसा रस का स्वरूप ले कर "रस दशा विना रत्यादि भाव ही हैं" ऐसा कहा है। और भरत भगवान् ने यहां स्वाद मात्र को रस का स्वरूप ले कर "रस विना भाव नहीं ऐसा कहा है। क्योंकि रमणीयता विना काव्य होता ही नहीं॥ कहीं रस दशा विना भी रत्यादिकों को स्थायी और ग्लांनी आदिकों को संचारी कहते हैं। सो ब्राह्मणक्षपणक न्याय से और मंजूषागत अलंकार न्याय से है। ब्राह्मणक्षपणक न्याय यह है कि, पहिले ब्राह्मण था वह क्षपणक अर्थात् जैन मत का साधु होगया; उस समय वह ब्राह्मण नहीं है, तो भी पूर्व काल में ब्राह्मण था, इसलिये ब्राह्मणक्षपणक ऐसा कहा जाता है। मंजूषा गत भूषण न्याय यह है कि, कुंडलादि मनुष्य को शोभा करते हैं, इसलिये अलंकार संज्ञा है। अलंकार शब्द का अर्थ है शोभा करना। सो पेटी में पड़ा हुआ भूषण उस समय में मनुष्य का शोभाकर नहीं है; तथापि उस में मनुष्य को शोभा करने की योग्यता होने से उस समय में भी वह अलंकार कहा जाता है। वैसे ही रस दशा नहीं है उस समय में भी रस दशा में स्थायी होने की योग्यता रत्यादिकों में है। और संचारी होने की योग्यता निर्वेदादिकों में है, इसलिये ये स्थायी और संचारी कहे जाते हैं। रस होने की योग्यता रत्यादि नव भावों विना नहीं है। और उक्त स्थायी दशा विना रत्यादिकों को स्थायिता नहीं है। और स्थायी भावों के सहचार विना भावों को संचारिता नहीं है यह अनुभव सिद्ध है।

और प्राचीनों की संमति भी है। किसी भाव के साथ दूसरा भाव होवे तो वह गौण भाव है। और वहां प्रधान होवे उस का भाव करके व्यवहार है। यह अलंकार शास्त्र का सिद्धांत है। सो ही कहा है "प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति" इति। प्रधानता से व्यवहार होता है। रस दशा को प्राप्त नहीं होनेवाले इतर भाव प्रधान होवें तहां उन भावों का भाव करके व्यवहार होता है। यह प्राचीनों का सिद्धांत है। सो ही कहा है—

॥ दोहा ॥

सब ठां रस साहब तऊ, कहूं भाव सरसात।
ज्यों सेवक के व्याह में, राजा चलत बरात॥ १॥

इति रसरहस्य भाषा ग्रंथे॥

यहां रस शब्द से स्थायी भावों का ग्रहण है। और भाव शब्द से संचारी भावों का ग्रहण है॥

यथाः—

॥ सवैया ॥

जैयें अकेली महावन बीच, तहां मतिराम अकेलो हि आवै,
आपने आनन चंद की चांदनी, सौं पहिले तन ताप बुझावै॥
कूल कलिंदि के कुंजन मंजुल, मीठे अमोल वे बोल सुनावै,
ज्यों हस हेर लियो हियरो हरि, त्यों हसिके हियरे हरि ल्यावै॥ १॥

इति रसराज भाषा ग्रंथे॥

यहां यद्यपि रति भाव भी है, परंतु चिंता प्रधान होने से यहां चिंता भाव है ऐसा, चिंता भाव ही का व्यवहार है। यद्यपि इस चिंता भाव से भी श्रोता को स्वाद आता है, परंतु रस दशा के जैसा नहीं है। गुण अलंकार आदि से भी श्रोता को स्वाद आता है; परंतु रस दशा के जैसा नहीं। रस दशा के आनंद को साहित्यदर्पणकार ने "ब्रह्मानन्दसहोदरः" ऐसा कहा है। और यहां चिंता भाव के साथ रति भाव और उत्कंठा भाव हैं; परंतु रस दशा में स्थायी भाव को सहचारी

भाव पुष्ट करते हैं, वैसे यहां पुष्ट नहीं करते। यहां सहृदयों का हृदय ही साक्षी है॥ यहां नायिका के रति भाव का आलंबन विभाव नायक है। और "आपने आनन चदं की चांदनी, सों पहिले तन ताप बुझावै" इस वचन से कही हुई नायक की चंद्राननता रूप सुंदरता उद्दीपन विभाव है। और सखी प्रति यह नायिका का वचन उक्त अनुभाव है। और नायिका की नेत्र विकासादि चेष्टा गम्य अनुभाव है। रस शब्द का अर्थ है स्वाद लेना। कहा है धातुपाठ में "रस आस्वादे" रस धातु स्वाद लेने अर्थ में है "रस्यते इति रसः" यह रस शब्द की व्युत्पत्ति है। अर्थात् यह अक्षरार्थ है कि जिस का स्वाद लिया जावे वह रस। "आङ्" उपसर्ग यहां अभिव्याप्ति अर्थ में है। कहा है चिंतामणि कोषकार ने "आङ् अभिव्याप्तौ" अभिव्याप्ति तो चारों ओर से व्याप्ति। स्वाद शब्द का अर्थ है रस का ग्रहण करना। कहा है चिंतामणि कोषकार ने "स्वादो रसग्रहणे" रस का ग्रहण जो है वह स्वाद है। आस्वाद इस शब्द समुदाय का अर्थ है चारों ओर से जिस का स्वाद लिया जावे। शाक के साथ लवण मिरची इत्यादि का भी स्वाद लिया जाता है। जैसे यहां भी स्थायी भाव के साथ व्यभिचारी भाव, विभाव, अनुभाव का भी स्वाद लिया जाता है। लोक रस तो छः हैं॥ सो ही कहा है न्याय शास्त्र में। मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय, और तिक्त॥ मधुर मीठा। अम्ल खट्टा। लवण खारा। कटु चरपरा। कषाय कसैला, जैसा कि हरड़े वगैरः। तिक्त कड़ुआ। इन रसों का ग्रहण तो रसना से मज़ा लेना है। इस लोक न्याय से रत्यादि भाव का स्वाद लेना तो रत्यादिक का मन से मज़ा लेना है। सो ही कहा है भरत भगवान् ने—

यथा बहुद्रव्ययुतैर्व्यञ्जनैर्बहुभिर्युतम्।
आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्तं भक्तविदो जनाः॥ १॥
भावाभिनयसंबद्धान्स्थायिभावांस्तथा बुधाः।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः॥ २॥

अर्थ—जिन में वहुतसे पदार्थ मिले हुए हैं ऐसे वहुतसे व्यंजनों से युक्त भोजन करते हुए भोजन के ज्ञाता पुरुष जैसे भक्त अर्थात् भोज्य पदार्थ का स्वाद लेते हैं, ऐसे ही पंडित लोग भाव और अभिनय से वंधे हुए स्थायी भावों का मन से "आस्वादयन्ति" अर्थात् मज़ा लेते हैं। इस से ये नाट्य के रस स्मरण किये गये ॥ भोजनादि का स्वाद भी रसनादि वाह्य इंद्रियों की सहायता से मन से ही आत्मा को आता है, परंतु काव्यार्थ का स्वाद तो वाह्य इंद्रियों की सहायता विना मन से आत्मा को आता है. स्वाद आनंद का विशेष है। धन पुत्र आदि की प्राप्ति में भी आनंद है, परंतु वह आनंद स्वाद रूप नहीं। और खान पानादि से जो आनंद होता है वह आनंद स्वाद रूप है। लोक में रसनेंद्रिय से मधुरादि रस का अनुभव हो करके आनंद होता है उस का स्वाद व्यवहार है। उस न्याय से काव्य निवंधित अथवा नाटक निवंधित विभावादि सामग्री से उल्लासित रत्यादिकों के अनुभव से तद्वासना वासित हृदयों को जो आनंद होता है उस का स्वाद व्यवहार है। यह आनंद इतर आनंद से उत्कृष्ट है। जैसे कि इतर अनुभावों से सात्विक अनुभाव उत्कृष्ट हैं। शोक, क्रोध, भय और जुगुप्सा ये भाव जिस के मन में उत्पन्न होते हैं उस को आनंद नहीं होता, परंतु वे नाटक में अथवा काव्य में निवंधित होवें तव सामाजिकों को तो आनंद ही होता है। यह अनुभव सिद्ध है॥ लोक में अनेक वस्तु मिल करके मुख्य वस्तु को स्वाद करती हैं। जैसा कि रसोई में लवण, मिरची इत्यादि मिल करके शाक को स्वाद करते हैं। इस न्याय से आलंवन विभाव, उद्दीपन विभाव, संचारी भाव और अनुभाव ये सव मिल करके स्थायी भाव को स्वाद करते हैं। इस दशा में स्थायी भाव की रस संज्ञा होती है। सो ही कहा है भरत भगवान् ने—

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"॥

अर्थ—विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति अर्थात् सिद्धि है॥ कहा है किसी प्राचीन ने—

"व्यञ्जनौषधिसंयोगो यथान्नं स्वादुतां नयेत्।

एवं नयन्ति रसतामितरे स्थायिनं श्रिताः ॥ १ ॥

अर्थ—व्यंजन और औषधी अर्थात् लवण मिरची इत्यादि का संयोग जैसे अन्न को स्वाद करता है, वैसे इतर अर्थात् विभावादि स्थायी का आश्रय ले करके स्थायी को स्वाद करते हैं ॥ व्यंजन शब्द का अर्थ है दधि घृत दाल और शाक आदि ॥ शाक छः प्रकार का है—

"पत्रं पुष्पं फलं नालं कन्दं संस्वेदजं तथा ।
शाकं षड्विधमुद्दिष्टं गुरु विद्याद्यथोत्तरम्" ॥ १ ॥

अर्थ—पत्र, पुष्प, फल, नाल अर्थात् डांडी, कंद अर्थात् मूल विशेष सूरण आदि । संस्वेदज अर्थात् नवीन निकले हुए अंकुर । ऐसे शाक छः प्रकार का कहा गया है । ये क्रम से गुरु अर्थात् दुर्जर हैं ॥ दशरूपक में भी कहा है—

"विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ।
आनीयमानःस्वादुत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः" ॥ १ ॥

अर्थ—विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव और व्यभिचारी भावों करके लाये हुए स्वादवाले स्थायी भाव को रस कहते हैं ॥ कहा है विद्यानाथ ने भी—

"विभावानुभावसात्त्विकव्यभिचारिसामग्री-
समुल्लासितः स्थायिभावो रसः । इति ॥"

अर्थ—विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव, और व्यभिचारी भाव इस सामग्री से भले प्रकार उल्लास युक्त किया हुआ स्थायी भाव रस होता है ॥ सात्विक शब्द का अर्थ किया है प्रतापरुद्रीय ग्रंथ के कर्ता विद्यानाथ ने—

"परगतसुखादिभावनया भावितान्तःकरणत्वं सत्त्वम्"

अर्थ—भावना शब्द का अर्थ ध्यान भी है । कहा है चिंतामणि कोषकार ने "भावना ध्याने" पर गत अर्थात् दूसरे में रहते हुए सुखादिकों के ध्यान करके वासना युक्त किये हुए अन्तःकरण को सत्त्व कहते हैं । "सत्त्वाद्भवाः सात्त्विकाः" उक्त सत्त्व से भये हुओं को सात्विक कहते हैं ॥ उक्त सत्त्व के अनुभावों को सात्विक संज्ञा है ।

नायक विषयक रति नायिका को, अथवा नायिका विषयक रति नायक को, एक ओर से होवे उस की अपेक्षा, एक को दूसरे के अन्तःकरण में रहती हुई अपनी रति के ध्यान करके वासना युक्त किये हुए निज अन्तःकरण में जो उस दूसरे से रति उत्पन्न होती है वहां अनुभाव भी उत्कृष्ट होते हैं। अनुभाव तो भ्रू नेत्र विकारादि बहुत हैं और उक्त दशा में वे भी होते हैं, परंतु उक्त भाव के बोधक तो स्तंभादिक ही हो सकते हैं। क्योंकि ये अन्य अनुभावों से उत्कृष्ट हैं। जैसे कि भाव बहुतसे हैं, परंतु स्थायी भाव होने के योग्य तो रत्यादि नव भाव ही हैं॥ सात्त्विक भाव आठ हैं। सो ही कहा है महाराजा भोज ने—

स्तम्भस्तनूरुहोद्भेदो गद्गदः स्वेदवेपथू।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलयावित्यष्टौ सात्त्विका मताः ॥ १ ॥

अर्थ—स्तम्भ निश्चेष्टता अर्थात् चेष्टा रहित हो जाना। तनूरुहोद्भेद रोमांच। गद्गद स्वरभंग। स्वेद पसीना। वेपथु कांपना। वैवर्ण्य वर्ण का अन्यथा हो जाना। अश्रु आंसू। प्रलय चेष्टाज्ञाननिराकृति, अर्थात् चेष्टा करने का ज्ञान न रहना। स्तंभ में चेष्टा करने का ज्ञान रहता है, परंतु शरीर जड़ हो जाने से चेष्टा नहीं हो सकती॥
यथाः—

॥ दोहा ॥

पाय कुंज एकंत में, भरी अंक ब्रजनाथ।
रोकन कों तिय करत पैं, कह्यो करत नहिं हाथ॥ १॥

इति रसराज भाषा ग्रंथे।

स्तंभादि अनुभाव उक्त दशा विना भी भाव की उत्कृष्टता से शृंगार रस में और दूसरे सब रसों में भी होते हैं॥
यथा—

॥ भुजंगप्रयात ॥

भज्यो नां गयो सो रह्यो चित्रको सो,
लख्यो सूत को पूत ही जीवतो सो॥

इति संग्रामसार भाषा ग्रंथे।

यहां महाभारत में द्रोणाचार्य के रात्रि युद्ध में पांडवों की से-

ना के सुभटों का स्तंभ, भय स्थायी भाव का अनुभाव है। परंतु स्तंभादि अनुभावों में सात्विकता की योग्यता होने से वैसी दशा विना भी सात्विक व्यवहार है। जैसा कि रस दशा विना भी योग्यता से रत्यादिकों को स्थायी व्यवहार है। इस रीति से स्तंभादि को सर्वत्र सात्विक संज्ञा की प्राप्ति होने से प्राचीनों ने लक्षणों में अनुभाव ऐसा सामान्य कह कर विशेष सात्विक ऐसा भी कहा है॥ स्त्रियों के भ्रूनेत्रादि विकार रूप शृंगार के अनुभावों की धोरी ने हाव संज्ञा इस अभिप्राय से कही है कि स्त्रियों के ये अनुभाव कामियों के मन का आकर्षण करते हैं॥ हाव शब्द की यह व्युत्पत्ति है "हूयन्ते रागिणोऽनेनेति हावः" आव्हान किया जाता है रागी पुरुषों का इस से सो हाव। हाव शब्द का अर्थ है आव्हान। कहा है चिंतामणिकोपकार ने "हावः आव्हाने" भ्रूनेत्रादि विकार रूप शृंगार के अनुभाव पुरुष में भी होते हैं, परंतु स्त्रियों की चेष्टा जैसी पुरुष की चेष्टा मनोहारी नहीं होती यह अनुभव सिद्ध है। इसलिये धोरी ने स्त्रियों के अनुभावों की हाव संज्ञा कही सो समीचीन है। लीला १ विलास २ विच्छित्ति ३ विभ्रम ४ किलकिंचित् ५ मोट्टायित ६ कुट्टमित ७ विव्वोक ८ ललित ९ विहृति १० इन दश चेष्टाओं की भी हावों में गणना की है। लीला शब्द आचरण अर्थ में वरतता है॥ माघ में यह श्लोक है–

उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जा-
वहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम्।
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टा-
द्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम्॥ १॥

अर्थ–फैली हुई और ऊंची किरण रूपी रज्जुवाले सूर्य के उदय होते और चंद्रमा के अस्त होते समय यह पर्वत लटकती हुई दो घंटा युक्त गजराज की लीला अर्थात् आचरण को धारण करता है॥ यहां स्त्री के पुरुषाचरण में लीला शब्द का संकेत है. धोरी ने इस हाव का लीला ऐसा नाम रूप लक्षण ही कहा है. भरत भगवान् ने नाम से इतर वक्ष्यमाण लक्षण बनाया है. भरत से पहिले उक्त हाव धोरी से लखा गया

है सो भरत के लक्षण में " आकथयन्ति लीलाम् " ऐसा कहने से सिद्ध है. भरत भगवान् का यह लक्षण है—

अप्राप्तवल्लभसमागमनायिकायाः
सख्याः पुरोऽत्र निजचित्तविनोदबुद्ध्या ॥
आलापवेशगतिहास्यविलोकनाद्यैः
प्राणेश्वरानुकृतिमाकथयन्ति लीलाम् ॥ १ ॥

अर्थ–जिस को प्रिय समागम प्राप्त नहीं हुआ है उस नायिका का सखी के साम्हने अपने चित्त विनोद की बुद्धि से आलाप, वेश, गति, हास्य और दर्शन आदि से जो प्राणेश्वर का अनुकरण अर्थात् नकल करना उस को लीला कहते हैं ॥ यह लक्षण भरत प्रणीत नाट्यशास्त्र में नहीं है वहां दूसरा लक्षण है ॥ परंतु चिंतामणि कोपकार ने लीला शब्द के प्रसंग में उक्त लक्षण भरत के नाम से लिखा है, सो यह लक्षण भरत के बनाये किसी दूसरे ग्रंथ का परंपरा प्राप्त है; क्योंकि कोपकार प्रमाण मिले विना किसी का नाम नहीं लिखते. भरत भगवान् ने—

॥ दोहा ॥

पिय के ध्यान गही गही, रही वही व्है नार ।
आप आपही आरसी, लख रीझत रिझवार ॥ १ ॥

इति विहारीसप्तसत्याम् ।

ऐसे लभ्य उदाहरणानुसार लीला हाव का हेतु वियोग है ऐसा नियम किया, और सखी के साम्हने का उदाहरण मिलने से सखी के साम्हने होने का नियम किया, सो समीचीन नहीं; क्योंकि लीला हाव संयोग में भी होता है। और नायक के साम्हने भी होता है। और किसी के साम्हने नहीं अर्थात् एकांत में भी होता है ॥

यथा–

॥ दोहा ॥

राधा हरि हरि राधिका, वन आये संकेत ॥
दंपति रति विपरीत सुख, सहज सुरत ही लेत ॥ १ ॥

इति विहारीसप्तशत्याम् ॥

हो जाती है इत्यादि ॥ प्राचीन कहते हैं कि काव्य में भाव को वचन से कहना दोष है, सो हमारे इष्ट नहीं । वेदव्यास भगवान् ने दोष का यह लक्षण कहा है–

उद्वेगजनको दोषः सभ्यानां स च सप्तधा ॥

अर्थ– सामाजिकों को उद्वेग उत्पन्न करै वह दोष सात प्रकार का है ॥ सो वचन से कहा हुआ भी भाव उद्वेग जनक न होवे तो दोष नहीं है ॥

॥ छप्पय ॥

प्रिय मुख सव्रीड़ाहि दुरद चर्मांवर सकरुन ।
भुजग राज भय सहित भाल शशि कों अचर्ज पुन ॥
कल्लोलत सुर सरित शीश ईर्षा जुत ताकँह ।
कर मध लसत कपाल सहित अतिशय जु शोक तँह ॥
देखत जु प्रथम संगम समय सयल सुता की दृष्टि वह ।
नित देहु नृपति जसवंत तुव मन वांछित सुख संपदह ॥ १ ॥

यहां लज्जादि भावों का शब्द से कथन है, परंतु उद्वेग जनक न होने से दोष नहीं यह अनुभव सिद्ध है । स्थायी संज्ञा को प्राप्त होने के योग्य भाव आठ अथवा नव हैं ॥

॥ चौपाई ॥

रति १ रु हास २ फिर शोक ३ पिछानहु,
क्रोध ४ उछाह ५ रु भय ६ को जानहु ।
जुगुप्सा ७ रु विस्मय ८ है स्थायी,
पुन निर्वेद ९ नवमता पायी ॥ १ ॥

संचारी संज्ञा को प्राप्त होने के योग्य भाव तेतीस हैं ।

वैताल

निर्वेद १ ग्लानी २ और शंका३
असूया ४ मद ५ जान ।

श्रम ६ बहुरि आलस ७ दैन्य ८ चिंता ९
मोह १० को पहिचान।
स्मृति ११ धृती १२ व्रीड़ा १३ चपलता १४ पुन
हर्ष १५ संभ्रम १६ होय।
जड़ता १७ रु गर्व १८ विषाद १९ भाखत
औत्सुक्याहिं २० लोय ॥ १ ॥
है फेर निद्रा २१ अपस्मार २२ जु
सुप्त २३ और प्रबोध २४।
अमरष २५ रु गन अवहित्थ २६ त्योंही
उग्रता २७ मति २८ सोध।
व्याधी २९ रु है उन्माद ३० मरण ३१ जु
त्रास ३२ और वितर्क ३३।
यह भाव संचारी भनत त्रय
तीस सब कवि अर्क ॥ २ ॥

महाराजा भोज ने भी संचारी भाव तेतीस ही माने हैं, परंतु उन्हों ने मरण और अपस्मार नहीं कहा। स्नेह और ईर्षा से तेतीस की पूर्ति की है। सो स्नेह तो रति का ही पर्याय है। ईर्षा तो पर के उत्कर्ष का असहन है। और असूया पर के गुण में दोष का आरोप करना है, इसलिये ईर्षा का असूया में अंतर्भाव है। मोह को ही मूढ़ता कहते हैं। संभ्रम को ही आवेग कहते हैं। औत्सुक्य को ही उत्कंठा कहते हैं। व्याधि को ही गद कहते हैं। नाटक में शृंगारादि आठ ही रस गिने गये हैं, इसलिये उस मत से निर्वेद की संचारी भाव में गणना की गई है। काव्य मत में नवमा शांत रस माना गया है, इसलिये निर्वेद को स्थायी भाव माना है ॥

अब रत्यादि भावों के उदाहरण दिखाये जाते हैं ॥

॥ रति ॥

रति प्रीति का पर्याय है। इस के अनेक प्रकार हैं ॥

देवता विपयक रति यथा—

॥ दोहा ॥

मोर मुकुट कट काछनी, कर मुरली उर माल ।
यह वानक मो मन सदा, वसहु विहारी लाल ॥ १ ॥

इति विहारी सप्तशत्याम् ॥

गुरु विपयक रति यथाः—

॥ दोहा ॥

गुरु गोविंद दोनों खड़े, धुर किंह लागिये पाय ।
वलिहारी गुरु देव की, गोविंद दिये वताय ॥ १ ॥

इति कस्यचित्कवेः ॥

राजा विपयक रति यथाः—

॥ दोहा ॥

दीठ न दे अवगुण दिशा, गुणहिज ग्रहण करंत ।
देजे श्री खाविंद दई, जनम जनम जसवंत ॥ १ ॥

कांता विपयक रति यथाः—

॥ दोहा ॥

सुन अपछर के रूप गुन, शास्त्रन के सतसंग ।
नर नाहर गजसिंघ नृप, जुरत जितें तित जंग ॥ १ ॥

यहां महाराजा गजसिंघ का अप्सरा विपयक रति भाव व्यंग्य है। श्रालंवन विभाव अप्सरा है। उद्दीपन विभाव अप्सरा का रूप और गुण है। जहां तहां युद्ध करना अनुभाव है। यहां रति व्यंग्य है जिस का और वाच्यार्थ के क्रम का भलीभांति वोध नहीं होता, जैसा कि "अनिमिप अचल जु वक वकी" इति ॥ वहां वाच्यार्थ वोध के अनंतर व्यंग्यार्थ का वोध क्रम से भलीभांति होता है इसलिये यहां असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य है। ऐसा भावों में सर्वत्र जान लीजियो।

॥ हास २ ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

मिल मुल्लां काजी करत, एक राह कज वात ।
सुन विकसत अवरँग समय, अधर मुरद्धरनाथ ॥ १ ॥

यहां मरुधराधीश महाराजा वड़े जसवंतसिंघ का हास भाव व्यंग्य है । और सव को मुसल्मान करने के लिये काजी मुल्लाओं का मिल कर सलाह करना आलंवन विभाव है । काजी मुल्लाओं का भापण इत्यादि कृत्य उद्दीपन विभाव है । महाराजा का अधर विकास अनुभाव है ॥

॥ शोक ३ ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

तूटो ध्वज दँड धर्म को, खूटो सुख जन वृंद ।
फूटो सुकवि मराल को, मानों मांन समंद ॥ १ ॥

यहां वक्ता का शोक भाव व्यंग्य है । राजराजेश्वर मानसिंघ का स्वर्ग गमन आलंवन विभाव है । धर्मवत्ता आदि गुण उद्दीपन विभाव है । वचन अनुभाव है ॥

॥ क्रोध ४ ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

प्रलय रुद्र के तृतिय दृग, ज्यों द्वै दृग जुत ज्वाल ।
सेंभर लरत जु सैद सौं, अविलोक्यो अजमाल ॥ १ ॥

यहां महाराजा अजीतसिंघ का कोप भाव व्यंग्य है । सैयद रूप शत्रु आलंबन विभाव है । उक्त शत्रु की युद्ध क्रिया उद्दीपन विभाव है । नेत्र ज्वाला अनुभाव है ॥

॥ उत्साह ५ ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

विकसित चख मुख फरक भुज, उर वढ़ हरख अतंत ।
तोरन पैं तैसो लख्यो, तो रन पै जसवंत ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर जसवंतसिंघ का उत्साह भाव व्यंग्य है। रण आलंबन विभाव है। चख मुख विकासादि अनुभाव है ॥

॥ भय ६ ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

असित मृगन शिशु दृष्टि को, उपमा स्वतह सुभाय।
ते वनवासिनि रिपु रमनि, वरनन कयो न जाय॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर जसवंतसिंघ के वनवासिनी रिपु रमणियों का भय भाव व्यंग्य है। वन आलंबन विभाव है। दृष्टि की अत्यंत चंचलता अनुभाव है ॥

॥ जुगुप्सा ७ ॥

जुगुप्सा तो घृणा है, जिस को लोक भाषा में सूग कहते हैं ॥
यथाः—

॥ दोहा ॥

वहु नृप भोगी भुवि समझ, तज महाराजा मान।
कीन्हो ले सन्यस्त पद, दिश गिरनार प्रयान॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर मानसिंघ का जुगुप्सा भाव व्यंग्य है। वहुतों के साथ भोग की हुई भूमि आलंबन विभाव है। और भोगनेवाले राजाओं के वनाये हुए सरोवर आदि चिन्ह उद्दीपन विभाव है। संन्यास लेना अनुभाव है ॥

॥ विस्मय ८ ॥

विस्मय तो आश्चर्य है ॥
यथा—

॥ दोहा ॥

जसवँत असित जु असि लता, सुजस सुमन अति श्वेत।
लखनहार अनिमिप रहत, कहत कछु न चित चेत॥ १ ॥

यहां देखनेवालों का विस्मय भाव व्यंग्य है। राजराजेश्वर जसवंतसिंघ की खड्ग लता का उक्त कृत्य आलंबन विभाव है। देखनेवालों का स्तंभ अनुभाव है ॥

॥ निर्वेद ६ ॥

निर्वेद तौ वैराग्य है ॥

यथा—

॥ दोहा ॥

परन कुटी इव मनि महल, रज कन जैसे राज ।
विष इव विभव तज्यो सु नृप, मान धर्म के काज ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर मानसिंघ का निर्वेद भाव व्यंग्य है । धर्म रुचि आलंवन विभाव है । राज्यादि का त्याग अनुभाव है । इन उदाहरणों में रसोत्पत्ति न होने से ये रत्यादिक भाव ही हैं । रसोत्पत्ति में तो तदाकार वृत्ति हो जाती है. मन ब्रह्मानंद सदृश आनंद मग्न हो जाता है । नाटक मतानुसार रस आठ ही मानें तव तौ निर्वेद आदि संचारी तेतीस ३३ हैं । और काव्य मत से नव रस मानें तव निर्वेद शांत रस का स्थायी हो जाने से ग्लानि आदि वत्तीस संचारी हैं ॥

अव ग्लानि आदि संचारीभावों के उदाहरण दिखाये जाते हैं ।

॥ ग्लानि १ ॥

॥ दोहा ॥

आधि व्याधि इत्यादि से, मन वल हानि गलान ।

यथाः—

बहु साधन कर कर अरी, अलपोद्यम उद्यान ॥ १ ॥

आधि व्याधि इत्यादिकों से मन के वल की जो हानि वह ग्लानि है ॥ "बहुसाधन" इति ॥ यहां उत्तरार्ध में राजराजेश्वर जसवंतसिंघ के अरियों के मन के वल की हानि रूप ग्लानि भाव व्यंग्य है । वहु साधन करने पर कार्य सिद्ध न होने से जो मन की आधि अर्थात् पीड़ा है सो आलंबन विभाव है । अल्पोद्यम होना अनुभाव है ॥

॥ शंका २ ॥

॥ दोहा ॥

शंका कहत वितर्क कों, सब कवि को समुदाय ॥

वितर्क एक कोटिक संदेह को कहते हैं ॥

यथा—

छप्पय

सद विक्रम मद ऊक दुरद धक्कन जु ढहावहिं ।
कैधों वनिता वैरि नयन वारिहिं जु वहावहिं ॥
हय खुरतारन किधों देहिं उड़वाय खेह कर ।
कैधों करि हें भस्म ज्वलति पूरन प्रताप भर ॥
रवि वंशी मान प्रकोप तें सोचत अर्बुद द्यौंस निश ।
वाशिष्ट आंन थाप्यो यहां वचन भरोसो वाहि दिश ॥ १ ॥

इति पितामह कविराज वांकीदासस्य ॥

यहां अर्बुद का वितर्क भाव व्यंग्य है । राजराजेश्वर मानसिंघ का कोप आलंबन विभाव है । झरना रूप अश्रुपात अनुभाव प्रतीयमान है । शंका शब्द के दो अर्थ हैं । त्रास और वितर्क । कहा है चिंतामणिकोपकार ने "शंका त्रासे, वितर्के, इति शब्दार्णवे" यहां शंका शब्द का अर्थ त्रास करें तो त्रास संचारी से यह शंका संचारी जुदा नहीं होता । और वितर्क अर्थ करें तो वितर्क संचारी से यह शंका संचारी जुदा नहीं होता । प्राचीन ऐसा कहते हैं कि अनिष्ट संबंधी वितर्क तो शंका संचारी है, जैसा कि उक्त उदाहरण । और इतर वितर्क वितर्क संचारी है । यथा—

॥ चौपाई ॥

भुवि कन्या न होय जो भुवि गत,
तो मैं जीवत कैसे हनुमत ।
विंन आधाराधेय न रहता ।
सुन यह श्रुति स्मृति सबहि जु कहता ॥ १ ॥

मैं जीता हूं इसलिये सीता पृथ्वी पर होवेगी, ऐसा एक कोटिक संदेह रूप वितर्क इष्ट संबंधी वितर्क होने से शंका संचारी से विलक्षण यह वितर्क संचारी है, ऐसा प्राचीनों का सिद्धांत है । सो हमारे मत यह किंचिद्विलक्षणता वितर्क संचारी का प्रकारांतर होने के योग्य है, न कि भावांतर होने के योग्य, इसलिये शंका संचारी जुदा नहीं है ।

संदेह दो प्रकार का है। उभय कोटिक संदेह और एक कोटिक संदेह। सो संदेह का एक प्रकार तौ संचारी होवे और एक प्रकार संचारी न होवे इस में कोई हेतु नहीं। उभय कोटिक संदेह की संचारिता का उदाहरण हम दिखाते हैं ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

दूर सिया पावस प्रवल, पूरव पवन चलंत।
इंदु कि विषधर फन लछन, गिरि सिर निकस्यो हंत ॥ १ ॥

यहां संदेह रूप शंका संचारी है। जिस का आलंवन विभाव चंद्रोदय है। और अनुभाव वचन है। पावस ऋतु में पूर्व दिशा का पवन चलता है, उस समय में सर्पों का संचार वहुत होता है, और उस समय में उन के विष की भी वृद्धि होती है ॥ ऐसी शंका न करनी चाहिये कि चंद्रमा तौ श्वेत है, इस में सर्प के फन का संदेह कैसे? क्योंकि सर्प श्वेत भी होते हैं। शेष, वासुकि इत्यादि श्वेत हैं। पूर्ण चंद्रमा में उक्त रीति से वर्ण और फन की आकृति है। और भय दायक शील है। सर्प के मुख पर वाल होते हैं, सो यहां किरणें हैं। हमारे मत यहां शंका का अर्थ संदेह करना चाहिये, जिस से दोनों प्रकारों का संग्रह हो जाता है ॥

॥ असूया ३ ॥

चौपाई ॥

पर भलपन को सहन न होई,
कहत असूया नृप सब कोई ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

ये इभपति पद प्राप्त व्हैं, समुझ यहै जसवंत।
कवि घर घर कीन्हे करी, कमध पुरन्दर कंत ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर जसवंतसिंघ का इंद्र प्रति असूया भाव व्यंग्य.

है। इंद्र की इभपति पदवी की महिमा आलंबन विभाव है। कवियों के घर घर करी करना अनुभाव है॥

॥ मद ४ ॥

दोहा ॥

कहत नसे कों सद कवी, मद यह जानहु भूप ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

जग जाहर जस वंसवर, आज्ञा अमिट अतंत।
है यातैं घूर्णित नयन, निश वासर जसवंत ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर जसवंतसिंघ का मद भाव व्यंग्य है। निज जस की प्रसिद्धता आदि आलंबन विभाव है। नेत्रों की घूर्णता अर्थात् भ्रमण अनुभाव है॥

॥ श्रम ५ ॥

मन थकान कों श्रम कहत, नृपति पुराने लोक ॥

यथाः—

दोहा ॥

जब जब गुन जसवंत के, वसुधा करत विख्यात।
तब तब महा कवींद्र हू, विन वाणी व्है जात ॥ १ ॥

यहां महाकवियों का श्रम भाव व्यंग्य है। राजराजेश्वर के गुणों का बाहुल्य आलंबन विभाव है। और महाकवियों की वाणी का रुक जाना अनुभाव है। ग्लानि में तौ मन के बल का घट जाना है। यहां तौ मन का थक जाना है॥

॥ आलस्य ६ ॥

दोहा ॥

काम करन में अरुचि वह, आलस जान नृपाल ॥

यथाः—

दोहा ॥

जस गाहक जसवंत नृप, है अवनी में आज ।
उठहु पढ़हु निज बालकन, कहत जु सुकवि समाज ॥ १ ॥

यहां कवि बालकों का आलस्य भाव व्यंग्य है। जस को नहीं चाहनेवाले राजा आलंवन विभाव है। बालकों का पढ़ने में विलंव करना अनुभाव है ॥

॥ दैन्य ७ ॥

दोहा ॥

होय ग़रीबी तिंह कहत, दीनता जु सव कोय ।
गर्वहि के विपरीत में समभत नृप कवि लोय ॥ १ ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

कहत न धन्वी वीरवर, तुव जसवंत भुवाल ।
कहत जु अरि कर जोर कर, तुम हो दीनदयाल ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर जसवंतसिंघ के शत्रुओं का दैन्य भाव व्यंग्य है। राजराजेश्वर जसवंतसिंघ का धन्वीपन वीरवरपन आलंवन विभाव है। और शत्रुओं को युद्ध में गर्व होवे तो राजराजेश्वर जसवंतसिंघ को धन्वी वीरवर ऐसा संवोधन कहैं, परंतु शत्रुओं का दीन दयाल ऐसा संवोधन करना, हाथ जोड़ना दीनता का अनुभाव है ॥

॥ चिन्ता ८ ॥

चिंता (चिंतवन) अर्थात् आलोचन ।

॥ दोहा ॥

चिन्ता कहिये चिंतवन, जाहर यह जसवंत ॥

यथा—

॥ दोहा ॥

पाय परें अपजस जगत, लरें तौ लहियें हार।
करें वास वन विपत अति, तुव अरि करत विचार॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर जसवंतसिंघ के शत्रुओं का चिंता भाव व्यंग्य है। राज प्रभाव अलंवन विभाव है। अरियों की चेष्टा अनुभाव गम्य है ॥

॥ मोह ९ ॥

॥ दोहा ॥

वेहोशी कों कहत हैं, मोह नृपति कविराय ॥

यथा—

॥ दोहा ॥

भौ मरु दल सनमुख उमग, खिच खग उठे तुखार ॥
फिर क्या भौ जानत न हम, पढ़त जु पेखनहार ॥ १ ॥

यहां जुद्ध देखनेवालों का मूर्छा भाव व्यंग्य है। जुद्ध की दारुणता आलंबन विभाव है। चेष्टा रहित होना अनुभाव है॥

॥ स्मृति १० ॥

॥ दोहा ॥

स्मृति जु कहत नृप स्मरण कों, समुझत यह सव कोय ॥

यथा—

॥ दोहा ॥

जव जव जुध इभ सिंघ को, तेरे अरि उद्यान।
पेखत तव तव तुरत ही, व्है विवरणतावान् ॥ १ ॥

यहां शत्रुओं के मरु नरेश्वर के युद्ध की स्मृति भाव व्यंग्य है। करी आदि का युद्ध दर्शन आलंवन विभाव है। विवर्णता अनुभाव है।

॥ धृति ११ ॥

॥ दोहा ॥

धृति तृप्ती कों कहत हैं, नृप कवि को समुदाय ॥

महाराजा भोज का यह लक्षण है-

अभीष्टार्थस्य संप्राप्तौ स्पृहापर्याप्तता धृतिः॥

अर्थ—वांछितार्थ की भले प्रकार प्राप्ति में जो वांछा की समाप्ति सो धृति ॥

यथा—

॥ सवैया ॥

पारस की परवाह नहीं,
परवाह रसायन की न रही है ।
वंक सौं दूर रहो सुरपादप,
चाह मिटी कित मेरु मही है ॥
देवन की सुरभी दिस दौर,
थकी मन की सब सांची कही है ।
मांग हों एक मरूपति मांन कों,
नाथ निवाहेगो टेक गही है ॥ १ ॥

इति पितामह कविराज वांकीदासस्य ॥

यहां कविराज वांकीदास का धृति भाव व्यंग्य है। राजराजेश्वर मानसिंघ का अत्यंत दान आलंबन विभाव है। पारस आदि प्रति तिरस्कार वचन अनुभाव है ।

॥ व्रीड़ा १२ ॥

॥ दोहा ॥

लज्जा व्रीड़ा लेखिये, नृप यह परम प्रसिद्ध ।

यथा—

दोहा ॥

दान कथा जसवंत की, सुनत जवै धुनि सीस ।
शशि के उदै सरोज लौं, सकुचत अन अवनीस ॥ १ ॥

यहां अन्य अवनीश्वरों का लज्जा भाव व्यंग्य है । राजराजेश्वर जसवंतसिंघ की दान कथा का श्रवण आलंबन विभाव है । सिर कंपन, संकोच अनुभाव है ॥

॥ चपलता १३ ॥

॥ दोहा ॥

अस्थिरता है चपलता, जाहर भूप जिहांन ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

सुन जसवंत निशान धुन, तज हित वनिता वित्त ।
होत पताका पट सदृश, अरि भूपनके चित्त ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर जसवंतसिंघ के अरि भूपों की चपलता भाव व्यंग्य है । निशान धुनि श्रवण आलंबन विभाव है । क्रिया की अस्थिरता अनुभाव प्रतीयमान है ॥

॥ हर्ष १४ ॥

मन प्रसन्नता हर्ष महीपति ॥

यथा—

दोहा ॥

रूप मनोज अनूप गुन, भुवि कलप्टच्छ विख्यात ।
निरखत नृप जसवंत कों, अंग न वसन समात ॥ ३ ॥

यहां देखनेवालों का हर्ष भाव व्यंग्य है । राजराजेश्वर जसवंतसिंघ आलंबन विभाव है । उन के उक्त गुण उद्दीपन विभाव हैं । शरीर का फूलना अनुभाव है ॥

॥ संभ्रम १५ ॥

इसी को आवेग कहते हैं ॥

नृप आवेग तुरा पहिचानहु ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

पढ़त हि जस जसवंत के, वढ़त वीरता स्रोत ।
पूरन होने के प्रथम, दे दत ऊरन होत ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर जसवंतसिंघ का त्वरा भाव व्यंग्य है । जस पाठ आलंबन विभाव है । कवित्व पाठ पूरन होने से प्रथम दान अनुभाव है ॥

॥ जड़ता १६ ॥

॥ दोहा ॥

क्रिया करनमें मंदता, सो जड़ता पहिचान ॥

यथा—

॥ दोहा ॥

यह न सभ्झन शृंगार को, नहीं जु गृह को काज ।
शीघ्र भजहु तिय अरि कहत, आये मरु दल आज ॥ १ ॥

यहां अरि अंगनाओं का जड़ता भाव व्यंग्य है । स्त्रियों का स्वभाव आलंबन विभाव है । विलंब अनुभाव है ।

॥ गर्व १७ ॥

॥ दोहा ॥

अहंकार कों कहत हैं, गर्व सर्व सुन भूप ॥

यथा—

॥ दोहा ॥

कर्न स्वर्न ही दान दिय, इक ऋतु दत सुरपत्त ।
सब वस्तू सब समय दे, मम स्वामी जसवत्त ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर जसवंतसिंघ के दासों का गर्व भाव व्यंग्य है। राजराजेश्वर का समस्त वस्तुओं का सर्वदा दान आलंबन विभाव है। वचन अनुभाव है ॥

विषाद १८ ॥

॥ दोहा ॥

दुख कों कहत विषाद हैं, वसुधा में विख्यात ।

यथाः—

॥ दोहा ॥

कुसुम सेभ कसकत हुती, किय कंटक भुवि सैन ।
कहत जु तुव अरि तियनसौं, निरखत हैं हम नैन ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर के शत्रुओं का विषाद भाव व्यंग्य है। तादृश शत्रुस्त्रियों का कंटक भूमि शयन आलंबन विभाव है। अरियों का वचन अनुभाव है।

॥ औत्सुक्य १९ ॥

इस को उत्कंठा कहते हैं ॥

॥ दोहा ॥

कालक्षेप को असहन जु, इष्ट लाभ में होय ।
ता कों उत्कंठा नृपति, कहत सुकवि सब कोय ॥ १ ॥

यथा—

॥ दोहा ॥

दूर देश वासिन सुन्यो, जस तेरो जसवंत ।
तिन दृग विन जल मीन ज्यों, अकुलावत जु अतंत ॥ १ ॥

यहां दूर देश निवासियों का उत्कंठा भाव व्यंग्य है। राजराजेश्वर जसवंतसिंघ का जस श्रवण आलंबन विभाव है। नेत्रों का तड़फना अनुभाव है।

२ आकृति

॥ निद्रा २० ॥

नींद ।

॥ अपस्मार २१ ॥

यह रोग विशेष है। जिस को लोक में मृगी रोग कहते हैं । हमारे मत इस का व्याधि में अंतर्भाव होना योग्य है ।

॥ सुप्त २२ ॥

स्वप्न ।

॥ प्रबोध २३ ॥

जागना ।

॥ अमर्ष २४ ॥

यह तौ क्रोध ही का पर्याय है। क्रोध स्थायी भाव में और अमर्ष संचारी भाव में प्राचीन यह विलक्षणता वताते हैं कि क्रोध स्थायी भाव में तो विनाश में प्रवृत्ति होती है, और अमर्ष संचारी भाव में विमुखता इत्यादि हैं। सो हमारे मत यह किंचिद्विलक्षणता तौ क्रोध का प्रकार ही है ।

॥ अवहित्थ २५ ॥

॥ दोहा ॥

जो गोपन आकार को, सो अवहित्थ जु भूप॥

यथा—

॥ दोहा ॥

कंप भये तुव नाम सुन, हिम गिरि गुहन विपच्छ ।
कहत सीत अति है तऊ, स्थल यह सुंदर स्वच्छ ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर के शत्रुओं के आकार अर्थात् चिन्ह का गोपन भाव व्यंग्य है। दूसरे पुरुष आलंबन विभाव है। वे भय को न जान लेवें इसलिये भय का गोपन है। वचन अनुभाव है।

॥ उग्रता २६ ॥

महाराजा भोज आज्ञा करते हैं कि अपकार करनेवाले के विषय में जो वाक्पारुष्य अर्थात् दुर्वचन सो उग्रता। और रसगंगाधरकार ने कहा है। इस का मैं क्या करूं? ऐसी तिरस्कार आदि से उत्पन्न हुई जो चित्तवृत्ति वह उग्रता। सो हमारे मत इस का भी क्रोध ही में अंतर्भाव है।

॥ मति २७ ॥

शास्त्रादि विचार से निर्णय सो मति। यह आत्म तुष्टि प्रमाण रूप है। सो प्रमाण प्रकरण में दिखाया जायगा। यह स्थायी भाव का सहचारी हो जाने से संचारी भी है ॥

॥ व्याधि २८ ॥

इसी को गद कहते हैं। इसी का पर्याय है रोग। विरहादिकों से मन का ताप वह व्याधि।

यथा–

॥ दोहा ॥

मिटत न चंदन चंद सौं, अरु घनसार जु आप।
कोमल किसलय कमल सौं, तुव अरि तन को ताप ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर के शत्रुओं का मन का ताप रूप व्याधि भाव व्यंग्य है। राजराजेश्वर की शूरता आलंबन विभाव है। चंदन लेपनादि उपचार अनुभाव है।

॥ उन्माद २९ ॥

॥ दोहा ॥

समुझै और जु और कौं, ताहि कहत उन्माद ॥

यथा—

॥ दोहा ॥

सखी न क्यों शिक्षा करत, सझवत क्यों न सिंगार।

गहि वन वेली कों वदत, निमिष निमिष अरि नार ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर के शत्रुओं की स्त्रियों का उन्माद भाव व्यंग्य है। आपदा आदि आलंबन विभाव है। वेली प्रति उक्त वचन अनुभाव है।

॥ मरण ३० ॥

प्राण वियोग।

॥ त्रास ३१ ॥

इस को भय स्थायी भाव से टलाने के लिये महाराजा भोज आज्ञा करते हैं कि अकस्मात् आये हुए भयादिकों से उत्पन्न हुई जो चित्त की चमक वह त्रास।

यथा—

॥ दोहा ॥

वन सिंहन के शब्द की, सुन प्रतिधुनि जु पहार।
उर लपटत अरि नारियां, पिय पिय पियही पुकार ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर के अरि स्त्रियों का त्रास भाव व्यंग्य है। उक्त सिंह नाद आलंबन विभाव है। पिय पिय पुकारना, लपटना अनुभाव है। हमारे मत यह भय से भिन्न नहीं।

॥ वितर्क ३२ ॥

इस का शंका में अंतर्भाव है। सो कह आये हैं॥ कितनेक भावों का अंतर्भाव मान लेने से उक्त संख्या में क्रमी हो जावे, अथवा कोई अधिक मान लेने से उक्त गणना से अधिक हो जावे, तौ कुछ हानि नहीं। जैसा कि धृति को लोक में धैर्य कहते हैं। यह चपलता का प्रतिद्वंद्वी है, सो इस को भी संचारी भाव मान लेवें तौ चौतीस हो जायगे। ऐसे और भी जान लेना चाहिये॥

इन पूर्वोक्त समस्त उदाहरणों में तौ भाव की स्थिति दशा है। उदय होता हुआ भाव भावोदय है। शांत होता हुआ भाव भावशांति है॥

यथा—

॥ दोहा ॥

लख अरि रन चख अरुनिमा, वढ़न लगी जसवंत।
घटन लगी अंजलि निरख, पवनहिं ज्यों घन पंत ॥ १ ॥

यहां पूर्वार्द्ध में राजराजेश्वर जसवंतसिंघ के क्रोध रूप भाव की उदय अवस्था है। और उत्तरार्द्ध में क्रोध की शांत अवस्था है। यहां क्रोध भाव के उदय का आलंबन विभाव अरि हैं। अनुभाव नेत्रों की ललाई का वढ़ना है। और शांति रूप क्रोध भाव का आलंबन विभाव अरियों का अंजलिकरण है। अनुभाव नेत्र अरुणिमा का घटना है॥

जहां विरुद्ध दो भावों की मिलावट होवे वहां भावसंधि है॥ यथा—

॥ दोहा ॥

परशु देख फरकत जु भुज, कंपत लख उपवीत।
रन सनमुख भे राम सों, राम होत यह रीत॥ १ ॥

यहां परशुराम से युद्ध के लिये उद्यत रामचंद्र के उत्साह भाव से तो भुजों का फरकना है। और ब्रह्महत्या रूप भय भाव से भुजों का कांपना है। सो उत्साह और भय आपस में विरोधी होने से इन दो भावों की मिलावट में भावसंधि है। यहां उत्साह भाव का आलंवन विभाव परशु आयुध है। अनुभाव भुजों का फरकना है। और भय भाव का आलंबन विभाव यज्ञोपवीत है। अनुभाव भुजों का कांपना है॥

यथावा—

॥ दोहा ॥

पिय विछुरन को दुसह दुख, हरख जात प्यौसार।
दुरजोधन लौं देखिये, तजत प्रान यह वार॥ १ ॥

इति विहारीसतशत्याम्॥

दुर्योधन के मरण समय में हर्ष शोक की संधि इस रीति से हुई

कि वह रणभूमि में सोया था, उस समय अश्वत्थामा पांचों पांडवों के पुत्रों के मस्तक उस के निकट ले गया, सो आकृति से उन को पांडवों के मस्तक समझ कर दुर्योधन को हर्ष हुआ। और ऐसने से पांडवों के पुत्र समझने से वंश नाश निमित्त से शोक हुआ ॥

अविरोधी अनेक भावों की मिलावट भावशवलता है ॥

यथा—

॥ दोहा ॥

हर्ष गर्व उत्सव त्वरा, स्मृति इत्यादि अनंत।
जग मन भाये भाव बहु, दान समय जसवंत ॥ १ ॥

यहां एक ही राजराजेश्वर जसवंतसिंघ में अनेक भावों की मिलावट भावशवलता है। यहां भाव व्यंग्य नहीं, वाच्य है। दानपात्र यहां आलंबन विभाव है। और उन की विद्वत्ता आदि उद्दीपन विभाव है। और राजराजेश्वर का मुख विकासादि अनुभाव है ॥

व्यंग्य रूप भावशवलता यथा—

॥ चौपाई ॥

इत उत फिरत चुनत हय गय वर,
विकसित चख भाखत निंदा पर ॥
मांगत पत्र पूर्व रिझवारी।
दान समय जसवँत छत्रधारी ॥ १ ॥

यहां भी दानपात्र आलंबन विभाव है। दानपात्र के विद्या आदि गुण उद्दीपन विभाव है। राजराजेश्वर के इधर उधर फिरने रूप अनुभाव से त्वरा भाव व्यंग्य है। अच्छे हाथी घोड़े दान के लिये टाल कर लेने रूप अनुभाव से उत्साह भाव व्यंग्य है। चख विकास अनुभाव से हर्ष भाव व्यंग्य है। इंद्र ने ऐरावत नामक हाथी को अपने घर में ही जीर्ण किया, इत्यादि पर निंदा अनुभाव से निज गर्व भाव व्यंग्य है। और राज्याभिषेक समय इत्यादि पूर्व रिझवारियों की

विगत के पत्र मंगाने रूप अनुभाव से स्मृति भाव व्यंग्य है। भाव-शवलता में आपस में भावों की मुख्यता गौणता नहीं, इसलिये कोई भी संचारी नहीं ॥

भाव का आभास होवे तहां भावाभास है। अविचार दशा में क्षण भर भाव करके भासने से इस का भी ग्रहण किया गया है॥ अनुचित भाव होवे तहां भावाभास होता है ॥

यथा—

॥ दोहा ॥

कैसे खोदे हैं समंद, कैसे भरे जु नीर।
कैसे लंघत हैं नहीं, सीमा भये अधीर ॥ १ ॥

यह निरर्थक चिंता भाव अनुचित होने से भावाभास है ॥

॥ रस ॥

अब रसों के उदाहरण दिखाये जाते हैं ॥

वेद में भी रस कहे हैं। कहा है भरत भगवान् ने नाट्य शास्त्र में—

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च॥
यजुर्वेदादभिनयान्रसानाथर्वणादपि॥ १ ॥

अर्थ—ऋग्वेद से पाठ्य अर्थात् छंदों का, सामवेद से गीत अर्थात् गान विद्या का, यजुर्वेद से अभिनय अर्थात् भाव सूचक चेष्टा का और अथर्वण वेद से रसों का ग्रहण किया है ॥ कहा है चिंतामणि-कोषकार ने "अभिनयः अन्तर्गतभावस्य व्यञ्ज कोङ्गचेष्टाविशेषः" ॥ रस आठ अथवा नव हैं ॥

॥ वैताल ॥

शृंगार हास्य रु करुण रौद्र जु, वीर यह पहिचान।
पुन भयानक वीभत्स अद्भुत, शांत नवम सु जान॥

शृंगार १ हास्य २ करुण ३ रौद्र ४ वीर ५ भयानक ६ वीभत्स ७ अद्भुत ८ और शांत ९ ॥

॥ शृंगार ॥

॥ दोहा ॥

आलंबन रति भाव के, नवल नार अरु कंत ।
शशि घन उपवन आदि दे, उद्दीपन जु अनंत ॥ १ ॥
हर्ष वितर्क रु स्मृति धृती, उत्कंठा अरु चिंत ।
मद इत्यादिक हैं नृपति, संचारी जु अनंत ॥ २ ॥
वचन कटाक्ष विक्षेप भ्रू, मुख विकास मुसक्यांन ।
स्तंभादिक अनुभाव हैं, सुन जसवंत सुजांन ॥ ३ ॥
है रति स्थायी भाव तिंह, विश्व कस्यो वस भूप ।
सुर नर पसु पंछी सबन, एकें भांत अनूप ॥ ४ ॥

शृंगार रस के आलंबन विभाव नायिका नायक हैं। जिन के कई प्रकार पंडितों ने कहे हैं। तहां स्वकीया १ परकीया २ और सामान्या ३ ये तौ प्रकृतिकृत प्रकार हैं। उत्तमा मध्यमा अधमा धीरा अधीरा धीराधीरा और गर्विता ये भी प्रकृतिकृत प्रकार हैं। मुग्धा, मध्या और प्रौढा ये वयकृत प्रकार हैं। नवीनयौवना मुग्धा। पूर्णयौवना प्रौढा। और इन के मध्यवर्ती मध्या। मुग्धा शब्द का अर्थ तौ मूढा है। परंतु यहां उस का नव वय संबंधी अविवेक विवक्षित है, सो वह रमणीय होने से मुग्धा नायिका शृङ्गार रस की आलंबन है। प्रौढ शब्द का अर्थ है प्रकर्ष करके वृद्धि पाया हुआ। कहा है चिंतामणिकोपकार ने "प्रौढः प्रवृद्धे" यहां प्रकर्ष करके वृद्धि पाये हुए यौवनवाली नायिका में प्रौढा शब्द की रूढि है। प्रोषितपतिका आदि दशाकृत प्रकार हैं। प्राचीनों ने उक्त वयकृत प्रकार स्वकीया में ही दिखाये हैं; परंतु हमारे मत परकीया सामान्या में भी इन का बाध नहीं। रसिकप्रिया ग्रंथ में चित्रिणी नायिका का यह उदाहरण दिया है—

॥ सवैया ॥

बोलिवो बोलन को सुनिवो,
अवलोकन को अवलोकन जोते।
नाचवो गायवो वेनु वजायवो,
रीझ रिझायवो जानत तो ते॥
राग विरागन के परिरंभन,
हास विलासन तैं सुख को ते।
तौ मिलती हरि मित्रहि को सखि,
ऐसे चरित्र जो चित्र में होते॥ १॥

प्रत्यक्ष मिलने जैसा सुख चित्र दर्शन में नहीं है। सखी की इस शिक्षा से यह अर्थ सिद्ध है कि यह नायिका प्रत्यक्ष मिलने के रस को अबतक नहीं जानती, इसलिये यह मुग्धा है। और कृष्ण को मित्र कहने से कृष्ण उपपति है, यह सिद्ध होता है। निज पति के लिये मित्र शब्द का प्रयोग नहीं होता। और प्रत्यक्ष जैसा सुख चित्र में होता तो हरि मित्र से कौन मिलती? इस का तात्पर्य यह है कि चित्र में प्रत्यक्ष जैसा सुख होता तो कुल कलंक इत्यादि दुःख सह करके कोई भी कृष्ण से नहीं मिलती। इस कथन से भी इस नायिका का परकीयत्व सिद्ध होता है॥

॥ दोहा ॥

रही अचलसी व्है मनौं, लिखी चित्र की आहि।
तजैं लाज डर लोक कौ, कहो विलोकत काहि॥ १॥

इति विहारीसप्तशत्याम्॥

यह परकीया प्रौढा है। रसराज में मध्यम दूती का यह उदाहरण दिया है॥

दोहा॥

रीझ रही रिझवार वह, तुम ऊपर ब्रजनाथ।
लाज सिंधु की इंदिरा, क्योंकर आवे हाथ॥ १॥

यह परकीया मध्या है। "वह रिझवार तुम पर रीझ रही है। और हाथ क्योंकर आवे" यह कथन परकीया द्योतक है। इसी रीति से सामान्या में समझ लेना चाहिये। प्राचीनों ने गुप्ता, विदग्धा, लच्छिता, कुलटा, मुदिता और अनुशयाना ये परकीया के छः ६ प्रकार कहे हैं। सो हमारे मत गोपन का चमत्कार पर पुरुष की प्रीति मात्र में ही नहीं॥

यथा—

॥ चौपाई ॥

निश दंपति जलपे रस पागे,
कहन लग्यो शुक गुरु जन आगे।
भूषन मनि दे तिंह मुख कर रिस,
वाचा बंध करी दाड़म मिस॥ १॥

यह स्वकीया गुप्ता है। विदग्धता का चमत्कार भी पर पुरुष संबंध मात्र में ही नहीं॥

यथा—

॥ दोहा ॥

अपने मुकताहार कों, पिया गरे पहिराय।
कह्यो तिया यह आप कौं, शोभत है सदभाय॥ १॥

यह स्वकीया विदग्धा है। चातुरी से विपरीत रति की अभिलाषा सूचित करी है॥ लच्छित होने का चमत्कार भी पर पुरुष की प्रीति मात्र में ही नहीं॥

यथा—

॥ दोहा ॥

मेरे पूछे वात तूं, कत बहरावत बाल।
जग जानी विपरीत रति, लखि बिंदली पिय भाल॥ १॥

इति विहारीसप्तशत्याम्॥

यह स्वकीया लक्षिता है। कुलटा शब्द की यह व्युत्पत्ति है। "कुलानि अटति इति कुलटा" बहुत कुलों में भ्रमण करे वह कुलटा। सो रति के लिये होवे तो परकीया कुलटा है। और धन के लिये होवे तो सामान्या कुलटा है। मुदिता का अक्षरार्थ है मोद युक्ता। सो यह भी स्वकीयादि सब हो सकती है। अनुशयाना शब्द का अर्थ है पश्चात्तापवाली। कहा है चिंतामणिकोपकार ने "अनुशयः पश्चात्तापे" संकेत संबंधी पश्चात्तापवाली में अनुशयाना नाम की रूढ़ि है। सो यह प्रकार तो परकीया में ही बन सकता है। प्राचीनों ने वयक्रत प्रकार नायिका में ही दिखाये हैं। परंतु हमारे मत वयक्रत प्रकार नायक में भी संभवते हैं॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

ना ना करतहि बढ़त हित, यह स्वभाव नित नार।
ग्रह एकंत हु तजत है, अज हु अजांन कुमार॥ १॥

यह नायक मुग्ध है। इस प्रकार धोरी के नाम रूप लक्षणानुसार नायिका नायक के प्रकार यथा संभव स्वतः जान लीजियो। ग्रंथ विस्तार भय से हम ने दिशा दर्शन मात्र किया है॥ ऐसा न कहना चाहिये कि सामान्या तो परकीया का प्रकार ही है। स्वकीया, परकीया, सामान्या ऐसे तीन प्रकार क्यों कहते हो? क्यों कि लोक में ये तीनों प्रकार प्रत्यक्ष प्रसिद्ध हैं। सामान्या के विवाहित पति नहीं होता, इसलिये सामान्या की परकीया संज्ञा नहीं होती; परकीया शब्द की व्युत्पत्ति यह है "परस्य इयं परकीया" पर की यह सो परकीया॥ यदि किसी परकीया की धन की अकांक्षा से प्रीति हो तो उस का सामान्या में अंतर्भाव हो जायगा॥

॥ दोहा ॥

है सिंगार रस भांत द्वै, संयोग सु संयोग।
होत वियोग वियोग वह, कहत चतुर्विध लोग॥ १॥
नेह लग्यो मिलबो न भो, सो पूरब अनुराग।

मिल विछुरैं सु प्रवास है, परदेशादि विभाग ॥ २ ॥
मान समय को विरह व्है, ताकों कहियतु मान ।
श्राप हु भेद वियोग को, सुन जसवंत सुजान ॥ ३ ॥

शृंगार रस दो प्रकार का है । संयोग शृंगार और वियोग शृंगार । संयोग शृंगार यथा—

सवैया ॥

लखि निर्जन भौंन जरा उठि सैन सौं,
चूमे सनैं अधरैं सुखदाई ।
छल मीलित नैन सु पी मुख कों,
अवलोकत ही पुलकावलि पाई ॥
जुत लाज भई झट नम्र मुखी,
छबि वा कवि सौं वरनी कव जाई ।
वश आनंद के हस साहस सौं,
शशिकीसी कली चिर कंठ लगाई ॥ १ ॥

यहां नायक नायिका की परस्पर रति स्थायी भाव व्यंग्य है नायक नायिका आलंबन विभाव है । भवन की निर्जनता उद्दीपन विभाव है । लज्जा, हर्ष, हास्य संचारी भाव है । चुंबन, रोमांच, आलिंगन अनुभाव है ॥

वियोग शृंगार के चार प्रकार हैं । मिलने से प्रथम का जो अनुराग वह पूर्वानुराग । मिल के विछुरना वह प्रवास । विदेश, पलकांतर आदि प्रवास के ही विभाग अर्थात् भेद हैं। दंपती में से कोई विदेश में है, अथवा विदेश गमन करता है, अथवा क्षण भर भी दूर है इत्यादि । मान समय का विरह सो मान है । श्राप वश से वियोग वह श्रापहेतुक वियोग है ।

क्रम से यथा—

॥ सवैया ॥

न्योते गये कहुं नेह बढ़्यौ,
मतिराम लगे दृग दोऊं के गाढ़े।
लाल चले घर कों सुनिके,
तिय अंग अनंग की आग सौं दाढ़े॥
ऊंची अटा पर खांधे सहेलि के,
ठोड़ी दिये चितवै दुख बाढ़े।
मोहन जू मन गाढ़ो करैं,
डग द्वैक धरैं फिर होत हैं ठाढ़े॥ १॥

इति रसराज भाषा ग्रंथे।

यहां नायक नायिका आलंबन विभाव है। उन का सौंदर्य इत्यादि उद्दीपन विभाव है। उत्कंठा, चिंतादि संचारी भाव है। तादृश देखना, खड़ा रहना अनुभाव है। यह पूर्वानुराग है।

॥ सवैया ॥

धुरवान की धावन मानों अनंगकी,
तुंग धजा फहरान लगी।
नभ मंडल व्है छित मंडल छ्वै,
छिन जोत छटा छहरान लगी॥
मतिराम समीर लगे लतिका,
विरही वनिता थहरान लगी।
परदेश में पीव संदेश न पायो,
पयोद घटा घहरान लगी॥ १॥

इति रसराज भाषा ग्रंथे।

यहां नायक का विदेश में होना आलंबन विभाव है। धुरवा इत्यादि उद्दीपन विभाव है। त्रास, उत्कंठा आदि संचारी भाव है। कंप अनुभाव है॥

यथावा—

एक में चलेगो मतिराम जब वाट में ।
नागरी नवेली रूप आगरी अकेली रीती,
गागरी ले ठाढ़ी भई वाट ही के घाट में ॥ १ ॥

इति रसराज भाषा ग्रंथे ॥

यहां नायक का विदेश गमन प्रारंभ आलंबन विभाव है। और "पीतम नयन कुवलयन को इंदु" इस विशेषण से नायक का सौंदर्य उद्दीपन विभाव है। विषाद, चपलता इत्यादि संचारी भाव है। रीते घट से अपशकुन कर गमन रोकना अनुभाव है॥

यथावा—

॥ सवैया ॥

परदेश की वात सुनी जव तैं,
सखि वैरन आंखें ये फूटत है ।
हियरो रह्यौ कौनतरेसौ व्हे री,
छिन हू छिन आयुष खूटत है ।
जिंह कारन वास विलास तजे,
वो अकाश की डोरिया तूटत है ।
जोगिया इस धूप में छांहरी दे,
गर बांहरी पीव की छूटत है ॥ १ ॥

इति मरुधराधीश राजराजेश्वर मानसिंहस्य ॥

यहां नायक का भविष्यत् विदेश गमन आलंबन विभाव है। वर्णनीय नायक के लिये इस परकीया का निज गृह सुख त्याग उद्दीपन विभाव है। विषाद, मरण, दैन्य और स्मृति संचारी भाव है। रति स्थायी भाव है। वैवर्ण्य, अश्रु, मुरझाना गम्य अनुभाव और वचन वाच्य अनुभाव है॥ यह होनेवाला प्रवास है॥

॥ सवैया ॥

आलिन के सुख पायवे कों,
पिय प्यारे की प्रीत गई चल वागें।

छाय रह्यो हियरो दुख सौं,
जब देख्यो न व्हां नँदलाल सभागें ॥
काहू सौं बोल कछू न कहै,
मतिराम न चित्त कहूं अनुरागें ।
खेलत खेल सहेलिन सौं,
पर खेल नवेली कों जेल सो लागें ॥ १ ॥

इति रसराज भाषा ग्रंथे ॥

यहां नायक का आने में विलंब आलंबन विभाव है । बाग उद्दीपन विभाव है । विषाद, चिंता आदि व्यभिचारी भाव है । मौन, उदासीनता इत्यादि अनुभाव है । यहां काल विलंबहेतुक वियोग है ॥ ऐसे वियोग शृंगार के बहुत भेद हो सकते हैं । प्रकाशकार वियोग शृंगार के पांच भेद मानता हुआ विरह और प्रवास ऐसे दो भेद कहता है ॥

"अपरस्तु अभिलाषविरहेर्षाप्रवासशापहेतुक इति पञ्चविधः ॥"

अपर अर्थात् वियोग शृंगार अभिलाषहेतुक अर्थात् पूर्वानुराग, विरहहेतुक अर्थात् पलकांतर, ईर्षाहेतुक अर्थात् मान, प्रवासहेतुक अर्थात् विदेश और शापहेतुक ऐसे पांच प्रकार का है ॥ प्रदीपकार स्पष्ट करता है कि गुरुलज्जा इत्यादि से जो वियोग है सो विरहहेतुक वियोग है ॥

यथा—

॥ दोहा ॥

देखैं बनै न देखबो, अन देखैं अकुलांहिं ।
इन दुखियां अँखियान कों, सुख सिरज्यो ही नांहिं ॥ १ ॥

इति विहारी सप्तशत्याम् ॥

यहां मुग्धा अवस्था से उत्पन्न हुई लज्जा से विरहहेतुक वियोग है ॥

॥ सवैया ॥

केशव कैसे हू पूरब पुन्य,
मिल्यो मन भाव तौ भाग भयो री ।
जाने कों माई कहा भयो कैसे हू,

औध को आधक द्यौस टस्यो री
ताकहँ तूं न अजों हस बोलै,
जऊ मेरो मोहन पाय पस्यो री।
काठ हुतें हठ तेरो कठोर,
इते विरहानल हू न जस्यो री॥ १ ॥

इति रसिकप्रियायाम्॥

यहां मान आलंवन विभाव है। त्रास, चपलता, दीनता संचारी भाव है। पायपतन अनुभाव है॥ यह मानहेतुक वियोग है॥

॥ दोहा ॥

पाय पस्यो हों चित्र तो, लिख्यो भूमि मैं आप।
सो भी अश्रुन नष्ट भो, अहो समर्थ जु श्राप॥

यहां श्राप आलंवन विभाव है। तादृश चित्र का नष्ट होना उद्दीपन विभाव है। विषाद, चिंता आदि व्यभिचारी भाव है। अश्रु, वचन अनुभाव है। कुवेर का श्राप यक्ष को हुआ, जिस का यह वर्णन मेघदूत काव्य में है॥ यह शापहेतुक वियोग है॥

यथावा—

॥ सवैया ॥

हेर रह्यो दिन में वन व्याध जु,
सांझ समै चकवा जुग पाये।
आपस में वतरान लगे कि,
वनी निश में करि हैं मन भाये॥
एतेहि सांझ वयार भई,
छुट आपने आपने पंथ सिधाये।
वंध हु में विधि मंद मिलाप,
न देख सक्यो कहि कै मुरझाये॥ १॥

इति रसरहस्य भाषा ग्रंथे॥

चक्रवाकों का रात्रि में वियोग रहना श्राप वश से है; यह प्रसिद्ध है ॥ यहां अकस्मात् बिछुरना आलंबन विभाव है। चंद्रोदयादि उद्दीपन विभाव है। विषादादि व्यभिचारी भाव है। वचन और मुरझाना अनुभाव है। यह वियोग श्रापहेतुक है ॥ ऐसा रति स्थायी भाव श्रोता के रस होता है। ऐसे सर्वत्र जान लीजियो ॥

॥ हास्य २ ॥

॥ दोहा ॥

होय अन्यथा देह वा, वेष वचन वृत्तंत।
इत्यादिक नृप हास्य के, आलंबन जु कहंत ॥ १ ॥
उद्दीपन चेष्टादि हैं, अवहित्थादि संचारि।
दरशन दंत इत्यादि हैं, तिंह अनुभाव निहारि ॥ २ ॥

अन्यथा देह, वेष, वृत्तांत, इत्यादि आलंबन है। उस वस्तु की चेष्टा विशेष उद्दीपन है। अवहित्थ, मोह इत्यादि संचारी है। दंत दर्शन, नयन निमीलन, तारी देना, शब्द इत्यादि अनुभाव है। हास्य स्थायी भाव है।

यथा—

॥ सवैया ॥

सांझ रु भोर उठाय भुजा,
लखि छांह गुमान हिये सु बढ्यो।
जग हों ही वडो सब तें यह जान,
रहै निशवासर मोद मढ्यो ॥
दौरत गाय के पाय में डूब,
गयो सु वडाई को पोत कढ्यो।
बहुखौं छुटिके सगरे जग में सु,
विरावंत वामनो ऊंठ चढ्यो ॥ १ ॥

इति रसरहस्य भाषा ग्रंथे ॥

१ विरावत-विशेष करके शब्द करता है।

यहां लोक से अन्यथा शरीरवाला वामन आलंवन विभाव है। संध्या और सवेरे के समय हाथ उठा कर छांह देखना यह उसकी चेष्टा उद्दीपन है। तादृश वामन को देखनेवाले को हास्य होता है। हसनेवाले के हर्षादि संचारी है। और दंत दर्शन इत्यादि अनुभाव है। यथावा—

॥ मनहर ॥

प्यारे के सनेह पागी लागी अंधियारे घर,
साभन सिंगार गुर लोक लाज आय कै।
भूल गई कारिदास काजर सिंदूर तेल,
लिखवे की ठौर कर पर्यो हरवाय कै॥
मसी सौं चुपर मूंह हींगरू दे आंखन में,
चली भाल वेंदी हरतार की वनाय कै।
खिरकी के द्वारे आय भांख्यो मिसरानी तवे,
कूद पर्यो मिसर अटा तैं अकुलाय कै॥ १ ॥

इति कालिदास कवेः॥

यहां अन्यथा वेसवाली लेखक की कामिनी आलंवन विभाव है। उसका भांखना उद्दीपन विभाव है। उक्त वृत्तांत देखनेवाले को हास स्थायी भाव हुआ है। उस के हर्षादि संचारी है। दंत दर्शनादि अनुभाव है॥ यथावा—

॥ दोहा ॥

अति धन लै अहसान कै, पारो देत सराह।
वेद वधू निज रहस सौं, रही नाह मुख चाह॥ १ ॥

इति विहारी सप्तशत्याम्।

उक्त वैद्य कृत पारद में ऐसा गुण होवे तौ यह वैद्य आप नपुंसक क्यों रहै ? इसलिये यहां वैद्य कृत पारद का प्रशंसा रूप वृत्तांत अन्यथा है। यह अन्यथा वृत्तांत आलंवन विभाव है। पारद की महिमा रूप वैद्य के वचन और द्रव्य का लेना उद्दीपन विभाव है। वैद्य वधू का हास स्थायी है। उस वैद्य वधू के जुगुप्सा, स्मृति, दीनता

यहां राजराजेश्वर तखतसिंघ का परलोक प्रयाण आलंवन विभाव है। और उन की उस समय की सवारी आदि उद्दीपन विभाव हैं। इन से जगत् को शोक उत्पन्न हुआ है। उन पुरुषों को निर्वेद, विषाद, स्मृति, इत्यादि व्यभिचारी भाव हैं। अश्रु, वचन इत्यादि अनुभाव हैं। यथावा—

॥ सवैया ॥

वाग तड़ागन में अनुराग सौं,
आसव छाक छकायो छिनोछिन।
आसन भासन शासन तें जु,
जिहांन में मांन वढ़ायो महा जिन॥
पत्र तें त्योंही प्रसंग पवित्र तें,
भूल्यो मुरार कों नांहिं कहूं दिन।
सज्जन रांन गयें सुरथांन,
रहे धिक प्रांन प्रयांन किये विन॥ १॥

यहां महारांणा सज्जनसिंघ का परलोक प्रयाण आलंवन विभाव ह। उन के आसव पान कराने इत्यादि की स्मृति उद्दीपन विभाव हैं। मुरार कविराज का शोक स्थायी भाव है। निर्वेद इत्यादि संचारी भाव हैं। वचन अनुभाव है॥

॥ मनहर ॥

सहस अठ्यासी स्वर्ण पात्र में जिमातो रिसि,
युधिष्ठिर और के अधीन अन पावे है।
अर्जुन त्रिलोक को जितैया भेष वनिता के,
नाटक सदन वीच वनिता नचावे है।
राजा तूं वकासुर हिडंव कौ करैया वध,
पाचक विराट को व्है रसोई पकावे है।

माद्री के सुजसधारी दोन्यों ही सुरूपमनि,
एक अश्व वीच एक गोधन में धावे है ॥ १ ॥

इति पांडवयशेंदुचंद्रिका भाषा ग्रंथे ।

यहां राज भ्रष्ट भये हुए युधिष्टिरादिक आलंबन विभाव है उन की दुर्दशा उद्दीपन विभाव है। इन से द्रौपदी को शोक हुआ है सो स्थायी भाव है। विषाद, चिंता, दैन्य आदि द्रौपदी के व्यभिचारी भाव है। वचन इत्यादि अनुभाव हे ॥

॥ रौद्र ४ ॥

॥ दोहा ॥

अरि आलंबन गर्व गी, आदि उदीपन जान।
स्थायी क्रोध आवेग मद, संचारी पहिचान ॥ १ ॥
अधर फरक चख अरुनता, भ्रूभंग जु इत्याद।
है अनुभाव जु कमँधपति, या में कछु न विवाद ॥ २ ॥

यथा—

॥ मनहर ॥

मेरे अरि वांन यह आज ही सुनी है कांन,
ए रे कौंन कह्यो यह बोल लरकाई सौ।
पोता दरपंगुरा को मैं हों जसवंतसिंघ,
जा के आगे मेरु महिमा में रह्यो राई सौ ॥
हर कों रिझाय रन अच्छरि निहाल कर,
जुद्ध ख्याल खेलों पत्थ भीम की लराई सौ।
हय खुर चूर गिरि बूर देहों सातों सिंधु,
करिहों न शिल्प काम राम रघुराई सौ ॥ १ ॥

यहां उज्जैन की लड़ाई के आरंभ समय वड़े महाराज जसवंतसिंघ के अरि आलंबन विभाव है। और अरियों के गर्व वचन आदि उद्दी-

पन विभाव है। इन कर के महाराजा को क्रोध स्थायी भाव उत्पन्न हुआ है। गर्व, असूया संचारी भाव है। वचन अनुभाव है॥

॥ वीर ५ ॥

॥ दोहा ॥

पात्र जुद्ध अरु दान पुन, दया धर्म के च्यार।
है आलंवन कहत कवि, विविध प्रवंध विचार॥ १॥
अरु उद्दीपन कहत हैं, इन के कृत्य अपार।
शस्त्रादिक मरुनाथ जू, बुध वल लेहु निहार॥ २॥
हर्ष गर्व उत्कंठता, संचारी नृपराय।
रोमांचादिक है जहां, अनुभाव सु सदभाय॥ ३॥
युद्ध दान पुन है दया, यहँ वीर के भेद।
धर्मवीर चौथो कह्यो, समझ लेहु विन खेद॥ ४॥

क्रम से यथा—

॥ मनहर ॥

भाखैं जसवंतसिंघ आज रन मौका मिल्यो,
हर की कृपा तें होत छत्रिन हजूंमते।
छुधित शिकार पीछे सिंघ गिरि शृङ्गन ज्यों,
लखिहों अनेक वीर होदन कों भूंमते॥
जोगिनी पिशाची करि कुंभन को श्रोन पीती,
शोभत ज्यों गिरिजा गनेश मुख चूंमते।
कर करवाल लाल अच्छरिन माल उर,
मद स्याल जैसे घने घायलन घूंमते॥ १॥

यहां वड़े महाराजा जसवंतसिंघ के शाहजादे औरंगजेव का भविष्यत् युद्ध आलंवन विभाव है। जोद्धार और जोगिनी आदि की होनेवाली तादृश क्रिया उद्दीपन विभाव है। इन करके महाराजा के उच्छाह

स्थायी भाव की उत्पत्ति है। हर्ष, स्मृति संचारी भाव है। वचनादिक अनुभाव है। इति जुद्धवीर ॥

॥ मनहर ॥

रामायन वीच वात निवाजे विभीषण सी,
कौन है अनेक इतिहासन की भीर में।
कुंडल कवच जाचे इंद्र विन भारत में,
करन कहानी मिली जैसे छीर नीर में ॥
भाखैं जसवंत लोक हू में दान पत्रन सौं,
पत्ता मिले भूप जे समाये झुंड वीर में।
लेनवारे मिले तैं प्रसिद्ध देनवारे भये,
मैं न मानौं यातैं वढ़ि आनंद शरीर में ॥ १ ॥

यहां दानपात्र आलंवन विभाव है। दानपात्र का गुण विशेष उद्दीपन विभाव है। ऐसे दानपात्र से जसवंतसिंघ राजराजेश्वर को उत्साह स्थायी भाव उत्पन्न हुआ है। स्मृति और हर्ष यहां संचारी भाव है। वचनादिक अनुभाव है। इति दानवीर ॥

॥ मनहर ॥

आये हो शरन जांन मांन कमधेश मोकों,
मांनत हूं धन्य धन्य ऐसो अवसर में।
लोक वीच याही काज वाजत हैं छत्री हम,
यातैं अव सफल करूंगो भुजवर मैं ॥
नागपुर नाथ जिन आप कों अनाथ जानों,
रावरे निमित्त कर दीन्हो सिर घर मैं।
राखिहों सजल यों सुरेश सौं वचाय कर,
राख्यो हिमगिरि पुत्र सिंधु ज्यों उदर में ॥ १ ॥

यहां दया का पात्र "मधुराजदेव" नामक नागपुर का राजा आलंवन विभाव है। और उस राजा के "मैं अनाथ हूं" ऐसे वचनादि

उद्दीपन विभाव है। इन करके जोधपुराधीश राजराजेश्वर "मानसिंघ" के उत्साह स्थायी भाव की उत्पत्ति है। हर्ष, गर्व, स्मृति इत्यादि संचारी भाव है। वचनादि अनुभाव है। इति दयावीर॥

॥ दोहा ॥

हय हाथी धन धरनि पुनि, परम परिग्रह प्रान।
हैं मेरे सव धर्म हित, यह जप्यो नृप मान॥ १॥

यहां गो विप्र आदि धर्म के पात्र आलंवन विभाव है। स्वर्ग साधनादि धर्म के गुण उद्दीपन विभाव है। राजराजेश्वर मानसिंघ का धर्म विषयक उत्साह स्थायी भाव है। गर्व, हर्षादि संचारी भाव है। वचन आदि अनुभाव है। इति धर्मवीर॥

अथ भयानक.

॥ दोहा ॥

व्याघ्र चोर इत्यादि अरु, सूने गृह वन आद।
भय के आलंवन यहैं, जबरे को अपराध॥ १॥
इन की चेष्टा होत हैं, उद्दीपन नृपराय।
स्वेद कंप रोमांच हैं, अनुभाव सु वहु भाय॥ २॥
चिंता चपलाई रु दुख, इत्यादिक संचारि।
कहत जु भय स्थायी यहां, नीके लेहु निहारि॥ ३॥

यथा—

॥ छप्पय ॥

ग्रीवा भंगुर नयन तरल तारक जुत अति उन,
दियैं जु हय में दृष्टि परत ऊठत है पुन पुन।
किय पश्चार्ध प्रवेश पूर्व काया शर के डर,
अर्ध दलित तृन खेद खुले मुख तें गिरत जु धर।
कूदतहिं जात यातें वहुत गगन गमन थोरो धरन,
निसचै जु मरन सोचत हरन सूझत जिन कोऊ शरन॥ १॥

यहां आखेटकारी आलंबन विभाव है। शर संधान इत्यादि उद्दीपन विभाव है। इन करके हरिण के भय स्थायी भाव की उत्पत्ति है। चिंता, चपलता, विषाद, श्रम आदि संचारी भाव है। ग्रीवा भंगुर इत्यादि अनुभाव है।

यथावा—

॥ मनहर ॥

बैठें हैं किशोर दोऊ घोर घन जोर आयो,
परत सजोर धरनी पै धूम कर कर।
च्वे चले पनारे औ कनारे तटनी के पर,
तूटत विटप डार शब्द होत तर तर॥
च्यारों ओर मोर सोर व्है रह्यौ कतूल भारी,
तरलित दामनी उठत धर पर पर।
ऐसे समै लालन विहारी संग भाय भरी,
लपटत लाडली भुजान बीच डर डर॥ १॥

इति कस्याचित्कवेः॥

यहां गर्जन, अतिवृष्टि, विद्युत्पात सहित घन आलंबन विभाव है। मयूरों का कोलाहल और वृक्ष भंग ध्वनि उद्दीपन विभाव है। वितर्क, संभ्रम संचारी भाव है। लपटना अनुभाव है। भय स्थायी भाव है।

अथ बीभत्स.

॥ दोहा ॥

करत जुगुप्सा वस्तु सो, आलंबन पहिचान।
उद्दीपन उस वस्तु की, दुर्गंधादिक जान॥ १॥
संभ्रम व्याधी ठौर यह, संचारी नृप राव।
नाक चढावन थूकबो, इत्यादिक अनुभाव॥ २॥
कहत जुगुप्सा कों जगत, यह ठौं स्थायी भाव॥

जुगुप्सा को भाषा में घृणा कहते हैं।

यथा—

॥ वैताल ॥

न खतैं जु उदर विदार दांतन ऐंचि आंतन वृंद।
पल भखत चावत अस्थि अचवत रुधिर वमत अमंद॥
यह भांति रन अंगन पिशाचन पंक्ति ठौर ही ठौर।
है रसिक ऐसे ख्याल को कैसे जु पति राठौर॥ १॥

यहां मांसादिक आलंबन विभाव है। उन की दुर्गंधि इत्यादि उद्दीपन विभाव है। इन से देखनेवाले के जुगुप्सा स्थायी भाव की उत्पत्ति है। ऐसी वस्तु से हटने की त्वरा होती है। और ऐसी वस्तु से व्याधि भी होती है। इसलिये त्वरा और व्याधि यहां गम्य संचारी भाव है। और यहां जुगुप्सावाले पुरुष का "है रसिक ऐसे ख्याल को कैसे जु पति राठौर" यह वचन अनुभाव है॥ इति बीभत्स॥

अथ अद्भुत॥

॥ दोहा ॥

है जु अलौकिकता यहां, आलंबन मरु भूप।
उद्दीपन वाकी क्रिया, स्थायी विस्मय रूप॥ १॥
हर्ष वितर्क हि आदि दे, संचारी यह ठौर।
पुलकादिक अनुभाव है, जानहु नृप सिर मौर॥ १॥

यथा—

॥ दोहा ॥

अचयो उदधी घटज नें, ग्वाल उठायो शैल।
मरुपति लूटावत लखां, वाहन हर के बैल॥ १॥

यहां घटयोनि अगस्त्य का समुद्र पी लेना, कृष्ण गवालिये का पर्वत उठा लेना, राजराजेश्वर का मरुभूमिपति[१] हो करके लाखों रुपये लुटाना और विष्णु आदि संपूर्ण देवताओं में महान पदवाले हर के

१ मरु देश में बहुधा वृष्टि कम होती है, इसलिये हमेशा एकसी पैदाइश नहीं होती॥

बैल वाहन करना, यह अलौकिकता तो यहां आलंबन विभाव है।
अगस्त्य का एक ही चिल्लू करके समुद्र का पीना, कृष्ण का कनिष्ठि-
का अंगुलि से पर्वत का उठाना, मरुनरेश्वर यशवंतसिंघ का निरंतर
लाखों रुपयों का लुटाना और हर का अद्यापि एक ही बैल को वाहन
रखना, यह उद्दीपन विभाव है। इन से इस वक्ता के विस्मय स्थायी
भाव की उत्पत्ति है। हर्ष, वितर्क यहां संचारी भाव हैं। वचनादिक
अनुभाव है॥

अथ शांत॥

॥ दोहा॥

दुःख सहितता जगत की, अरु अनित्यता जान।
ईश्वर की सानंदता, नित्यता जु पहिचान॥ १॥
यह आलंबन समझिये, उद्दीपन जु अनंत।
तीर्थ स्थान श्मशान पुन, कथा संगती संत॥ २॥
संचारी मति धृति स्मृती, हर्ष दीनता जांन।
है उदास समतादि तित, अनुभाव सु नृप भांन॥ ३॥
है स्थायी निर्वेद ह्यां, लीजे समझ सुजांन॥

यथा—

॥ छप्पय॥

सर्प सुमन को हार उग्र वैरी अरु सज्जन,
कंचन मणि अरु लोह कुसुम शय्या अरु पाहन।
तृण अरु तरुणी नार सबन पै एक वृत्ति चित,
कहूं राग नाहिं रोष दोष कित हूं न कहूं हित।
व्है है कब मेरी यह दशा गंगा के तट तप तपत,
सुख भीने दुर्लभ दिवस ए वीतेंगे शिव शिव जपत॥ १॥
इति वैराग्यमंजरी भाषा ग्रंथे॥

यह ग्रंथ जैपुर के महाराजा श्रीप्रतापसिंघजी जो कि कविता में अपना नाम व्रजनिधि रखते थे उन्हों ने भर्तृहरि शतक का जो अनुवाद किया वह है। यहा जगत् की अनित्यता आदि आलंबन विभाव है। ऐसे जगत् के संसर्ग से दुःख होना इत्यादि उद्दीपन विभाव है। इन करके महाराजा भर्तृहरि के निर्वेद स्थायी भाव उत्पन्न हुआ है। हर्ष, उत्कंठा, स्मृति इत्यादि संचारी भाव है। वचन अनुभाव है॥

यथावा—

॥ सवैया ॥

हाथी न साथी न घोरे न चेरे न,
गांव न ठांव को नांव विलै है।
तात न मात न मित्र न पुत्र न,
वित्त न अंग के संग रहै है॥
केशव काम को राम विसारत,
और निकाम ते कांम न ऐ है।
चेत रे चेत अजों चित अंतर,
अंतक लोक अकेलो ई जे है॥ १॥

इति विज्ञानगीता भाषा ग्रंथे।

यहां जगत् की अनित्यता आदि आलंबन विभाव है। पुत्र कलत्रादि का साथ न चलना इत्यादि उद्दीपन विभाव है। इन करके केशव कवि के निर्वेद स्थायी भाव की उत्पत्ति है। यहां आवेग, मति, स्मृति इत्यादि संचारी भाव है। वचन अनुभाव है। इति शांत रस॥

नाटक में आठ ही रस माने गये हैं, परंतु काव्य में नवमा शांत रस भी माना गया है॥ हम कहते हैं, कि यहां ऐसी शंका न करनी चाहिये कि स्थायी भाव ही रस होते हैं॥ सो ही कहा है "स्थायी भावो रसः स्मृतः" अर्थ—स्थायी भाव रस स्मरण किया गया॥ स्थायी भावों के नामों की यह गणना है—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चैव स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः॥ १॥

अर्थ- रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय ये स्थायी भाव कहे गये ॥ और रसों के ये नाम हैं—

शृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥ १ ॥

अर्थ- शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत संज्ञावाले आठ नाटक में रस स्मरण किये गये ॥ सो रत्यादि स्थायी भाव ही रस होते हैं, तव रति इत्यादि ही रसों के नाम होने चाहिये; शृङ्गार रस इत्यादि ऐसे विलक्षण नाम क्यों ? क्योंकि रस दशा को प्राप्त तो रत्यादि स्थायी भाव ही होते हैं, परंतु जिस जिस स्थल में रत्यादि स्थायी भाव रस होते हैं, उस उस स्थल की भी सूचना करते हुए धोरी ने उन उन स्थलों के संवंध से नाम रक्खे हैं । देश संवंध से नाम रखने की रीति है । जैसा गौड़ देश में उत्पन्न हुए को गौड़, कलिंग देश में उत्पन्न हुए को कलिंग और द्रविड़ देश में उत्पन्न हुए को द्रविड़ इत्यादि कहते हैं ॥

"शृङ्गार" यहां शृंग शब्द का अर्थ है कामोद्रेक अर्थात् काम की वृद्धि । कहा है चिंतामणिकोपकार ने "शृङ्गं कामोद्रेके" और "ऋ" धातु से "आर" शब्द वना है । "ऋ गतौ" ऋ धातु गति अर्थ में है। यहां गति का अर्थ है प्राप्ति । कहा है चिंतामणिकोपकार ने "गतिः प्राप्तौ" शृङ्गार इस शब्द समुदाय का अर्थ है काम वृद्धि की प्राप्ति। काम वृद्धि की प्राप्तिवाले अंतःकरण में रति स्थायी भाव रस दशा को प्राप्त होता है। इस संवंध से रति रस का नाम धोरी ने शृङ्गार रक्खा है। कामियों के हृदय में ही रति रस दशा को प्राप्त होती है, न कि विरागियों के हृदय में ॥ ऐसा समस्त रसों में समझ लेना ॥

"हास्य" यहां "हस" धातु के आगे "ण्यत्" प्रत्यय करने से "हास्य" शब्द वना है । यह प्रत्यय कर्म अर्थ में होता है, इसलिये हास्य शब्द का अर्थ होता है, जिस को हसे वह हास्य । यह अर्थ इस शैली में ठीक बैठता नहीं; परंतु कर्म अर्थवाले और कर्ता अर्थवाले प्रत्ययों का इच्छानुसार इतर अर्थ होने के लिये "कृत्यल्युटौ बहुलम्"

यह व्याकरण का सूत्र है। कृत्य प्रत्यय और ल्युट् प्रत्यय बहुल हैं। इस का तात्पर्य यह है कि कृत्य संज्ञावाले ण्यत् इत्यादि प्रत्यय कर्म अर्थ में कहे गये हैं। ल्युट् प्रत्यय कर्ता अर्थ में कहा गया है, परंतु ये बहुल हैं, अर्थात् ये प्रत्यय कहे हुए अर्थों से अतिरिक्त अर्थ में भी हो सकते हैं, इसलिये इच्छानुसार यहां ण्यत् प्रत्यय का अर्थ कर्त्ता है। तब "हसतीति हास्यम्" यह अर्थ होता है। जो हसे वह हास्य, अर्थात् हसने स्वभाववाला अंतःकरण हास्य है। तात्पर्य यह है, हसन स्वभाववाले अंतःकरण में हास स्थायी भाव रस दशा को प्राप्त होता है, इस संबंध से हास रस का नाम धोरी ने हास्य रक्खा है। स्थायी भाव का नाम हास है; परंतु रस का नाम हास्य उक्त अभिप्राय से धोरी ने रक्खा है॥

"करुण" इस शब्द का अर्थ है दयावाला। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "करुणः सदये" दयावाले अंतःकरण में शोक स्थायी भाव रस दशा को प्राप्त होता है, इस संबंध से शोक रस का नाम धोरी ने करुण रक्खा है॥

"रौद्र" इस शब्द का अर्थ है उग्र। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "रौद्रः उग्रे" उग्र शब्द का अर्थ है चित्त को विदारने योग्य काम करनेवाला। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "उग्रः दारुणकर्मकर्त्तरि" उक्त कर्म करनेवाले अंतःकरण में क्रोध स्थायी भाव रस दशा को प्राप्त होता है, इस संबंध से क्रोध रस का नाम धोरी ने रौद्र रक्खा है॥

"वीर" इस शब्द का अर्थ है शूर। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "वीरः शूरे" शूर शब्द का अर्थ है युद्ध कर्म में उत्साहवाला। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "शूरः युद्धकर्मण्युत्साहवति" उक्त कर्म करनेवाले अंतःकरण में उत्साह स्थायी भाव रस दशा को प्राप्त होता है, इस संबंध से उत्साह रस का नाम धोरी ने वीर रक्खा है। यहां दानवीर इत्यादि का उपलक्षण से संग्रह है॥

"भयानक" भय शब्द का अर्थ है भय। आनक शब्द का अर्थ है जिलानेवाला। कहा है आनक शब्द का अर्थ करते हुए चिंतामणिकोषकार ने "आनकः आनयति प्राणयति" भयानक इस शब्द समुदाय

का अर्थ है भय को जिलानेवाला अर्थात् भयोत्पादक स्वभाववाला। भयोत्पादक स्वभाववाले अंतःकरण में भय स्थायी भाव रस दशा को प्राप्त होता है, इस संबंध से भय रस का नाम धोरी ने भयानक रक्खा है। स्थायी भाव का नाम भय है, परंतु रस का नाम भयानक उक्त अभिप्राय से धोरी ने रक्खा है ॥

"बीभत्स" इस शब्द का अर्थ है घृणा स्वभाववाला। कहा है चिन्तामणि कोषकार ने "बीभत्सः घृणात्मनि, आत्मा स्वभावे" घृणा स्वभाववाले अंतःकरण में जुगुप्सा स्थायी भाव रस दशा को प्राप्त होता है, इस संबंध से जुगुप्सा रस का नाम धोरी ने बीभत्स रक्खा है ॥

"अद्भुत" अद् शब्द का अर्थ है आश्चर्य। कहा है अमरकोष की टीका रामाश्रमी में "अद् आश्चर्ये" भुत शब्द का अर्थ है भवन, अर्थात् होना। कहा है चिंतामणि कोषकार ने "भुतं भवनम्" अद्भुत इस शब्द समुदाय का अर्थ है आश्चर्य का होना। सो जिस अंतःकरण में आश्चर्य होता है उस में विस्मय स्थायी भाव रस दशा को प्राप्त होता है, इस संबंध से अद्भुत रस का नाम धोरी ने अद्भुत रक्खा है। आश्चर्य शब्द का पर्याय है विस्मय। कहा है चिंतामणि कोषकार ने "विस्मयः आश्चर्ये" स्थायी भाव का नाम तो विस्मय इतना ही है, परंतु रस का नाम अद्भुत उक्त अभिप्राय से धोरी ने रक्खा है। नाटक में ये आठ ही रस कहे हैं। काव्य में नवमा शांत रस भी कहा है।

"शांत" शब्द का अर्थ है वश किया हुआ अंतःकरण। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "शांतः संयतान्तःकरणे" शांत शब्द संयत अंतःकरण अर्थ में है। संयतेन्द्रिय शब्द का अर्थ करते हुए चिन्तामणिकोषकार ने संयत शब्द का अर्थ किया है वशीकृत। "संयतेन्द्रियः वशीकृतेन्द्रिये" वश किये हुए अन्तःकरण में निर्वेद स्थायी भाव रस दशा को प्राप्त होता है, इस संबंध से निर्वेद रस का नाम धोरी ने शांत रखा है। निर्वेद शब्द का अर्थ है वैराग्य। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "निर्वेदः वैराग्ये" ॥

किसी मुनि ने कहा है। "वत्सलश्च रसः" वत्सल भी रस है।

इस मतानुसार साहित्यदर्पणकार ने वत्सल को दशम रस कहा है। यहां बालक विषयक स्नेह स्थायी भाव है। बालक आलंबन विभाव है। बालक की चेष्टा उद्दीपन विभाव है। आलिंगन, चुवंन, ईक्षण, रोमांच, आदि अनुभाव है। हर्ष गर्वादि संचारी भाव है॥

यथा—

॥ दोहा ॥

कहे धाय अंगुरी गहे, वहे सिखाये वैन।
सो शिशु की तुतरी गिरा, देत पिता चित चैन॥ १॥

अनुचित रस रसाभास है। जैसा कि कुलटा का अनुराग। अविचार दशा में क्षण भर रस का भान हो जाने से रस के आभास का भी ग्रहण है।

यथा—

॥ सवैया ॥

अंजन दे निकसें नित नैंनन,
मंजन के जब अंग सँवारें।
रूप गुमान भरी मग में,
पग ही के अंगोठे अनोट सुधारें॥
जोवन के मद में मतिराम,
भई मतवारिय लोग निहारें।
जात चली यह भांत गली,
विथुरी अलकें अंचरा न संभारें॥ १॥

इति रसराज भाषा ग्रंथे।

वेदव्यास भगवान् ने अग्निपुराण के तीन सौ उनचालीसवें अध्याय में रस कहे हैं—

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः
वीभत्साद्भुतशान्ताख्याः स्वभावाच्चतुरो रसाः॥ १॥
शृङ्गाराज्जायते हासो रौद्रात्तु करुणो रसः
वीराच्चाद्भुतनिष्पत्तिः स्याद्वीभत्साद्भयानकः॥ १॥

अर्थ–स्वभाव से तो शृङ्गार, रौद्र, वीर और वीभत्स ये चार रस हैं। शृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और वीभत्स से भयानक उत्पन्न होते हैं। भरत भगवान् ने भी शृंगार, रौद्र वीर और वीभत्स रस से हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक रस की क्रम से उत्पत्ति कही है। हमारे मत यह नियम नहीं। शृंगार के विना भी हास्य होता है इत्यादि ॥ इति असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ॥

संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ॥

वस्तु से वस्तु, वस्तु से अलंकार, अलंकार से वस्तु और अलंकार से अलंकार व्यंग्य होवे वह व्यंग्य संलक्ष्यक्रम है। वस्तु तौ अलंकार से अतिरिक्त अर्थ है ॥

क्रम से यथाः—

॥ दोहा ॥

विना ऋतुन के वर्ष कों, विन सित पख को मास।
विन रजनी की तिथी हि कों, चाहत रिपु रनवास ॥ १ ॥

यहां वाच्यार्थ रूप वस्तु से राजराजेश्वर जसवंतसिंघ के रिपु रमणियों का विरह रूप वस्तु व्यंग्य है।

॥ दोहा ॥

वास चहत हर शयन हरि, तापस चाहत स्नान।
जस लख नृप जसवंत को, जग अभिलाषावान ॥ १ ॥

यहां वाच्यार्थ रूप वस्तु से भ्रांति अलंकार व्यंग्य है। राजराजेश्वर के जस को महादेव कैलास, विष्णु क्षीरसमुद्र और तपस्वी गंगा जानते हैं ॥

॥ चौपाई ॥

रन जसवंत अरिन मन छोभत,
रुधिरारुण कृपाण कर शोभत।
कोप कषायित कुटिल कटाच्छहि,
काली का जैसे छवि अच्छहि ॥ १ ॥

यहां उपमा अलंकार से क्षण भर में शत्रु क्षयकारिता रूप वस्तु व्यंग्य है ॥

॥ दोहा ॥

जसवँत के जस कमल को, अलि सोहत आकाश ॥

यहां परंपरित रूपक अलंकार से अधिक नाम अलंकार व्यंग्य है ॥ आकाश को भ्रमर कहने से राजराजेश्वर के जस रूप कमल के स्वरूप का आधिक्य प्रतीत होता है इन उदाहरणों में वाच्यार्थ वोध होने के अनंतर व्यंग्यार्थ का वोध होना भले प्रकार लखा जाता है, इसलिये यहां व्यंग्य है सो संलक्ष्यक्रम है ॥ इति प्रधानव्यंग्य प्रकरणम् ॥

गुणीभूत व्यंग्य.

अप्रधान व्यंग्य अर्थात् गुणीभूत व्यंग्य के अष्ट प्रकार हैं। कहा है काव्यप्रकाश गत कारिकाकार ने—

अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम्।
संदिग्धतुल्यप्राधान्ये काकाक्षिप्तमसुन्दरम् ॥ १ ॥

अर्थ—अगूढ १ अपराङ्ग २ वाच्यसिद्ध्यङ्ग ३ अस्फुट ४ संदिग्ध ५ तुल्यप्रधान ६ काकाक्षिप्त ७ और असुंदर ८ ॥

॥ चौपाई ॥

व्हैं अगूढ अपरांग जु जानहु,
वाच्यसिद्धि को अंग पिछांनहु ॥
अस्फुट संदिग्ध जु पुन लहिये,
तुल्यप्रधान कमधपति कहिये । १ ।
काक्वाक्षिप्त जु वहुरि वतायौ,
असुंदर अष्टम गुनि जन गायौ ॥
गौण व्यंग्य के यह जु प्रकारा,
नरईश्वर जसवंत निहारा ॥ २ ॥

वाच्यार्थ की नांईं व्यंग्य स्पष्ट प्रकाशमान होवे वह अगूढ ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

उदयाचल चुंबत रवी, असताचल कों चंद ।
गान करत तिंह वेर कवि, जस जसवंत अमंद ॥ १ ॥

यहां प्रभात समय व्यंग्य है, सो वाच्य की नांईं स्पष्ट प्रकाशमान होने से अगूढ है ॥ व्यंग्य दूसरे किसी का अंग होवे वह अपरांग ॥

यथाः—

चौपाई

सब रजनी अन ठौर बिताई,
पद्मिनि विरह व्यथा विलखाई ।
करन परस पद रवि भगवान हु,
प्रसन करत जग सनमुख जानहु ॥ १ ॥

यहां सूर्य कमलिनी वृत्तांत वाच्य है । जिस में व्यंग्य रूप नायक नायिका का वृत्तांत आरोपित हो करके उक्त वाच्यार्थ को उत्कर्ष देने से वाच्यार्थ का अंग है, इसलिये यह व्यंग्य अपर का अंग है ॥ वाच्य को सिद्ध करने के लिये व्यंग्य वाच्य का अंग होवे वह वाच्य-सिद्ध्यङ्ग ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

जलद भुजग विष विरहिनी, मूर्छा मरन जु देत ॥

यहां विष शब्द का वाच्यार्थ जल है । व्यंग्यार्थ ज़हर है । सो यह व्यंग्यार्थ जलद के भुजंग रूप वाच्यार्थ को सिद्ध करता है, इसलिये यह व्यंग्य वाच्यसिद्धि का अंग है ॥ पूर्व उदाहरण में तौ वाच्यार्थ सिद्ध होने के अनंतर व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ को उत्कर्ष मात्र देता है । इस उदाहरण में तौ व्यंग्यार्थ विना वाच्यार्थ सिद्ध ही नहीं होता, यह भेद है ॥ व्यंग्यार्थ अत्यंत गूढ होवे वह अस्फुट। व्यंग्यार्थ की अत्यंत स्पष्टता

में भी चारुता का उत्कर्ष नहीं। और अत्यंत गूढता में भी चारुता का उत्कर्ष नहीं। सो ही कहा है—

॥ दोहा ॥

कामिनि कुच कविता अछर, अरध खुले छवि देत।
अतिहि ढके शोभत नहीं, उघरेउ करत अहेत ॥ १ ॥

इति कस्यचित्कवेः ॥

अस्फुट यथा—

॥ दोहा ॥

सुन सुन नृप जसवंत को, निश दिन दान अपार।
चक चकई आनंद चित, बढ़त जु वारहि वार ॥ १ ॥

यहां व्यंग्यार्थ तो यह है कि राजराजेश्वर निश दिन अपार दान देते हैं। सो सुमेरु सोने का है इसलिये उस को ले करके काट काट के देवेंगे तब सुमेरु उठ जायगा, इसलिये सूर्य की आड़ न होने से रात्रि न होवेगी, तब हम को वियोग न होवेगा। यह व्यंग्य अत्यंत विचार साध्य होने से अस्फुट है॥ पुराणों में प्रसिद्ध है, कि सूर्य सुमेरु की प्रदक्षिणा करता है। और सूर्य सुमेरु की ओट में आता है तब रात्रि होती है। चक्रवाक पक्षियों के रात्रि में वियोग होना प्रसिद्ध है॥ वाच्यार्थ में विवक्षा है कि व्यंग्यार्थ में? ऐसा संदेहवाला व्यंग्य संदिग्ध है॥ यथाः—

॥ दोहा ॥

रन भुवि म्यांननतें कढ़ी, भूप भटन करवाल।
जैसे बंबिनतें कढ़त, असित अहिन की माल ॥ १ ॥

वाच्यार्थ यहां म्यांनों से निकलती हुई राजराजेश्वर के सुभटों की तलवारों को बंबियों से निकलते हुए सर्पों की उपमा है। व्यंग्यार्थ सर्प इव दंशन करना है। यहां यह निर्णय नहीं होता कि विवक्षा वाच्यार्थ में है कि व्यंग्यार्थ में? इसलिये यह व्यंग्य संदिग्ध है। वाच्यार्थ के तुल्य ही व्यंग्यार्थ होवे वह व्यंग्य तुल्यप्रधान है॥ यथा—

॥ दोहा ॥

विप्रन को अपराध जिन, कीजे कहत सँसार ।
जामदग्न्य हैं मित्र सो, व्हैं हिं अमित्र विचार ॥ १ ॥

यह परशुराम से युद्ध के लिये उपस्थित भये हुए रावण प्रति किसी का वचन है। यहां वाच्यार्थ तो ब्राह्मणों का अपराध न करना चाहिये, परशुराम मित्र है सो अमित्र हो जावेगा, यह है। और व्यंग्यार्थ यह है, कि इस ने पृथ्वी को निक्षत्री किया है, वैसे ही अराक्षसी कर देगा। सो यहां वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ दोनों परशुराम से रावण का युद्ध रोकने में समान हैं, इसलिये यह व्यंग्य तुल्यप्रधान है ॥ काकु अर्थात् स्वर विकार से आक्षिप्त अर्थात् खैंचा हुआ व्यंग्य काकाक्षिप्त है ॥
यथाः—

॥ चौपाई ॥

करहुं न श्रोन पान दुःशासन,
छेदहुं नां दुर्योधन उरु रन ।
आप करहु भल संधि नरेश्वर,
कहहु जाय सहदेव जोर कर ॥ १ ॥

यहां वाच्यार्थ तो यह है कि "दुःशासन का रुधिर नहीं पीऊंगा, दुर्योधन का ऊरु नहीं काटूंगा" परंतु दुशासन का श्रोन पान करने की और दुर्योधन का ऊरु छेदन करने की, भीम प्रथम प्रतिज्ञा कर चुका है। उस से विरुद्ध कथन वन नहीं सकता, इसलिये काकु स्वर की कल्पना करके "दुःशासन का श्रोन पीऊंगा ही, दुर्योधन का ऊरु काटूंगा ही" ऐसे व्यंग्य का आक्षेप होता है ॥ ऐसी शंका न करना चाहिये कि वाच्यार्थ का बाध होने से यहां लक्षणा क्यों नहीं है ? क्योंकि यहां अग्रज की आज्ञा मान करके प्रतिज्ञा छोड़ देने का संभव है, इसलिये वाच्यार्थ में बाध बुद्धि निःशंक नहीं होती ॥ प्रधानव्यंग्य प्रकरण में जो "बहु भांत सौं खिन्न मैं तापैं व्हैं खेदित, होत न कौरव पैं छत्रधारी" ऐसा काकुवैशिष्ट्य का उदाहरण दिया है, उस काकु से इस काकु का भेद वतलाता हुआ काव्यप्रदीपकार कहता है कि "वहां काकाक्षिप्त न जानना चा-

हिये; क्योंकि वहां तो काकु से प्रश्न का आक्षेप हो करके वाक्यार्थ का पर्यवसान होजाता है" ऐसा कहने से प्रदीपकार का यह अभिप्राय है, कि वाच्यसे व्यंग्य में अधिक चमत्कार हो वह प्रधान व्यंग्य है । और वाच्य-से व्यंग्य में अधिक चमत्कर न हो वह व्यंग्य गुणीभूत है । सो "करहुं न श्रोन पान दुःशासन" यहां काकु से आक्षेप किया हुआ व्यंग्य है, इसलिये गुणीभूत है । और "बहु भांत सों खिन्न में तापें न्हें खेदित होत न कौरव पें छत्रधारी" वहां काकु से आक्षेप तो सहदेव प्रति इस प्रश्न का है, कि युधिष्टिर हम पर खेदित होते हैं, कौरवों पर क्यों नहीं होते ? इस काव्य को सीधा पढ़ने में प्रश्न प्रतीत नहीं होता, किंतु काकु से उक्त प्रश्न का आक्षेप होता है। प्रश्न के आक्षेप के अनंतर युधिष्टिर को हम पर खेदित होना युक्त नहीं, किंतु कौरवों पर खेदित होना युक्त है, यह व्यंग्य है । इस व्यंग्य में काकु की सहायता तो है, परंतु आक्षेप नहीं ॥ विशिष्ट शब्द का अर्थ है उत्तम ज्ञानवाला । कहा है चिंतामणि-कोपकार ने "विशिष्टः प्रकृष्टज्ञानवति" विशिष्ट का भाव अर्थात् होना वह वैशिष्ट्य । काकुवैशिष्ट्य का अर्थ है काकु करके उत्तम ज्ञानवाला होना, इसलिये काकुवैशिष्ट्य स्थल में प्रधान व्यंग्य है ॥ और काकाक्षिप्त इस का अर्थ है काकु से आक्षेप किया हुआ। सो उक्त रीति से खैंचा हुआ व्यंग्य गुणी-भूत है । काकुवैशिष्ट्य और काकाक्षिप्त का यह भेद है ॥ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्य असुंदर होवे वह असुंदर ॥

॥ दोहा ॥

डाल रसाल जु लखत ही, पल्लव जुत कर लाल ।
कुम्हलानी उर साल धर, फूल माल ज्यों बाल ॥ १ ॥

इति रसराज भाषा ग्रन्थे ॥

यहां व्यंग्य तो यह है कि रसाल वाटिका संकेत स्थल में नायिका न पहुंची. और वाच्यार्थ में तो कार्य कारण के साथ होने से प्राचीन मत का अतिशयोक्ति अलंकार, और हमारे मत का विचित्र अलंकार है। यहां वाच्य की अपेक्षा व्यंग्य असुंदर है । वाच्य से अतिशय चमत्कारवाला व्यंग्य ध्वनि है, ऐसा कह कर " अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यम्" अर्थात् ध्वनि के जैसा न होवे वह गुणीभूत व्यंग्य है, ऐसा कहा है । इस से यह

सिद्ध हुआ कि वाच्यार्थ के सम चमत्कारवाला अथवा वाच्यार्थ से न्यून चमत्कारवाला व्यंग्य गुणीभूत है। सो यहां व्यंग्य वाच्यार्थ से सुंदरता में न्यून है ॥

अथ गुण निरूपण.

॥ दोहा ॥

है माधुर्य सु सौम्यता, सो पिघलावत चित्त।
ओज दीप्ति वह तेज युत, करत जु मन कों नित्त ॥ १ ॥
है प्रसाद निर्मलपनो, शुष्केंधन में आग।
ज्यों मन झट तित व्याप्त व्हैं, नृप सवठां वड़ भाग ॥ १ ॥

माधुर्य शब्द का पर्याय है सौम्यता। कहा है, चिंतामणि कोपकार ने "माधुर्यं सौम्यत्वे" सौम्यता तो चंद्रादि में है। सौम्यतावाली वस्तु से मन द्रवीभूत होता है, अर्थात् पिघलता है। सो जिस रचना के सुनने से मन द्रवीभूत होता है वह काव्य माधुर्य गुणवाला है ॥

ओज शब्द का पर्याय है दीप्ति। कहा है चिंतामणि कोपकार ने "ओजो दीप्तौ" दीप्ति तो तेज है। वह सूर्यादि में है। दीप्तिवाली वस्तु से मन तेज युक्त अर्थात् उग्रता युक्त होता है, सो जिस रचना के सुनने से मन तेज युक्त होवे वह काव्य ओज गुणवाला है। माधुर्य गुण का प्रतिद्वंद्वी ओज गुण है ॥

प्रसाद शब्द का पर्याय है निर्मलता। कहा है चिंतामणि कोपकार ने "प्रसादो नैर्मल्ये" जैसे इंधन में अग्नि को शीघ्र व्याप्त करानेवाला गुण इंधन की शुष्कता है। और जल को वस्त्र में शीघ्र व्याप्त करानेवाला गुण वस्त्र की स्वच्छता है। ऐसे रचना में बुद्धि को शीघ्र व्याप्त करानेवाला गुण रचना का प्रसाद है। "यह सवठां वड़ भाग" अर्थात् यह प्रसाद गुण सब रसों में और माधुर्य गुणवाली और ओज गुणवाली सब रचनाओं में रहता है। और यह प्रसाद गुण अत्यंत श्लाघनीय है, इसलिये इस गुण को हम ने वड़ भाग्य यह विशेषण दिया है। यह प्रसाद गुण क्लिष्ट दोष का प्रतिद्वंद्वी है ॥ गुणों के विषय में काव्यप्रकाश में कहा है:—

आल्हादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम् ।
करुणे विप्रलम्भेतच्छान्ते चातिशयान्वितम् ॥ १ ॥

अर्थ–आल्हादकता माधुर्य है। यह द्रुति अर्थात् मन के द्रवने का कारण है। यह गुण शृङ्गार रस में रहता है। और करुण, विप्रलंभ शृङ्गार और शांति रस में अतिशय सहित होता है॥ माधुर्य गुण को वियोग शृङ्गार में अतिशयवाला इसलिये कहा है, कि संयोग शृङ्गार में कभी निर्दयता का भी संभव है॥

दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति ।
वीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च ॥ १ ॥

अर्थ–ओज दीप्ति है। यह मन को तेज करने में कारण है। इस गुण की वीर रस में स्थिति है। वीभत्स रस में और रौद्र रस में क्रम से इस का आधिक्य है। "दीप्त्यात्मविस्तृति" अर्थात् दीप्ति रूप मन का विस्तार॥

शुष्केन्धनाग्निवत्स्वच्छजलवत्सहसैव यः ।
व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः॥ १ ॥

अर्थ—शुष्केंधन में अग्निवत्, स्वच्छ वस्त्रादि में जलवत्, जो शीघ्र ही दूसरे में अर्थात् मन में व्याप्त होता है वह प्रसाद गुण है। रसों में गुणों का नियम करते हुए कारिकाकार ने सर्वत्र स्थिति इस अभिप्राय से कही है, कि प्रसाद गुण सब रसों में होता है। और काव्य प्रदीपकार ने ऐसा स्पष्ट किया है, कि यह प्रसाद गुण सब रसों में और सब रचनाओं में रहता है, सो समीचीन है॥ शृङ्गार, करुण और शांत इन तीन रसों में माधुर्य गुण का, तथा वीर, रौद्र और वीभत्स इन तीन रसों में ओज का, नियम करने से यह प्रतीत होता है कि हास्य, भयानक और अद्भुत इन तीन रसों में किसी का नियम नहीं। इन में कभी माधुर्य और कभी ओज गुण होता है। यहां रसों में गुणों का नियम करने से ऐसा नहीं समझना चाहिये, कि रस रहित काव्यों में ये गुण नहीं होते; क्योंकि ये गुण तो समस्त काव्यों में होते हैं। रसों में गुणों का नियम करने का प्रयोजन तो यह है, कि शृङ्गार, करुण और शांत रस में ओज गुण नहीं

होता। वीर, वीभत्स और रौद्र इन में माधुर्य गुण नहीं होता। काव्यप्रश गत कारिकाकार ने केवल गुणों को ले कर कहा है, कि माधुर्य गुण चित्त को द्रवीभूत करने में कारण है। ओज गुण चित्त को तेज करने में कारण है। प्रसाद गुण मन में शीघ्र व्याप्त होता है। और मनुष्य छाया से काव्य का स्वरूप दिखाते हुए हम ने माधुर्य गुणवाला काव्य मन को द्रवीभूत करता है। ओज गुणवाला काव्य मन को उग्रता युक्त करता है। और प्रसाद गुणवाले काव्य में मन शीघ्र प्रवेश करता है, ऐसा कहा है। "प्रसाद गुणवाला काव्य मन में शीघ्र प्रवेश करता है" ऐसा कहें तो "शुष्केन्धनाग्निवत्, स्वच्छजलवत्" इन दृष्टान्तों की संगति नहीं होती; क्योंकि इन दृष्टांतों में आधेय तो अग्नि और जल हैं। आधार काष्ठ और वस्त्रादि हैं। तहां शुष्कता और स्वच्छता साधन आधारों में हैं॥ प्रसाद गुणवाले काव्य का मन में प्रवेश करना कहें तव, काव्य आधेय और मन आधार होता है, तहां साधन आधेय में रहता है, यह विपरीतता है॥ और मन प्रसाद गुणवाले काव्य में शीघ्र व्याप्त होता है ऐसा कहें तव, आधेय मन और आधार प्रसाद गुणवाला काव्य होता है। और शीघ्र व्याप्त होने का साधन प्रसाद गुण आधार में रहता है, यह सामंजस्य है। क्लिष्ट दोपवाले काव्य में मन शीघ्र प्रवेश नहीं करता। काव्य का शरीर शब्द और अर्थ दोनोंमय है। मन विपयों में प्रवेश करता है और विषय मन में प्रवेश करते हैं, ये दोनों रीतियां हैं। सो ही कहा है श्रीमद्भागवत के एकादश स्कंध के वारहवें अध्याय में—

गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रभो॥

अर्थ—हे प्रभु विषयों में चित्त प्रवेश करता है और विषय चित्त में प्रवेश करते हैं॥

अथ रीति

देश, जाति आदि भेद से मनुष्यों में रीति भेद होता है, अर्थात् रिवाज़ में भेद होता है। वैसे ही देश आदि भेद से काव्य रचना में भी रीति भेद होता है॥ पांचाल देश की काव्य रचना लौकिक व्यवहार और शास्त्रीय व्यवहार युक्त, कोमल और छोटे छोटे समासोंवाली होती है, इ-

सलिये ऐसी काव्य रचना में पांचाली रीति कहलाती है। गौड़ देश की काव्य रचना लौकिक व्यवहार और शास्त्रीय व्यवहार करके रहित, नियम रहित और दीर्घ समासोंवाली होती है, इसलिये ऐसी काव्य रचना में गौड़ी रीति कहलाती है॥ वेदव्यास भगवान् ने अग्निपुराण के तीन सौ चालीसवें ३४० अध्याय में इन के लक्षण कहे हैं—

उपचारयुता मृद्वी पाञ्चाली ह्रस्वविग्रहा।
अनवस्थितसंदर्भा गौडीया दीर्घविग्रहा॥ १॥
उपचारैर्न॥

अर्थ— जो रीति उपचार अर्थात् व्यवहार करके युक्त होवे, कोमल होवे और जिस में छोटे छोटे समास होवें वह पांचाली॥ जिस रीति में कोई व्यवस्था नहीं अर्थात् नियम नहीं, उपचार अर्थात् व्यवहार नहीं और दीर्घ समास होवें वह गौड़ी॥ इसी प्रकार विदर्भ देश की काव्य रचना की रीति वैदर्भी, और लाट देश की काव्य रचना की रीति लाटी कहलाती है इत्यादि॥ कौशिक मुनि की काव्य रचना की रीति कौशिकी कहलाती है। कुशिक का पुत्र होने से विश्वामित्र का दूसरा नाम कौशिक है। भरत मुनि की काव्य रचना की रीति भारती कहलाती है इत्यादि॥ ग्रंथ विस्तार भय से यहां सब के लक्षण उदाहरण नहीं दिखाये गये हैं॥ हमारे मत उक्त रीतियों का काव्य की रमणीयता में कुछ भी उपयोग नहीं है, इसीलिये बहुतसे ग्रंथकारों ने रीतियां नहीं कही हैं। बहुधा हरेक देश की काव्य रचना भिन्न भिन्न रीति से होती है। मरु देश की मरुभाषा में "साणोर, सपंखरा" इत्यादि जाति के छंद हैं, उन छंदों के समुदाय को गीत कहते हैं। बहुधा गीत में चार छंदों का समुदाय होता है। इस से हम यह अनुमान करते हैं कि छंद में चार चरण होते हैं सो धोरी ने चरण के स्थान में छंद रख कर चार छंद का गीत नामक एक छंद अंगीकार किया हो। वड़ा वर्णन तो सर्वत्र छंदों के समुदाय में होता हैं; परंतु यहां धोरी की यह विलक्षणता विवक्षित है कि कोई युक्ति एक छंद में ही समाप्त हो जावे तब वैसा श्रवण सुख नहीं होता, जेसा कि छंद समुदाय से होता है, इसलिये प्रथम छंद में जो वर्णन किया जावे वह का वह वर्णन वारंवार दूसरे, तीसरे और चौथे छंद में भी किया जावे; परंतु नये नये प्रकार से कि-

या जावे कि जिस से पुनरुक्ति दूषण न होवे, और पर्यायोक्ति भूषण हो जावे, यह मारवी रीति है ॥

यथा---

॥ गीत वडो साणोर ॥

प्रथम नेह भीनौ महा क्रोध भीनौ पछे,
लाभ चमरी समर झोक लागे ॥
राय कँवरी वरी जेण वागे रसिक,
वरी घड़ कँवारी तेण वागे ॥ १ ॥
हुवे मंगळ धमळ दमंगळ वीरहक,
रंग तूठौ कमँध जंग रूठौ ॥
सघण वूठौ कुसम बोह जिण मौड़ सिर,
विसम उण मौड़ सिर लोह वूठौ ॥ २ ॥
करण अखियात चढियो भलां काळमी,
निवाहण वयण भुज बांधियां नेत ॥
पँवारां सदन वरमाळसूं पूजियो,
खळां किरमाळसूं पूजियो खेत ॥ ३ ॥
सूर वाहर चढे चारणां सुरहरी,
इतै जस जितै गिरनार आबू ॥
विहंड खळ खीचियांतणा दळ विभाड़े,
पौढियो सेझ रण भोम पाबू ॥ ४ ॥

इति पितामह कविराज वांकीदासस्य ॥

यहां दुलहा बने हुए पाबू नामक राठौड़ राजपूत ने चारणों की गायों की रक्षा के अर्थ युद्ध करके प्राण दिये। यह वर्णन इन चारों छंदो में वारं वार किया गया है, परंतु ऐसे भिन्न भिन्न प्रकार से किया गया है कि यहां पर्यायोक्ति भूषण होता है, न कि पुनरुक्ति दूषण ॥ यह मारवी रीति अन्य रीतियों की अपेक्षा चमत्कारकारी है ॥ उक्त

१ गऊ।

रीति में पर्यायोक्ति अलंकार होने से मन को भी सुख होता है; परंतु यहां मुख्य प्रयोजन पूर्वोक्त रीति से श्रवण सुख है ॥ रीति को वृत्ति भी कहते हैं ॥

अलंकार का सामान्य स्वरूप ॥

मनुष्य के हार आदि अलंकार होते हैं, उस छाया से काव्य के अनुप्रास उपमादि अलंकार माने गये हैं। अलंकार तीन प्रकार के हैं। शब्दालंकार १ अर्थालंकार २ और उभयालंकार ३ ॥ अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति यह है "अलंकरोतीति अलंकारः" अलं नाम शोभा का है। मनुष्य के शरीर के गुण लावण्य आदि, जीव के गुण उदारता आदि और हारादि सब शोभा करते रहते अलंकार नाम की रूढि हारादिकों में ही है। जैसे काव्य के भी शब्द, अर्थ, व्यंग्य, गुण और अनुप्रास, उपमादि सब शोभा करते रहते अलंकार नाम की रूढि अनुप्रास, उपमा इत्यादि को ही है। इस का निमित्त यह है, कि प्रधानता से नाम होता है। मनुष्य के जीव में शोभा करना भी है; क्योंकि जबतक मनुष्य जीता है तबतक शरीर की शोभा है, न कि जीव का वियोग होने के अनंतर। परंतु जीव धर्म प्रधान होने से जीव नास से व्यवहार है। "जीवयतीति जीवः" जो जिवावता है वह जीव। मनुष्य के उदारतादि गुणों में शोभा करना भी है; परंतु गुण धर्म प्रधान होने से गुण नाम से व्यवहार है। हार कंकणादिकों में धनत्व भी है, परंतु धनत्व तो हार कंकणादि आकार विना रत्न और सुवर्णादि में भी है। हार कंकणादि में शोभाकर धर्म प्रधान होने से हार कंकणादि को अलंकार नाम से व्यवहार है। प्राचीन गुणों की और अलंकारों की यह विलक्षणता बताते हैं, कि गुण तो अचल स्थिति हैं। अलंकार चल स्थिति हैं। मनुष्य में उदारता आदि गुण होते हैं वे अचल हो करके रहते हैं। हारादि अलंकार अचल नहीं; क्योंकि मनुष्य कभी अलंकार को धारण करता है, कभी नहीं करता है। ऐसे ही काव्य में माधुर्यादि गुण अचल स्थिति होते हैं; क्योंकि पुष्पादिकों के वर्णन में माधुर्य गुण होवेगा ही, शस्त्रादिकों के वर्णन में ओज गुण होवेगा ही, यह अनुभव सिद्ध है। और उपमादि अलंकारों की वैसी अचल

स्थिति नहीं; क्योंकि काव्य कभी अनलंकार भी होता है। सो ही कहा है काव्यप्रकाश गत कारिकाकार ने—

तददोषौ शब्दार्थौ, सगुणावनलंकृती पुनः कापि ॥

अर्थ—दोष रहित और गुण सहित शब्द और अर्थ काव्य है। फिर कहीं अलंकार विना भी काव्य होता है ॥ इस कारिकाकार पर कटाक्ष करता हुआ चंद्रालोककार कहता है—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती ।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती ॥ १ ॥

अर्थ—जो अलंकार रहित शब्द और अर्थ को काव्य मानता है, वह विद्वान् अग्नि को उष्णता रहित क्यों नहीं मानता ? ॥ इस के समाधान में प्राचीन अनलंकृती यहां अन् शब्द का ईषत् अर्थ करते हैं, कि ईषत् अलंकारवाला भी कहीं काव्य हो जाता है। यहां ईषत् का पर्यवसान अस्फुट में है, सो अस्फुट अलंकार तौ नहीं प्राय है। काव्य में चमत्कार रस का अथवा अलंकार का होता है, इसलिये जहां स्फुट अलंकार न होवे वहां रस के चमत्कार से काव्य हो जाता है। काव्यप्रकाशकार ने अनलंकार काव्य का यह उदाहरण दिया है—

॥ वैताल ॥

है युवा नाह कुमारपनहर और मैं दोनों वही,
है मलय गिरि को पवन आसव चैत रजनी वो सही ॥
तद्यपि जु मुखरित वीचि माला तीर रेवा द्रुम तरें,
शुचि सुरत लीला सुखहि की अलि चाह मेरो मन धरें ॥ १ ॥

यहां शब्द का वा अर्थ का कोई अलंकार स्फुट नहीं है। और रस प्रधान होने से रसवत् अलंकार भी नहीं। लोक में हारादि अलंकार स्वयं शोभायमान अर्थात् रूपवान् स्त्री पुरुष को शोभायमान करते हैं, न कि स्वयं अशोभायमान अर्थात् कुरूप स्त्री पुरुष को। वैसे ही उपमादि अलंकार भी रमणीय अर्थ को शोभायमान करते हैं। न कि अरमणीय अर्थ को। " गोसदृशो गवयः " गाय के सदृश रोझ ॥ यहां उपमा अलंकार नहीं। "सह शिष्येणागतो गुरुः" शिष्य के साथ

गुरु आया ॥ यहां सहोक्ति अलंकार नहीं इत्यादि । यह सर्व संमत है। इसीलिये कहा है अर्थालंकार के लक्षण में महाराजा भोज ने "अलमर्थमलंकर्तुः" शोभायमान अर्थ को शोभायमान करने को समर्थ॥ समस्त विद्याओं का मूल वेद है। वेद में भी अलंकार रचना है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ १ ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
सोध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ २ ॥

अर्थ—आत्मा को रथी, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथि, मन को राशि, विषय है चारा जिन का ऐसी इंद्रियों को घोड़े समझो। इस से विष्णु के परम पद रूप पंथ के पार को प्राप्त होओगे ॥ इस वेद वचन में "रूपकविन्यस्तगृहीतेः" रूपक रचना से ग्रहण होने से। इस वेदांत सूत्र से वेदव्यास भगवान् ने रूपक अलंकार बताया है ॥

॥ दोहा ॥

मूल वेद कों जानिये, भरत व्यास भगवान ।
भोज नृपति इत्यादि पुन, किय बहुविधि व्याख्यान॥ १ ॥
मरुपति नृप जसवँत प्रथम, किय नर भाषा बीच ।
भाषाभूषन ग्रंथ सो, महि में सुधा मरीच ॥ २ ॥

अलंकारों की तीन दशा होती हैं। अलंकार भेद १ अलंकार प्रकार भेद २ और उदाहरण भेद ३ ।

॥ मनहर ॥

एक जो विलक्षण है लक्षण सौं सर्वथा ही,
ताहि अलंकारांतर प्रतक्ष पिछांनिये ।
लीन होत लक्षण में एक की विलक्षणता,
सो तौ प्रकारांतर है ऐसी उर आंनिये ॥
एक जो विलक्षण है उक्ति मात्र ही सौं वह,
भनत मुरार उदाहरणांतर मांनिये ।

ऐसी विध बुध वृंद व्है के अनुराग लीन,
ह्यां तो अलंकारन में दशा तीन जानिये ॥ १ ॥

उभयालंकार.

शब्दालंकार और अर्थालंकार तो सब मानते हैं; परंतु कितनेक प्राचीन उभयालंकार भी मानते हैं ॥ वेदव्यास भगवान् ने उभयालंकार का यह स्वरूप कहा है—

शब्दार्थयोरलंकारो द्वावलंकुरुते समम् ।
एकत्र निहितो हारः स्तनग्रीवामिव स्त्रियाः॥ १ ॥

अर्थ—शब्द और अर्थ इन दोनों का अलंकार वह है, कि जो दोनों को एक साथ शोभायमान करे, जैसा कि एक जगह धारण किया हुआ हार स्त्रियों के कुच और ग्रीवा दोनों को शोभा करता है। हार तो एक ग्रीवा में ही धारण किया जाता है, परंतु वह ग्रीवा और कुच दोनों को शोभा करता है ॥ व्यास भगवान् ने समासोक्ति, पर्यायोक्ति इत्यादि को उभयालंकार माना है। समासोक्ति में अलंकारता संक्षेप में है, सो संक्षेप शब्द में किया जाता है, जिस से अर्थ में भी संक्षेप हो जाता है. और यह संक्षेप शब्द और अर्थ दोनों को एक साथ शोभा करता है। पर्यायोक्ति में अलंकारता पर्यायता में है, सो शब्द का पर्याय करने से अर्थ का भी पर्याय हो जाता है। और यह शब्द अर्थ दोनों को एक साथ शोभा करता है ॥ महाराजा भोज उभयालंकार के विषय में यह आज्ञा करते हैं—

शब्देभ्यो यः पदार्थेभ्य उपमादिः प्रतीयते ।
विशिष्टोऽर्थः कवीनां स उभयालंक्रिया मता १ ॥

अर्थ—कवियों को शब्द और अर्थ दोनों करके उपमादि विशिष्ट अर्थात् नवीन अर्थ प्रतीत होता है वह उभयालंकार करके इष्ट है ॥ महाराजा ने उपमा, रूपक इत्यादि कईएक को उभयालंकार माना है। जिस का तात्पर्य यह है, कि उपमेय, उपमान और साधर्म्य ये तो अर्थ हैं।

और उपमा वाचक इव आदि शब्द हैं। इन दोनों से उपमा प्रतीत होती है, इसलिये उपमा उभयालंकार है॥ रूपक में "मुखमेव चन्द्रः" अर्थात् मुख ही चन्द्र है। ऐसा अभेद वाचक "एव" शब्द, संदेह में संदेह वाचक "किम्" इत्यादि शब्द, और उत्प्रेक्षा में उत्प्रेक्षा द्योतक "मन्ये" इत्यादि शब्द अर्थ से मिल करके रूपक, संदेह और उत्प्रेक्षा रूप अलंकार की प्रतीति कराते हैं। ऐसा अन्य स्थल में भी जान लीजियो। काव्यप्रकाश गत कारिकाकारने तो एक पुनरुक्तिवदाभास को ही उभयालंकार माना है। कहा है पुनरुक्तिवदाभास के लक्षण के अनंतर "तथा शब्दार्थयोरयम्" शब्द का है, जैसे यह पुनरुक्तिवदाभास शब्द और अर्थ का भी है॥

यथा—

॥ दोहा ॥

देर भई दिन द्वैक की, कवि तुव किसमत हेत।
जस सुनि हैं जसवंत जव, वार न वारन देत॥ १॥

इन का तात्पर्य यह है, कि पद परिवर्तन को सहन करे वह तौ अर्थ का विषय है। और पद परिवर्तन को सहन न करे वह शब्द का विषय है। सो यहां दोनों इस रीति से हैं, कि देर वाची वार शब्द को पलटा कर उस की जगह देर शब्द कहे कि "देर न वारन देत" तौ पुनरुक्तिवदाभास अलंकार नहीं रहता। और गज वाची वारन शब्द को पलटा करके उस की जगह गज शब्द कहे कि "वार न गज कों देत" तौ भी पुनरुक्तिवदाभास अलंकार रह जाता है। सो यहां शब्द और अर्थ उभय का आश्रय होने से उभयालंकार है। व्यास भगवान् का तौ यह मत है, कि शब्द और अर्थ दोनों को शोभा करे वह उभयालंकार। भोज महाराजा का यह मत है, कि शब्द और अर्थ दोनों से जो प्रतीत होवे वह उभयालंकार है। काव्यप्रकाश गत कारिकाकार का यह मत है, कि उक्त रीति से शब्द और अर्थ दोनों का आश्रय करे वह उभयालंकार है। हमारे मत कथन मात्र से तौ तीनों समीचीन हैं; परंतु उदाहरणों से तौ काव्यप्रकाश गत कारिकाकार का सिद्धांत समीचीन है। पुनरुक्तिवदाभास के उक्त उदाहरण में उक्त रीति से शब्द और

अर्थ दोनों की सत्ता से पुनरुक्ति के आभास की उत्पत्ति है। और वह आभास काव्य का शोभाकर होने से अलंकार है ॥इवादि वाचक शब्द से उपमा की, और मनु इत्यादि द्योतक शब्द से उत्प्रेक्षा की, प्रतीति का होना तौ मंदमतियों के लिये है इत्यादि ॥ ये कुछ भी शोभाकर नहीं॥ समासोक्ति में अर्थ का संक्षेप ही, पर्यायोक्ति में अर्थ का पर्याय ही, शोभाकर है। न कि शब्द का इत्यादि ॥

अलंकार अलंकार्य विचार ॥

चित्रमीमांसा और रसगंगाधर में कहा है, कि शोभा करनेवाला अलंकार है। जिस की शोभा करे वह अलंकार्य अर्थात् शोभायमान होनेवाला है। सो उपमादि जिस समय में और की शोभा करें उस समय में अलंकार हैं। और की शोभा न करें उस समय में अलंकार नहीं ॥

॥ दोहा ॥

गिरि इव है गजराज यह, निर्भर इव मद धार ॥

यहां गज के वर्णन में उपमा किसी रस आदि की शोभाकर नहीं है; तथापि इस को अलंकार व्यवहार कैसे? और—

॥ दोहा ॥

मेघमाल करवाल की, जल धारा जु घनीन ।
बुझयो जसवँत देव ने, अग्नि प्रताप अरीन ॥ १ ॥

यहां मेघमाल की करवाल को, जल की खड्ग धारा को, अग्नि की अरि प्रताप को, उपमा वाच्य है। देव शब्द राजा और इंद्रादि देवताओं में वर्तने से अनेकार्थवाची है। सो यहां प्रकरण वश से राजराजेश्वर में अभिधा का नियमन होने पर व्यंजना शक्ति से अवाच्यार्थ इंद्र की बुद्धि हो करके इंद्र के साथ राजराजेश्वर की उपमा व्यंग्य होती है, सो वाच्योपमा तौ यहां इस व्यंग्योपमा की शोभाकर होने से अलंकार है। परंतु व्यंग्योपमा वाच्योपमा से शोभायमान की गई है, इसलिये व्यंग्योपमा यहां अलंकार्य है, जिस का अलंकार नाम से व्यवहार कैसे? जिस का प्राचीनों ने यह समाधान किया है। "गिरि इव"

इति ॥ यहां दूसरे अर्थको शोभायमान न करती हुई भी उपमा को ब्राह्मण क्षपणक न्याय से और मंजूषा गत भूषण न्याय से अलंकार व्यवहार है। उक्त काव्य देश में यह उपमा अलंकार नहीं है, तथापि अन्य काव्य रूप देश में उपमा में अलंकारता रहने की योग्यता होने से इस उपमा को भी यहां अलंकार व्यवहार है । और "मेघमाल" इति॥ यहां वाच्योपमा से शोभायमान होती हुई व्यंग्योपमा को अलंकार व्यवहार ऐसे है, कि जैसे जड़े हुए रत्नों करके शोभायमान स्वर्ण ताटंक आदि दुकान आदि में धरे हुओं का भी लोक में ताटंक अलंकार आदि नाम से ही व्यवहार होता है; क्योंकि उन को कामिनी पहिन लेवे तो वे दोनों कामिनी कर्ण आदि के अलंकार हो जाते हैं, इसलिये उन में अलंकार होने की योग्यता है । ऐसे स्थलों में रूपकादि औरों की भी इसी रीति से अलंकारता जान लीजियो । सब प्राचीनों का यही सिद्धांत है, कि रस भावादिकों को शोभा करें तब उपमादिकों को अलंकारता है । सो ही कहा है काव्यप्रकाश गत कारिकाकार ने—

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ १ ॥

अर्थ—जो अंग द्वारा कभी संतं अर्थात् संभवते हुए, तं अर्थात् रस का उपकार करें सो हारादिवत् अनुप्रास, उपमादि अलंकार हैं ॥ यहां अंग द्वारा अर्थात् शब्द अर्थ द्वारा ॥ काव्यप्रकाश गत कारिकाकारादि प्राचीनों ने ऐसे सिद्धांत का स्वीकार किया, तब रस भावादि रहित काव्य में उपमादि को अलंकारता कैसे ? इस शंका का अवकाश हुआ ॥ हमारे मत आचार्य दंडी इत्यादि ने काव्य के शोभाकर धर्म को अलंकार कहा है, सो समीचीन है ॥

काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारान्प्रचक्षते ॥

अर्थ—काव्य की शोभा करनेवाले धर्मों को अलंकार कहते हैं ॥ मनुष्य के सुवर्णादि के अलंकार हैं, जैसे काव्य के शोभाकर धर्म काव्य के अलंकार हैं । लोक अलंकारों में शिर का अलंकार शिरपेच, कंठ का अलंकार कंठी इत्यादि विशेष हैं, वैसे ही उपमादि काव्यालं-

कार के विशेष हैं ॥ काव्य कवि की रचना है। वह शब्दार्थमय है। सो शब्द की शोभा करे वह शब्दालंकार, और अर्थ की शोभा करे वह अर्थालंकार॥ क्रम से यथाः—

पुच्छ उच्छालनहि जलनिधि, स्वच्छता किय दूर ॥

इस काव्य में अनुप्रास शब्द की शोभा करता है इसलिये यहां शब्दालंकार है। "गिरि इव है गजराज यह, निर्भर इव मद धार" इति॥ "मेघमाल करवाल की" इति ॥ इन काव्यों में उपमा अर्थ की शोभा करती है इसलिये यहां अर्थालंकार है। काव्य को शोभा करता हुआ अनुप्रास, उपमादि धर्म रसादिकों को भले शोभा करो, अलंकारता तो काव्य को शोभा करने मात्र से सिद्ध हो जाती है। अनुप्रास, उपमादिकों की अलंकारता के लिये रस पर्यंत अनुभावन आवश्यक नहीं। धोरी ने अलंकार का नाम चित्र भी कहा है। सो ही कहा है काव्यप्रकाश गत कारिका में—

शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् ॥

अर्थ—व्यंग्य विना शब्दचित्र और वाच्यचित्र अर्थात् अर्थचित्र अवर अर्थात् नीचे की श्रेणी का कहा गया है ॥ चित्राम को चित्र कहते हैं। पाषाण के स्तंभादि में वेल बूंटा आदि कोरणी की जावे वह चित्र है। उक्त चित्र से स्तंभादि की शोभा होती है। "पूंछ हलावन सिंधु की, निर्मलता किय दूर" इस शब्द रचना में चित्र नहीं। और इस की जगह "पुच्छ उच्छालनहि जलनिधि, स्वच्छता किय दूर" यह कहे तब इस शब्द रचना में अनुप्रास रूप चित्र है। वह शब्द की शोभा करता है। "हैं ऊंचे गजराज अति, वहत रहत मद धार" इस अर्थ रचना में चित्र नहीं, और इस की जगह "गिरि इव है गजराज यह, निर्भर इव मद धार" ऐसा कहें तब इस अर्थ रचना में उपमा रूप चित्र है, वह अर्थ की शोभा करता है। प्राचीनों ने यहां चित्र शब्द का अर्थ विचित्र समझ लिया है। कोरणीवाले पाषाण के स्तंभ में स्तंभ और कोरणी दोनों पाषाणमय हैं। ऐसे यहां भी शब्द में उक्त चित्र है, यहां शब्द और शब्द का चित्र दोनों शब्दमय हैं। और अर्थ

में उक्त चित्र है, तहां अर्थ और अर्थ का चित्र दोनों अर्थमय हैं॥ और रस अथवा भाव अथवा इनके आभास आदि दूसरे रस भाव आदि के शोभाकर होवें तहां रसवदादि अलंकार होते हैं। परंतु संचारिता दशा में भाव रस के पोषक होते हैं, तौ भी वे रस के अवयव भूत होने से उनको अलंकार व्यवहार नहीं; क्योंकि मनुष्य के शरीर को हस्त पादादि अवयव शोभा करते हैं, तथापि वे अवयव होने से उन को अलंकार व्यवहार नहीं॥ संचारी को रस का अवयव मान करके कहा है भरत भगवान् ने—

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः॥

अर्थ—विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से रस बनता है॥ एक अर्थ दूसरे अर्थ को शोभा करे तहां भी उपलक्षणता से अलंकार पदवी की प्राप्ति हो जाती है। सो जहां दो अर्थ होवें वहां बहुधा एक अर्थ दूसरे अर्थ का शोभाकर होवेगा ही। दोनों अर्थ वाच्य हों, अथवा एक वाच्य और एक व्यंग्य हो॥ काव्य श्रवण में पहिले पदों के जुदे जुदे अर्थों का ज्ञान होता है, पीछे सब पदों के अर्थ का इकट्ठा ज्ञान होता है; उस समय में पदों के जुदे जुदे अर्थों का ध्यान जाता रहता है। वैसे ही व्यंग्यार्थ ज्ञान समय में वाच्यार्थ का ध्यान चला जाता है। सो ही कहा है सहृदय धुरंधर ध्वनिकार ने—

स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रथयन्नपि।
यथा व्यापारनिष्पत्तौ पदार्थो न विभाव्यते॥ १॥

अर्थ—पदों का अर्थ अपने सामर्थ्य वश से ही वाक्यार्थ का प्रकाशन करता हुआ भी जैसे व्यापार निष्पत्ति होने पर अर्थात् वाक्यार्थ सिद्ध कराने का प्रयत्न सिद्ध होने पर "न विभाव्यते" अर्थात् ध्यान में नहीं रहता है॥

तद्वत्सचेतसां सोर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम्।
बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते॥ १॥

अर्थ—वैसे ही वाच्यार्थ से विमुख भये हुए सहृदयों की तत्त्वार्थ देखनेवाली बुद्धि में व्यंग्यार्थ शीघ्र भासता है॥ तात्पर्य यह है कि

व्यंग्यार्थ वोध होने के समय में वैसे ही वाच्यार्थ का ध्यान जाता रहता है। सो "अनिमिष अचल जु बक बकी" यहां पहिले तौ अनिमिष पद का अर्थ है निमेष रहित। अचल पद का अर्थ है चंचलता रहित। वक पद का अर्थ है बगुला। इत्यादि पद पद के अर्थों का जुदा जुदा ज्ञान होता है। पीछे उपमा घटित वाक्यार्थ का वोध होता है। उस समय में पदों के जुदे जुदे अर्थों का जो पहिले ज्ञान होता है वह जाता रहता है। वैसे ही यहां यह निर्जन स्थान है ऐसा व्यंग्यार्थ का ज्ञान होने के समय में उक्त वाक्यार्थ का ध्यान जाता रहता है। इस रीति से केवल व्यंग्यार्थ ज्ञान रहता है तव वह दूसरे अर्थ का शोभाकर न होने से अलंकार नहीं। इस दशा में वह स्वयं प्रधान हो करके व्यंग्य मात्र है। इसीतरह अप्रस्तुतप्रशंसा में भी बुद्धि अप्रस्तुत वृत्तांत रूप वाच्यार्थ का ध्यान छोड़ करके प्रस्तुत वृत्तांत रूप व्यंग्यार्थ का ध्यान करती है; परंतु व्यंग्यार्थ ज्ञान होने पर साधर्म्य विवद्या से बुद्धि पीछा तुरंत अप्रस्तुत वृत्तांत रूप वाच्यार्थ का भी ध्यान कर लेती है। उस समय वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ दोनों रह जाते हैं, तव अप्रस्तुत वृत्तांत रूप वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ का शोभाकर होने से अलंकार है। और व्यंग्यार्थ अलंकार्य अर्थात् शोभायमान होनेवाला है। ऐसे अन्यत्र भी जान लेना। वाच्यार्थ रहते आये हुए व्यंग्यार्थ की चार गति हैं। वाच्यार्थ के सम, १ वाच्यार्थ से असम, २ संदेह ३ और प्रतिभामात्र ४॥ सारूप्य निबंधना अप्रस्तुतप्रशंसा में व्यंग्यार्थ अप्रस्तुत वृत्तांत वाच्यार्थ के समान ही होता है, वहां अप्रस्तुत वृत्तांत रूप वाच्यार्थ प्रस्तुत वृत्तांत रूप व्यंग्यार्थ का शोभाकर होने से वाच्यार्थ अलंकार होता है, इसलिये इस अलंकार का नाम अप्रस्तुतप्रशंसा है। इसीतरह व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का विशेषण न होवे पृथक् हो करके रहै तहां व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के सम है। "अनिमिष अचल जु बक बकी" यहां निर्जन स्थान रूप व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के सम है॥ समासोक्ति में अप्रस्तुत वृत्तांत रूप व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के सम नहीं होता; किंतु संक्षेप रूप होता है, और वह व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का पोषक हो करके अलंकार होता है॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

निश मुख चंचल तारिका, परसत शशि वड भाग ।
गलित भयो तिमिरांशुक जु, लख्यौ नहीं वश राग ॥ १ ॥

यहां चंद्र रजनी वृत्तांत वाच्य है। और नायक नायिका का वृत्तांत व्यंग्य है। इस समासोक्ति उदाहरण में बुद्धि नायक नायिका वृत्तांत रूप व्यंग्यार्थ का ध्यान करती है, तब चंद्र रजनी वृत्तांत रूप वाच्यार्थ का ध्यान जाता रहता है। परंतु चंद्र रजनी में नायक नायिकात्व आरोपण करने के लिये बुद्धि चंद्र रजनी वृत्तांत रूप वाच्यार्थ का भी पीछा तुरंत ध्यान कर लेती है, तब व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का पोषक होने से वाच्यार्थ का व्यंग्यार्थ अलंकार है। और अप्रस्तुतप्रशंसा में भी बुद्धि पीछा वाच्यार्थ का ध्यान न करे तौ केवल व्यंग्यार्थ ही रहता है, तब इस दशा में अलंकार नहीं होगा। संदेह संकर स्थल में वाच्यालंकार का और व्यंग्यालंकार का संदेह होता है। वह संदिग्ध भी व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का शोभाकर होने से अलंकार है। और दीपक आदि में व्यंग्य रूप उपमा विवक्षित न होने से प्रतिभा मात्र है, अर्थात् आभास मात्र है, वह वाच्यार्थ की शोभाकर न होने से अलंकार नहीं॥ व्यंग्य तौ पर्यायता से कहना है। " अनिमिष अचल जु वक बकी " यहां स्थान की निर्जनता कहना इष्ट है, जिस को रचनांतर से कहा है, सो यह तौ पर्यायोक्ति अलंकार है, ध्वनि कैसे ? ऐसी शंका न करनी चाहिये; *क्योंकि पर्यायोक्ति अलंकार का स्वरूप तौ यह है कि विवक्षितार्थ* के लिये कहा हुआ प्रकारांतर। और व्यंग्य का स्वरूप है अनुरणन न्याय से व्यंजना वृत्ति से जाना हुआ प्रतीयमान अर्थ। " अनिमिष अचल जु " इति॥ यहां वाच्यार्थ निर्जन स्थान का प्रकारांतर नहीं। सो पर्याय में चमत्कार का आधिक्य होवे तब तौ अर्थचित्र हो करके पर्यायोक्ति अलंकार है। और जहां उक्त व्यंग्य में चमत्कार का आधिक्य होवे तहां व्यंग्य में पर्यायोक्ति नाम की संगति नहीं; किंतु अनुरणन न्याय की संगति है, इसलिये वह व्यंग्यार्थ ध्वनि है। कहा है ध्वनिकार ने भी पर्यायोक्ति में व्यंग्य प्रधान होवे तहां तौ व्यंग्य ध्वनि है। पर्यायोक्ति का भलें ध्वनि में अंतर्भाव होवे, ध्वनि का पर्यायोक्ति में अंतर्भाव नहीं होगा; क्योंकि ध्वनि का बहुत विषय है।

॥ दोहा ॥

नींद गई इच्छा गमन, साथी चलत सवेर ।
गमन करत है नहिं तदपि, अली पथिक यह हेर ॥ १ ॥

यहां अनुक्त निमित्त विशेषोक्ति में प्रकरण वश से अनुराग व्यंग्य की प्राप्ति है; तथापि चमत्कार की प्रधानता तो कारण सामग्री रहते कार्य न होने रूप वाच्यार्थ में है, इसलिये यहां विशेषोक्ति अलंकार है। और कहा है ध्वनिकार ने—

शब्दार्थशक्त्या वाक्षिप्तो व्यङ्ग्योर्थः कविना पुनः ॥
यत्राविष्क्रियते स्वोक्त्या सान्यैवालंकृतिर्ध्वनेः ॥ १ ॥

अर्थ—शब्द शक्ति से अथवा अर्थ शक्ति से आक्षिप्त भये हुए व्यंग्यार्थ को जहां फिर कवि अपनी उक्ति से प्रकाशित कर देवे वह अर्थ ध्वनि से अन्य हो करके अलंकार है ॥ तात्पर्य यह है कि वचन से प्रकाशित किया हुआ व्यंग्यार्थ वाच्य से अतिशय युक्त न होने से ध्वनि नहीं; किंतु वाच्य के समान हो जाने से गुणीभूत व्यंग्य हो जाता है, इसलिये वह अलंकार है ॥

॥ दोहा ॥

अनिमिष अचल जु बक बकी, नलिनी पत्र निहार ।
मरकत भाजन में धरे, शंख सीप उनिहार ॥ १ ॥

यहां व्यंग्यार्थ वचन से प्रकाशित नहीं किया गया है, इस लिये ध्वनि है। और—

॥ चौपाई ॥

मम संकेत प्रश्न लख पाया,
तब जु विदग्धा वचन सुनाया ।
नलिनी पत्र बकी मन लोभाहिं,
मरकत पात्र सीप इव शोभहिं ॥ १ ॥

पूर्व पद्य में कवि ने सूक्ष्मता से नायिका का संकेत स्थल जतलाना वर्णन किया है; परंतु वहां संकेत स्थल दूर से व्यंग्य होने से ध्वनि है।

उत्तर पद्य में दूर से व्यंग्य भये हुए संकेत स्थान के प्रश्न और उत्तर को कवि ने अपने वचन करके काव्य में प्रकाशित कर दिया है, इस लिये यहां व्यंग्य गुणीभूत होने से सूक्ष्म अलंकार है ॥

यथावा—

॥ सवैया ॥

आम्र लता किसलै नर कोकिल,
दंशित हैं लखि कैसे सुहाये।
हंस हु सौं छत युक्त किये यह,
कोस सरोजनि के मन भाये ॥
यां वन बीच विहारत ही,
अलि आपस बैन तिया सुन पाये।
हाथ मुरार धर्यो अधरें अरु,
अंचल में कुच दोऊ दुराये ॥ १ ॥

यहां प्रथम के तीन चरणों में व्यंग्य भये हुए नायिका के रति चिन्हों को चतुर्थ चरण में कवि ने वचन से प्रकाशित कर दिया है, इसलिये यह ध्वनि नहीं; किंतु प्राचीन मत का प्रस्तुतांकुर अलंकार है ॥

इतिश्रीमन्मरुमण्डलमुकुटमणि राजराजेश्वर जी, सी, एस्, आई, महाराजाधिराज जसवंतसिंह आज्ञानुसार कविराज मुरारिदानविरचिते जसवंतजसोभूषण ग्रंथे काव्य स्वरूप निरूपणं नाम द्वितीयाकृतिः समाप्ता ॥



॥ श्रीजगदंबायै नमः ॥

अथ शब्दालंकार ॥

॥ दोहा ॥

कहत शब्द कों ब्रह्म सब, वैयाकरण विख्यात ।
अलंकार उस शब्द के, जसवँत बरने जात ॥ १ ॥

शब्द में रह कर काव्य की शोभा करे वह शब्दालंकार है ।

॥ अनुप्रास ॥

अनु उपसर्ग का अर्थ है वीप्सा, अर्थात् अनेकबार । कहा है चिंतामणि कोषकार ने "अनु वीप्सायाम्" प्र उपसर्ग का यहां अर्थ है प्रकृष्ट, अर्थात् उत्तम । कहा है चिंतामणि कोषकार ने "प्रकृष्टः उत्तमे" आस शब्द का अर्थ है न्यास, अर्थात् धरना । कहा है चिंतामणि कोषकार ने "प्रकृष्टो न्यासः प्रासः" अनुप्रास इस शब्द समुदाय का अर्थ है वारंवार उत्तम धरना । अर्थ के वारंवार धरने में पुनरुक्ति दूषण होता है, उस से विपरीत भाव अर्थात् भूषण का बोध कराने के लिये धोरी ने इस नाम में प्र उपसर्ग लगाया है । यहां काव्य के अलंकारों का प्रकरण है, और काव्य में शब्द, अर्थ ये दो ही वस्तु होती हैं सो अर्थ का वारंवार धरना तौ दूषण है उत्तम नहीं इस से, और शब्दालंकार के प्रकरण से यहां शब्द का वारंवार धरना अर्थसिद्ध है ॥

॥ दोहा ॥

अनुप्रास भूषण नृपति, पुन पुन उत्तम न्यास ॥

यथाः—

जग जाहर जसवंत नृप, अखिलन पूरक आस ॥

यहां तृतीय चरण में जवर्ण की, और चतुर्थ चरण में अवर्ण की अनेकवार आवृत्ति होने से अनुप्रास अलंकार है । वर्ण, पद, वाक्य, च-

रण ये सब शब्द हैं। कहा है शास्त्र में "शब्दो द्विविधः। वर्णात्मको ध्वन्यात्मकश्च" शब्द दो प्रकार का है। ध्वनि रूप और वर्ण रूप। पद, वाक्य, चरण ये सब वर्णमय हैं॥

यथावाः—

॥ मनहर ॥

जैसे नृप पुत्रन में छत्र जसवंत बली,
त्यौंही गन सज्जन तुरंगन के गन में।
अच्छरि सौ नाचैं यों तराछैं आवजावन में,
कामिनी कटाछैं किधौं दामिनी है घन में॥
भनत मुरार देश देशन में कीत गाई,
ऐसी चपलाई कहो छाई है कवन में।
नट में न नारि में न नय में न नैनन में,
मृग में न मारुत में मीन में न मन में॥ १॥

यहां चतुर्थ चरण में नकार और मकार की आवृत्ति होने से अनुप्रास अलंकार है।

यथावाः—

॥ मनहर ॥

मोद करि ऐसो मधु मधुर पठायो भूप,
छायो बैठि केतकी गुलाब सुम छाजे पैं।
स्वादुपन सरस सुधा हू तें सुहायो सूम,
लाखन के लखत नमायो नैन लाजे पैं॥
ज्यों ज्यों रविमल्ल को नजीक नियरायो गेह,
त्यों त्यों होइ मोहित सुगंध सुख ताजे पैं।
आयो जानि आसव हमारे बलवंत आये,
भैरव भवानी दौरि दौरि दरवाजे पैं॥ १॥

इति बुंदीशाश्रित महाकवि मिश्रण चारण सूर्यमल्लस्य।

यहां चतुर्थ चरण में आकार, भकार और दकार की आवृत्ति होने से अनुप्रास अलंकार है।

यथावाः—

॥ दोहा ॥

शीतदीधिती दवदहन, जा के प्रिय हैं पास ॥
शीतदीधिती दवदहन, जा के प्रिय नहिं पास ॥ १ ॥

यहां "शीतदीधिती" और "दवदहन" इन पदों की और "जा के प्रिय" इस वाक्य की आवृत्ति होने से अनुप्रास है। "शीतदीधिती" और "दवदहन" ये शब्द समास युक्त होने से पद हैं। "जा के" और "प्रिय" इन दोनों का आपस में समास नहीं है; किंतु ये जुदी जुदी विभक्तिवाले हैं, इसलिये ये दोनों पद हैं, सो इन दोनों पदों का समुदाय वाक्य है। पद का यह लक्षण है "विभक्त्यन्तं पदम्" विभक्ति जिस के अंत में होवे वह पद है। वाक्य का यह लक्षण है। "पदसमुदायो वाक्यम्" पदों का समुदाय वाक्य है।

यथावाः—

॥ मनहर ॥

गाहत गयंद फेट ढाहत दुरंगन कों,
सहज ही साहत कुरंगन की पंत कों।
आंन को समांन आवें पंछी हू न जांन पावें,
धीर तज धावें तो दिखावें धर अंत कों ॥
भनत मुरार थित थार पे करत नृत्य,
भृत्य सौ लगत वाह्य कमला के कंत कों।
जंग कों जमैंत दीन दुख कों दमैंत,
रंगभूमि कों रमैंत है कमैंत जसवंत कों ॥ १ ॥

यहां जमैंत दमैंत कमैंत इन पदों में अमैंत इस पदांश की आवृत्ति होने से अनुप्रास अलंकार है ॥

यथावाः—

॥ मनहर ॥

नाम रिसपत को मिटायो है रियासत सौं,
साफ इनसाफ होत संत औ असंत कों।
चोर बटपारे जे दुखारे दुनियां के तिन्हैं।

मारकैं निकारे ते पठाये दिग अंत कौ ॥
नंद तखतेश के प्रतापी परतापसिंघ,
तेरो आपताप आफताव ज्यों अतंत कौ।
सवलन धार उर सवर नमायो सीस,
जवर जमायो राज राजा जसवंत कौ ॥ १ ॥

यहां सवर जवर इन पदों में अवर इस पदांश की आवृत्ति होने से अनुप्रास अलंकार है ॥

महाराजधिराज कर्नल सर प्रतापसिंहजी के, सी, एस्, आई, एडिकाङ्ग टु हिज रोयल हाईनेस दी प्रिंस आफ वेल्स मुसाहब आला राज मारवाड़ का चित्र



वेदव्यास भगवान् का यह लक्षण हैः—

स्यादावृत्तिरनुप्रासो वर्णानां पदवाक्ययोः ॥

अर्थ—वर्ण, पद और वाक्यों की आवृत्ति अनुप्रास अलंकार होवेगा ॥ काव्यप्रकाश में यह लक्षण हैः—

वर्णसाम्यमनुप्रासश्छेकवृत्तिगतो द्विधा ।
सोऽनेकस्य सकृत्पूर्व एकस्याप्यसकृत्परः ॥ १ ॥

अर्थ—वर्ण साम्य अर्थात् वैसे वर्णों का फिर आना अनुप्रास अलंकार है। वह छेक और वृत्ति गत होने से दो प्रकार का है। अनेक वर्णों की एकवार समता होवे सो तौ पूर्व अर्थात् पहले कहा सो है, अर्थात् छेकानुप्रास है। और एक वर्ण की भी अनेकवार समता वह पर अर्थात् पीछे कहा सो है, अर्थात् वृत्त्यनुप्रास है ॥ छेकानुप्रास का प्रकाशकार ने ऐसा उदाहरण दिया है। "मंद चंद तरुणी तव मुख तें" यहां अनुस्वार नकार का है। "च–न्द–म–न्द" यहां नकार दकार इन संयोगी वर्णों की एकवार समता है, इसलिये यह छेकानुप्रास है। इन का अनेक वर्ण कहने का तात्पर्य यह है कि मिले हुए वर्ण; जैसा कि मन्द चन्द यहां नकार दकार मिले हुए हैं। और यहां तकार एक वर्ण की अनेकवार समता है, इसलिये यह वृत्त्यनुप्रास है। छेक नाम चतुर का है। छेकानुप्रास अर्थात् चतुरों का अनुप्रास। और वृत्त्यनुप्रास का अर्थ करता हुआ प्रकाशकार कहता हैः—

वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः ॥

अर्थ—नियत अर्थात् नियम किये हुए वर्णों में रहता हुआ रस विषयक व्यापार वृत्ति है ॥ गुण प्रकरण में प्रकाशकार ने कहा है कि माधुर्य गुण में कोमल वर्ण चाहिये और ओज गुण में कठोर वर्ण चाहिये। उक्त लक्षण कारिका में "एकस्यापि" यहां अपि शब्द है। जिस से अनेक व्यंजनों की अर्थात् संयोगी अक्षरों की अनेकवार समता में वृत्त्यनुप्रास सिद्ध होता है।

यथा—

मन्द चन्द सुखकन्द जु मुख तैं ॥

हमारे मत एक वर्ण की समता, अनेक वर्णों की समता, अनेक वर्णों की एकवार समता, अनेक वर्णों की अनेकवार समता, एक वर्ण की अनेकवार समता और एक वर्ण की एकवार समता, उदाहरणान्तर है, न कि प्रकारान्तर। एक वर्ण की एकवार समता में भी चमत्कार अनुभव सिद्ध है, वहां भी अनुप्रास अलंकार ही होवेगा, इसलिये एक वर्ण की अनेकवार समता यह नियम भी समीचीन नहीं॥ "मन्द चन्द तरुणी तुव मुख तें" यहां मकार की एकवार समता भी श्रवणों को सुखदायी है। और अनुप्रास की अलंकारता के लिये रस पर्यंत अनुधावन भी आवश्यक नहीं; क्योंकि शब्द की अलंकारता तो श्रवण सुख मात्र से सिद्ध हो जाती है। और काव्यप्रकाश गत कारिकाकार लाटानुप्रास नामक अनुप्रास का प्रकार कह कर, उस के पांच प्रकार कहता हैः—

शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः।
पदानां स पदस्यापि वृत्तावन्यत्र तत्र वा॥ १॥
नाम्नः स वृत्त्यवृत्त्योश्च तदेवं पञ्चधा मतः॥

अर्थ— लाटानुप्रास शाब्द अर्थात् शब्द का है। तात्पर्य यह है कि पूर्वोक्त अनुप्रास तो वर्ण का है। और यह शब्द का है। यहां शब्द का वार वार आना है। भेद में तात्पर्य मात्र कहने से यह सिद्ध होता है कि इस लाटानुप्रास में अर्थ का भेद नहीं है; किंतु अन्वय रूप संबंध मात्र का भेद है, अर्थात् भिन्न भिन्न स्थल में लगाना यह भेद है। यथाः—

शीतदीधती दवदहन, जा के प्रिय है पास।
शीतदीधती दवदहन, जा के प्रिय नहिं पास॥ १॥

यहां शीतदीधती शब्द का वार वार आना है, परंतु दोनों जगह अर्थ एक ही है। अन्वय रूप संबंध मात्र भेद है॥ यह लाटानुप्रास पंचधा हैः—पदों का अर्थात् वाक्य का १ पद का २ और नाम का ३। विभक्ति सहित को पद कहते हैं। विभक्ति रहित कोनाम कहते हैं। नाम तीन प्रकार का है। नाम की आवृत्ति में दोनों

जगह समास हो १ दोनों जगह समास न हो २ और एक जगह समास हो, एक जगह समास न हो ३। लाट देश विशेष है। देश भेद से लाटी, पाञ्चाली, वैदर्भी ऐसी काव्य की रीतियां भी कही गई हैं, जैसे यह अनुप्रास लाट देशवालों का माना हुआ है, इसलिये इस का नाम लाटानुप्रास है। हमारे मत पद, वाक्य, नाम, समास यह भी उदाहरणांतर मात्र है, न कि प्रकारांतर। व्यास भगवान् ने अपने लक्षण में—

वर्णानां पदवाक्ययोः ॥

अर्थ—वर्णों का, पद का और वाक्य का॥ ऐसा उदाहरणांतर के तात्पर्य से ही कहा है, न कि प्रकारांतर के तात्पर्य से॥ भरत भगवान् शब्दालंकारों में एक यमक ही को मानते हुए यह लक्षण आज्ञा करते हैं-

शब्दाभ्यासं तु यमकं पादादिषु विकल्पितम्।
विशेषदर्शनं चास्य गदतो मे निबोधत॥ १॥

अर्थ—शब्द का अभ्यास अर्थात् वारंवार कहना यमक है। उस का विकल्प पाद आदि में है। फिर इस का विशेष दर्शन अर्थात् प्रकार मैं कहता हूं सो जानो॥ भरत भगवान् ने यमक के बहुतसे प्रकार कहे हैं। अनुप्रासादि सब उन में आ जाते हैं॥ काव्यप्रकाश गत कारिकाकार यमक का यह लक्षण कहता हैः—

अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनःश्रुतिः।
यमकं पादतद्भागवृत्ति तद्यात्यनेकताम्॥ १॥

अर्थ—अर्थवाला हो तब भिन्न अर्थवाले वर्णों की पुनःश्रुति सो यमक। पाद अर्थात् चरण अथवा चरण के भाग में वरतने से तत् अर्थात् यह अनेकता को प्राप्त होता है॥ एक अर्थवाले वर्णों की पुनःश्रुति में लाटानुप्रास माना गया है, उस से टलाने के लिये यमक विशेष का यह स्वरूप कहा है, कि दोनों अर्थवाले होवें तौ भिन्न अर्थवाले होने चाहिये। इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि एक में अर्थ होवे, एक में न होवे, और दोनों विना अर्थवाले होवें, वहां तौ यमक होता ही है; परंतु दोनों अर्थवाले होवें तहां भिन्न अर्थवाले होने चाहिये। इस रीति से यमक के तीन प्रकार हैं॥

क्रम से यथाः—

हे समर समरस सुभट मरुपति वाहिनी विख्यात ।

यहां समर शब्द की पुनःश्रुति है। तहां पहिले समर शब्द का अर्थ है युद्ध। और दूसरे समर शब्द का कोई अर्थ नहीं है; क्योंकि यहां "समरस" इतना संपूर्ण शब्द सार्थक विवक्षित है। समरस शब्द का अर्थ है समान रस, अर्थात् एकरस ॥

मधुपराजि पराजितमानिनी ॥

भ्रमरों की पंक्ति ने मानिनी को जीत लिया, अर्थात् उद्दीपनता से मानिनी का मान मोचन कर दिया ॥ यहां पराजि शब्द की पुनःश्रुति है, सो इस शब्द का यहां दोनों जगह कुछ भी अर्थ नहीं है। "मधु-पराजि" यहां "मधुप" शब्द जुदा है, और "राजि" शब्द जुदा है। "पराजित" यहां "परा" शब्द जुदा है, और "जित" शब्द जुदा है। परा उपसर्ग का अर्थ है पराङ्मुख। कहा है चिंतामणि कोपकार ने "परा पराङ्मुखे" जित शब्द का अर्थ है जीतना। इस समुदाय का अर्थ है विमुख करके अर्थात् भगाय करके जीत लेना ॥

हार रहे गिरि तेरे हार वारे कुच सौं ॥

यहां हार शब्द की पुनःश्रुति है। तहां पहले हार शब्द का अर्थ है पराजय। और दूसरे हार शब्द का अर्थ है मोतियों आदि की माला॥ "यम" धातु से "यमक" शब्द बना है। यम धातु का अर्थ है उपराम अर्थात् विश्राम। सो प्राचीनों ने वर्णों की पुनःश्रुति का कहीं दूसरे चरण में, कहीं तीसरे चरण में, कहीं चतुर्थ चरण में, विश्राम किया है, यह यमक शब्द की सार्थकता है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

पद्म पराग परागत सु, नव जु पलास पलास ।
सुमृदुलतांत लतांत वन, प्रिय प्रिय मधु मधु मास ॥ १ ॥

पद्म अर्थात् कमल, पराग करके परागत अर्थात् व्याप्त हैं। नवीन हैं पलास वृक्षों के पलास अर्थात् पत्र। मृदुल अर्थात् कोमल और

तांत अर्थात् थके हुए हैं लतांत अर्थात् लताओं के अंत वन में। तात्पर्य यह है कि मलय मारुत से नृत्य करने से थके हुए हैं लताओं के अग्रभाग। हे प्रिय! प्रिय है मधु मदिरा ऐसे मधु मास अर्थात् चैत्र मास में॥ यहां पहिले पराग शब्द का अर्थ है सुमन रज। दूसरे पराग शब्द का कोई अर्थ नहीं है; क्योंकि वह पूरा शब्द परागत है। पहिले पलास शब्द का अर्थ है वृक्ष विशेष। दूसरे पलास शब्द का अर्थ है पत्र। पहिले लतांत शब्द का कोई अर्थ नहीं है; क्योंकि मृदुल और तांत जुदे जुदे शब्द हैं। दूसरे लतांत शब्द का अर्थ है लताओं के अग्र भाग। पहिले, प्रिय शब्द का अर्थ है पति। दूसरे प्रिय शब्द का अर्थ है वल्लभ। पहिले मधु शब्द का अर्थ है मदिरा। दूसरे मधु शब्द का अर्थ है चैत्र मास॥ हमारे मत वर्ण साम्य और वर्णों की पुनःश्रुति एक ही है। एकार्थता और भिन्नार्थता से लाटानुप्रास और यमक का भेद बतलाया, और एक शब्द अर्थवाला होवे, दूसरा अर्थवाला न होवे, दोनों अर्थवाले न होवें, दोनों अर्थवाले होवें तो भिन्नार्थवाले होवें, ये यमक के प्रकार बतलाये सो यह किंचिद्विलक्षणता तो उदाहरणांतर की साधक है, नकि अलंकारांतरता और प्रकारांतरता की साधक। ये सब अनुप्रास के ही उदाहरणांतर हैं; क्योंकि इन सब में अनुभव सिद्ध चमत्कार अनुप्रास का ही है। और यहां अर्थ पर्यंत अनुधावन की आवश्यकता भी नहीं, क्योंकि यह शब्दालंकार है। इस में शब्द के बार बार सुनने मात्र से चमत्कार होता है। एक शब्द के ही बार बार सुनने में चमत्कार है। अर्थ के बार बार सुनने में नहीं। इसलिये अनुप्रास शब्दालंकार ही माना गया है, न कि अर्थालंकार भी। अनुप्रास अलंकार को उभयालंकार किसी ने नहीं कहा है। इसी प्रकार दूसरे चरण में अथवा तीसरे चरण में वा चौथे चरण में वर्णों की पुनःश्रुति भी उदाहरणांतर मात्र है। प्रत्युत शब्दों की पुनःश्रुति समीप की अपेक्षा दूर होने में चमत्कार की न्यूनता है।

यथाः—

॥ चौपाई ॥

विहँग शिशू सुकुमार सुहाये,

पिंजल जात पत्र छवि छाये।
तज कर ग्रीषम धाम शुष्क तर,
किय जलजातपत्र सर भीतर ॥ १ ॥

पिंजल पीत, और जात अर्थात् नयी जन्मी हुई, पत्र अर्थात् पांखों से शोभा युक्त। बहुतसे पक्षियों के जन्म की पांखें पीत होती हैं। जलज अर्थात् कमलों को आतपत्र अर्थात् छत्र किया है॥ यहां दूसरे चरण का चौथे चरण में यमक है। यहां पहिले "जात पत्र" शब्द का अर्थ है जन्मी हुई पांखें। दूसरे "जातपत्र" शब्द का कुछ भी अर्थ नहीं; क्योंकि जलज और आतपत्र जुदे जुदे शब्द हैं॥ प्राचीनों ने शब्दालंकार में पुनरुक्तिवदाभास नामक अलंकारांतर माना है। काव्यप्रकाश में यह लक्षण हैः—

पुनरुक्तिवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा।
एकार्थतेव शब्दस्य तथा शब्दार्थयोरयम् ॥ १ ॥

अर्थ—विभिन्न आकारवाले शब्दों में रहती हुई "एकार्थता इव" अर्थात् वास्तव में एकार्थता नहीं, किंतु एकार्थता जैसी, अर्थात् आभास रूप एकार्थता, वह पुनरुक्तिवदाभास अलंकार है। "शब्दस्य" अर्थात् यह अलंकार शब्द का है। तथा अर्थात् वैसे ही यह अलंकार शब्द अर्थ दोनों का है, अर्थात् उभयालंकार है॥ इस का हम वक्ष्यमाण आभास अलंकार में अंतर्भाव करेंगे। प्रकाशकारादि कितनेक प्राचीनों ने वक्रोक्ति और श्लेष की शब्दालंकारों में गणना की है। और सर्वस्वकारादि कितनेक प्राचीनों ने इन दोनों अलंकारों की अर्थालंकारों में गणना की है। हम ने भी इन को अर्थालंकार माना है; क्योंकि अर्थ ज्ञान की अपेक्षा विना श्रवण मात्र से रमणीय होवे वही शब्दालंकार है। वक्रोक्ति और श्लेष में तो अर्थ विचार से ही मनरंजनता है। काव्यप्रकाश गत कारिकाकार इत्यादि सब प्राचीनों ने काव्य के अक्षर छत्र, कमल, खड्ग इत्यादि आकार से लिखे जावें तब उन को चित्र नामक जुदा अलंकार शब्दालंकारों में गिना है॥ काव्यप्रकाश में यह लक्षण हैः—

तच्चित्रं यत्र वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुता ॥

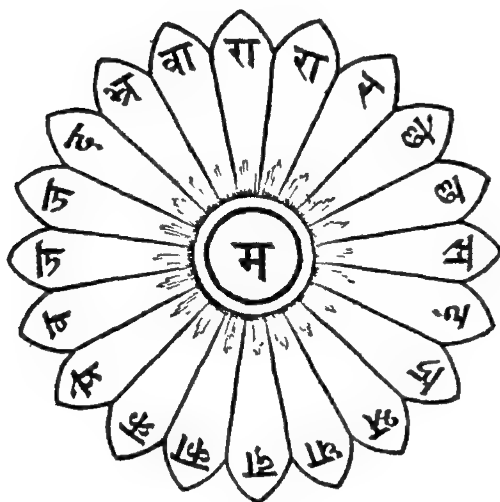
अर्थ—जहां वर्णों की खड्ग आदि आकृति की हेतुता होवे वह चित्र अलंकार ॥ चित्र नाम यहां चित्राम का है ॥

कमल बंध.

दोहा

राम राम रम छेम छम, शम दम जम श्रम धाम।
दाम काम क्रम प्रेम वम, जम जम दम भ्रम वाम ॥

इति कविप्रियायाम् ।



राम राम इति ॥ कोऊ काहू सौं उपदेश करै है राम श्रीरामचंद्र और राम श्रीबलदेवजी, तामें तुम रमो । तिन के रूप को ध्यान करो, गुन गान करो । याही बात की क्रीड़ा करो । कैसे हैं, छेम कल्यान देने में छम समर्थ हैं । शम शांति, दम बाहिर की इंद्रियन को रोकिबो, जम नियम ये जितनी जोगिन की क्रिया हैं सो सब श्रम मिहनत ताके धाम घर हैं । दाम जो पैसा, ताकी जो काम कामना ताको जो क्रम "जो सौ भये तो हजार होय तौ भलौ, हजार होय तौ लाख होय तौ भलौ" यह जो क्रम है ताहि विषै जो प्रेम ताकों तूं वम उगलि दे, मन में मति राखें । जम जम कहिये सदा वामा स्त्री विषै सुख मानत है । भूलि के ताहि भ्रम कों तू दम दमन करो दूर करो। यह अर्थ हरिचरणदास टीकाकार ने किया है ॥

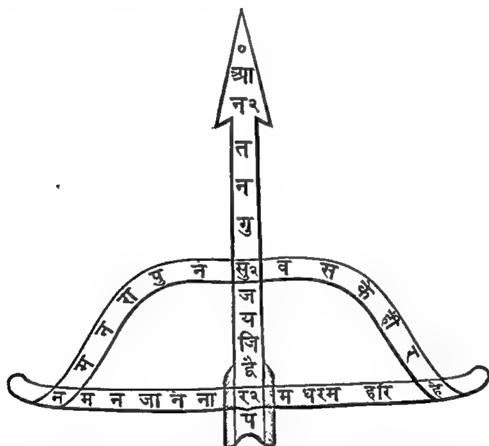
धनुप वंध.

दोहा

परम धरम हरि हेरहीं, केशव सुनै पुरान ।
मन मन जानै नार द्वै, जिय जस गुन तन आन ॥ १ ॥

इति कविप्रियायाम् ।

यहां धनुप वंध में शर के आकार में तीन जगह दो के अंक हैं, उन अक्षरों को दो वेर पढ़ना ॥



परम इति ॥ केसोदास कहते हैं । या वात कों सुनों । कपटी लोग जे हैं सो लोगन के दिखायवे के लिये पुरान में हरि भगवान् के परम उत्कृष्ट धर्म को हेरते हैं । मन मन में दोय नार, नारी स्वकीया परकीया याही कों जानते हैं । एही दोय पदार्थ हैं, और नहीं । किंवा परकीया और सामान्या स्वकीया कों त्याग करते हैं । यह नहीं कै जस

को गुनै हैं, विचारै हैं। आन और नहीं विचारैं॥ यह अर्थ हरिचरणदास टीकाकार ने किया है॥

काव्यप्रदीपकार कहता है, कि यह चित्र अलंकार रस का पोषक तौ नहीं है, तथापि कवि की निपुणता के वश से विस्मय का हेतु होने से अलंकार समझना चाहिये। रत्नाकरकार कहता हैं कि, यह चित्र काव्य के आत्मा रूप रस के स्वाद का प्रतिबंधकारी होने से वैसा अलंकार नहीं है। प्राचीनों के ऐसे कथन से यह स्पष्ट है कि चित्र को किंचित् अलंकारता है। हमारे मत में तौ ऐसे चित्र को सर्वथा अलंकारता है नहीं, क्योंकि अलंकार तौ काव्य शोभाकर धर्म हैं। अर्थ ज्ञान से शोभा करनेवाला अर्थ अर्थालंकार है। शब्द ज्ञान से शोभा करनेवाला शब्द शब्दालंकार है। यहां न तौ अर्थविचार से रम्यता है। और न शब्द श्रवण से रम्यता है। किंतु कमलाकार इत्यादि आलेख्य ज्ञान से चित्रकारवत् उस के कर्ता की चातुरी मात्र है॥

इतिश्रीमन्मरुमण्डल मुकुटमणि राजराजेश्वर जी, सी, एस्, आई, महाराजाधिराज जसवंतसिंह आज्ञानुसार कविराज मुरारिदान विरचिते जसवंत जसो भूषण ग्रंथे शब्दालंकार निरूपणं नाम तृतीयाकृतिः समाप्ता॥ ३॥



श्रीजगदम्बायै नमः ॥

॥ अथ अर्थालंकार ॥

दोहा

इक सौं होत अनेक पुन, व्हैं अनेक सौं अेक।
अलंकार नृप अर्थ के, तिह नम कहौं कितेक ॥ १ ॥

महाराजा भोज, आचार्य दंडी, रुद्रट, वाग्भट ये अर्थालंकारों में प्रथम स्वभावोक्ति अलंकार का निरूपण करते हैं। इन लोकों ने स्वभावोक्ति के प्रथम निरूपण में कोई हेतु नहीं कहा है; परंतु ऐसा जाना जाता है, कि प्रथम स्वभाव सिद्ध अलंकार का निरूपण होना उचित है, और भरत भगवान् वेदव्यास भगवान् आदि बहुतसे प्राचीन उपमा का प्रथम निरूपण करते हैं। उस में सर्वस्वकार और चित्रमीमांसाकार यह हेतु कहते हैं:—

दोहा

होत विचित्र जु विश्व कौ, ब्रह्म ज्ञान तैं ज्ञान।
त्यौं उपमा समुझैं भवत, सब भूपन कौ भान ॥ १ ॥
एकहि जो उपमा नटी, काव्य रंग भुवि आय।
रंजति रूप अनेक धर, रसिकन मन बहु भाय ॥ २ ॥

हम तो उपमा अति प्रसिद्ध है, इसलिये प्रथम उपमा का निरूपण करते हैं। उपमा निरूपण के अनंतर प्राचीनों ने इतर अलंकारों का निरूपण भिन्न भिन्न क्रम से किया है। उन के पूर्वापर में किसी हेतु का निर्वाह नहीं होता, इसलिये अशोकवनिका न्यायानुसार कर्ता की इच्छा ही हेतु मानना होगा। अशोकवनिका न्याय यह है, कि रावण ने सीता को ले जा कर अशोक वन में रक्खा। यहां कोई शंका करे कि आम्रादि वन में क्यों नहीं रक्खा ? तो यहां रावण की इच्छा ही हेतु कहना पड़ेगा। ऐसी शंकाओं का समाधान कर्ता की इच्छा से इतर

नहीं हो सकता ॥ हम तो वर्णमाला के क्रम से उपमा से इतर अलंकारों को कहेंगे ॥

उपमा

बहुधा अलंकार लोक व्यवहार के अनुसार हैं। लोक में वस्तु का निर्णय अनेक प्रकार से होता है। भार के विषय में निर्णय रत्ती, मासा, तोला इत्यादि से होता है। ऊंचाई निचाई और लंबाई के विषय में निर्णय अंगुल, बिलस्त, हस्त इत्यादि से होता है। वस्त्रादि के पोत, रंग इत्यादि के सादृश्य के विषय में निर्णय दूसरे वस्त्रादिकों के समीप करने से अर्थात् मिलाने से होता है। सो इस छाया से बुद्धि में एक वस्तु के समीप दूसरी वस्तु को करके जो उस के गुण दोष इत्यादि के सादृश्य का निर्णय किया जावे वह उपमा अलंकार है॥ यहां "उप" उपसर्ग का अर्थ है समीपता। कहा है चिंतामणि कोषकार ने "उप सामीप्ये" "माङ्" धातु से "मा" शब्द बना है। माङ् धातु मान अर्थ में है कहा है धातु पाठ में "माङ् माने" मान, मिति और विज्ञान ये पर्याय शब्द हैं। कहा है चिंतामणि कोषकार ने "मितिः माने, विज्ञाने"॥ विज्ञान विशेष ज्ञान, अर्थात् निर्णय। "उप सामीप्यात् मा मानं उपमा" समीपता करके किया हुआ मान अर्थात् विशेष ज्ञान। धोरी के मतानुसार यह उपमा नाम का अक्षरार्थ है। यह उपमा के नामका साक्षात् अक्षरार्थ प्राचीनों के ध्यान में नहीं आया। आया होता तो यह व्युत्पत्ति क्यों नहीं लिखते। एक वस्तु को दूसरी वस्तु के समीप करने से तीन प्रकार का निर्णय होता है। न्यूनता का, अधिकता का और समता का। सो वर्णनीय की न्यूनता मन रंजनता विहीन होने से इस शास्त्र में अग्राह्य है। अधिकता व्यतिरेक अलंकार का विषय है। सम निर्णय में उपमा अलंकार की रूढि है। इस प्रकार उपमा शब्द यहां योगरूढ है। काव्य का शोभाकर धर्म अलंकार है, सो "इंद्र सौ उदार है, नरेंद्र मारवार कौ" ऐसे काव्यों में शोभाकर धर्म तो समीप करके किया हुआ सम भाव का निर्णय है, इसलिये धोरी ने इस का नाम उपमा रक्खा है। इसी प्रकार उदाहरणों के अनुसार धोरी ने

दूसरे अलंकारों के भी नाम रक्खे हैं, ऐसा सर्वत्र जान लीजियो॥ यहां काव्य का शोभाकर धर्म अलंकार माना गया है, इसलिये कवि की रचना में अलंकार का अंगीकार है। न कि एक वस्त्र को दूसरे वस्त्र के समीप करने से उस के पोत अथवा रंग का विशेष ज्ञान करने आदि में॥ और रमणीय होना तो अलंकार नाम ही से स्पष्ट है, ऐसा सर्वत्र जान लेना॥

॥ दोहा ॥

व्हैं विज्ञान सामीप्य सौं, उपमा नृपति निहार।

यथाः—

मारुत इव मरुपति सुजस, सवठां करत सँचार॥

हम को यह सामान्य ज्ञान तो पहिले था कि राजराजेश्वर जसवंतसिंह का जस सर्व संचारी है, परंतु अपने अपने राज्य की अवधि पर्यंत संचार करने से राजाओं की आज्ञा को, और कितनी एक अवधि पर्यंत खंडों में संचार करने से सूर्य चंद्र को, और तीनों लोकों में संचार करने से मारुत को, सर्वसंचारिता होने से यह विशेष ज्ञान नहीं था कि राजराजेश्वर के जस की सर्वसंचारिता कैसी है? इस निर्णय के लिये हम ने अपनी बुद्धि में जस को मारुत के समीप किया, तब यह विशेष ज्ञान हो गया कि राजराजेश्वर के जस की सर्वसंचारिता मारुत के जैसी है॥

यथावाः—

इंद्र सो उदार है, नरेन्द्र मारवार को।

इस वक्ता को यह सामान्य ज्ञान तो प्रथम था कि राजराजेश्वर अत्यंत उदार हैं, परंतु इंद्र के समीप करने से यह विशेष ज्ञान हुआ है, कि राजराजेश्वर की उदारता इंद्र के समान है॥

॥ दोहा ॥

अनिमिप अचल जु वक वकी, नलिनी पत्र निहार।
मरकत भाजन में धरे, शंख सीप अनुहार॥ १॥

यहां नलिनी पत्र और वक वकी के संबंध के विषय में, और

बक बकी की निश्चल स्थिति के विषय में, मरकत भाजन गत शंख सीप के साथ नलिनी पत्र गत निश्चल वक बकी को बुद्धि में समीप करके सादृश्य का निर्णय किया गया है, कि नलिनी पत्र गत अनिमिष अचल बक बकी मरकत पात्र में धरे हुए शंख सीप के समान हैं ॥

यथावाः—

मनहर

आये जे विदर्भ नरनाथ के स्वयंवर में,
सजि सजि बैठे सब सुखमा के गंज पै।
देश कुल नांम गुन विभव वखांन भले,
भायन कराय के पिछांन वात पंज पै ॥
वंदी इंदुमती कों विहाय एक भूप मंच,
ले कै जात अन्य भूप मंच मन रंज पै।
पौंन वारि लहर विथार राज हंसनी कों,
जैसे एक कंज तैं लिजात अन्य कंज पै ॥ १ ॥

यहां देखनेवालों को प्रथम यह सामान्य ज्ञान तो है, कि वंदी जन प्रेरित इंदुमती हरएक राजा के मंच प्रति क्षण क्षण विलंब करती हुई मंद गति से एक राजा के मंच से दूसरे राजा के मंच प्रति जाती है। परंतु पवन प्रेरित राजहंसनी कंज कंज प्रति क्षण क्षण विलंब करती हुई मंद गति से एक कंज से दूसरे कंज प्रति जाती हुई को बुद्धि में समीप करने से अर्थात् मिलाने से यह विशेष ज्ञान हुआ है, कि तादृश राजहंसनी के समान इंदुमती की उक्त क्रिया है।

यथावाः—

सवैया

ओठन वीच हसै विकसै,
चख भौंह कसै कुच कोर दिखावैं।
बान कटाक्ष को लक्ष करै,
परतक्ष व्है और कबैं दुर जावैं ॥

छांह छुवावैं छबीली न आपनी,
लाल नवेले कों यों ललचावैं।
हाथी कों चावक को असवार ज्यों,
साथ लगाय के हाथ न आवैं ॥ १ ॥

इति कस्यचित्कवेः।

यहां नव वय नायक को नायिका के उक्त रीति से ललचाने का सामान्य ज्ञान तो कवि को प्रथम है; परंतु हाथी को साथ लगा कर हाथ न आने रूप साटमार के वृत्तांत के साथ नायिका के उक्त वृत्तांत को बुद्धि में समीप करने से यह विशेष ज्ञान हुआ, कि वर्णनीय नायिका की क्रिया उक्त साटमार की क्रिया के समान है ॥ उपमा का वाचक इव शब्द कहीं उत्प्रेक्षा का भी वाचक होता है। जैसे दृष्टांत का वाचक "ज्यों" शब्द कहीं उपमा का भी वाचक होता है। उपमा नाम के अक्षरार्थ का विचार न करने से उपमा अलंकार के साक्षात् स्वरूप को नहीं जानते हुए प्राचीन उपमा का स्वरूप सादृश्य कहते हैं। सो उपमा में सादृश्य मात्र अलंकार नहीं; किंतु प्रसिद्ध वस्तु के समीप करके किया हुआ सादृश्य का निर्णय अलंकार है। प्रधान चमत्कार इसी का है। यहां सहृदयों का हृदय ही साक्षी है। सादृश्य मात्र उपमा का स्वरूप नहीं; किंतु उपमा का संपादक है। यह सादृश्य मात्र तो रूपकादि अनेक अलंकारों का संपादक है। उपमा का स्वरूप सादृश्य मात्र मानें, तब रूपक, संदेह, भ्रांति आदि में अतिव्याप्ति होती है। और सादृश्य तो सामीप्य संबंध नहीं किये हुए समान धर्मवाले पदार्थों में भी रहता है, वहां भी उपमा अलंकार होना चाहिये ॥ जो कहो कि प्राचीनों ने सादृश्य यह उपमा का स्वरूप नहीं बताया है, किंतु सादृश्य स्थल में उपमा अलंकार होता है ऐसा जतलाया है. सो यह समाधान समीचीन नहीं; क्योंकि अलंकार ग्रंथ बनाने का प्रयोजन तो अलंकारों के स्वरूप का बोध कराना है, सो सादृश्य स्थल में उपमा होती है ऐसे कहने से उपमा के स्वरूप का बोध नहीं होता। और ऐसा बतलाने में कौनसा पांडित्य है? उपमा अलंकार जाननेवा-

ला बालक भी यह स्वतः जान सकता है, कि सादृश्य स्थल में उपमा अलंकार होता है ॥ ऐसा और अलंकारों में भी जान लेना चाहिये। उपमा का स्वरूप प्राचीनों ने सादृश्य समझा, तव भरत भगवान्, वेदव्यास भगवान् और आचार्य दंडी आदि को भ्रांति आदि सादृश्य मूलक अलंकारों को उपमा के प्रकार मानने पड़े हैं। और इसीलिये किंचित् विलक्षण होने से वेदव्यास आदि को रूपक को भी उपमा ही कहना पड़ा है। कहा है रूपक प्रकरण में वेदव्यास भगवान् ने—

उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमेव वा ॥

अर्थ– वा अथवा छिपे हुए भेदवाली उपमा ही रूपक है ॥ और इसीलिये प्राचीनों को रूपकादिकों में अतिव्याप्ति वारण के लिये लक्षणों में कई विशेषण मिलाने पड़े हैं ॥ भरत भगवान् का यह लक्षण हैः—

यत्किञ्चित्काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते ।
उपमा नाम सा ज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया ॥ १ ॥

अर्थ—काव्य रचना में यत्किंचित् अर्थात् थोड़ा बहुत सादृश्य करके उपमा की जावे उस को उपमा नाम से जानना चाहिये। वह गुण और आकृति के आश्रय से होती है ॥ वर्ण, स्वभाव और क्रिया आदि का गुण से संग्रह हो जाता है ॥ वेदव्यास भगवान् का यह लक्षण हैः—

उपमा नाम सा यस्यामुपमानोपमेययोः ।
सत्ता चान्तरसामान्ययोगित्वेऽपि विवक्षितम् १ ॥
किञ्चिदादाय सारूप्यं लोकयात्रा प्रवर्तते ॥

अर्थ—यस्यां अर्थात् जिस में उपमान और उपमेय दोनों की सत्ता अर्थात् विद्यमानता होवे उस का उपमा नाम है। च पुनः अंतर अर्थात् उपमेय, उपमान का भेद रहते समान धर्म के योग में भी उपमा विवक्षित है ॥ इन्हों ने अनन्वय अलंकार नहीं कहा है, इसलिये इन का यह अभिप्राय है कि एक ही वस्तु में उपमेयता और उपमानता दोनों होवें वहां भी उपमा है। जैसा "इन्दुरिन्दुरिव" यहां उपमेय, उपमान एक ही इंदु है। और उपमेय उपमान का भेद रहते साधर्म्य

भी उपमा है। जैसे "इन्दु इव आनन" और लक्षण के अनंतर वेदव्यास भगवान् ने कहा है। किंचित् सारूप्य ले करके लोक व्यवहार प्रवृत्त होता है। यह कहने का तात्पर्य यह है, कि किंचित्सारूप्य से भी काव्य में उपमा हो जाती है ॥ आचार्य दंडी का यह लक्षण है:—

यथाकथंचित्सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते।
उपमा नाम सा तस्याः प्रपञ्चोऽयं निदर्श्यते ॥ १ ॥

अर्थ–जहां यथा कथंचित् अर्थात् जिस किसी प्रकार से उद्भूत अर्थात् स्पष्ट सादृश्य प्रतीत होवे उस का उपमा नाम है ॥ उस का प्रपंच अर्थात् विस्तार दिखाया जाता है ॥ व्यंग्योपमा वारण के लिये "उद्भूत" यह विशेषण है। दंडी का समय विक्रम के छठे शतक में है। यह निर्णय कथासरित्सागर की प्रस्तावना में दुर्गाप्रसाद ने किया है। हमने प्रथमाकृति में दंडी को महाराजा भोज का समकालीन लिखा सो गलत है। महाराजा भोज का यह लक्षण है:–

प्रसिद्धेरनुरोधेन यः परस्परमर्थयोः।
भूयोऽवयवसामान्ययोगः सेहोपमा मता ॥ १ ॥

अर्थ–प्रसिद्धि के अनुसार परस्पर पदार्थों के भूयः अर्थात् बहुतर अवयवों के सामान्य अर्थात् सादृश्य का योग सो इह अर्थात् अलंकार शास्त्र में उपमा मानी गई है। अप्रसिद्ध उपमान वारण के लिये "प्रसिद्धि के अनुसार" यह विशेषण है। यहां अवयव गुण क्रिया रूप है। काव्यप्रकाश गत कारिकाकार का यह लक्षण है:—

साधर्म्यमुपमा भेदे ॥

अर्थ–उपमान उपमेय का भेद रहते उन का साधर्म्य सो उपमा ॥ अनन्वय वारण के लिये "भेदे" यह विशेषण है। साधर्म्य सादृश्य का पर्याय है ॥ वामन का यह लक्षण है:—

उपमानेनोपमेयस्य गुणलेशतः साम्यमुपमा ॥

अर्थ— उपमान के साथ उपमेय का गुण लेश से जो साम्य वह उपमा ॥ उपमान, उपमेय ये शब्द संबंध सहित अर्थ के बोध क-

रानेवाले हैं, सो इन में से एक का ग्रहण करने से दूसरे का भी ग्रहण अर्थ सिद्ध हो जाता है। दोनों का निर्देश लोक प्रसिद्ध उपमान उपमेय के ग्रहण के लिये है। जिस से "कुमुदमिव मुखम्" इत्यादि अप्रसिद्ध उपमा का वारण है। लेश यह शब्द जिस तिस प्रकार के सादृश्य का बोधक है॥ सर्वस्व का यह लक्षण हैः–

उपमानोपमेययोः साधर्म्यें भेदाभेदतुल्यत्व उपमा॥

अर्थ– उपमान और उपमेय के साधर्म्य में भेद और अभेद दोनों की तुल्यता होवे वहां उपमा॥ कवि संप्रदाय विरुद्ध उपमानोपमेय वारण के लिये "उपमानोपमेय" यह विशेषण है। भेद में तुल्यता व्यतिरेक में है, अभेद में तुल्यता रूपक में है, इद दोनों के वारण के लिये उपमा में भेदाभेद तुल्यत्व का अंगीकार है। विमर्शिनीकार कहता है, कि भेद की तुल्यता में सहोक्त्यादि का, और अभेद की तुल्यता में परिणाम और उत्प्रेक्षा इत्यादिक का भी ग्रहण है॥ अलंकार रत्नाकर का यह लक्षण हैः––

उपमानेनोपमेयस्य सादृश्यमुपमा॥

अर्थ–उपमान के साथ उपमेय का सादृश्य सो उपमा॥ कल्पितोपमा वारण के लिये उपमानोपमेय का ग्रहण है॥ रुद्रट का यह लक्षण हैः––

उभयोः समानमेकं गुणादिसिद्धं यथा यदेकत्र।
अर्थेन्यत्र तथा तत्साध्यत इति सोपमा त्रेधा॥ १॥

अर्थ–उभयोः अर्थात् उपमान, उपमेय के जो गुणादि समान होवें, एक अर्थात् एकजातीय होवें, और एक पदार्थ में जैसा सिद्ध होवे वैसा ही वह दूसरे पदार्थ में सिद्ध किया जावे वह उपमा है। उस के तीन प्रकार हैं॥

यथाः––

चंद सौ प्रकाशकारी आनन बिहारी कौ॥

यहां प्रकाश गुण चंद्र में और मुख में समान अर्थात् न्यूनाधिक भाव रहित है। और प्रकाश स्वभाव से एक जातीय अर्थात्

सदृश है। और जैसा वह एक ठौर चंद्रमा में सिद्ध है, वैसा ही मुख में सिद्ध किया जाता है। अनन्वय वारण के लिये "उभयोः" यह विशेषण है। व्यतिरेक वारण के लिये "समान" यह विशेषण है। तुल्ययोगिता और दीपक वारण के लिये "एकत्र सिद्ध और अन्यत्र साध्य" यह विशेषण है; क्योंकि दीपक और तुल्ययोगिता में दोनों जगह सादृश्य सिद्ध होता है॥ साहित्यसुधासिंधु का यह लक्षण है:—

तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मत्वमुपमात्वम्॥

अर्थ–उपमान के भेद सहित वहुतसे उपमान के धर्म उपमेय में जो हैं सो उपमा॥ अनन्वय वारण के लिये "तद्भिन्नत्वे सति" यह विशेषण है। यत्किंचिद्धर्म वारण के लिये "भूयः" यह विशेषण है। वाग्भट का यह लक्षण है:—

उपमानेन सादृश्यमुपमेयस्य यत्र सा।
प्रत्ययाव्ययतुल्यार्थसमासैरुपमा मता॥ १॥

अर्थ–जहां उपमान के साथ उपमेय का सादृश्य प्रत्यय, अव्यय, तुल्यार्थ अर्थात् तुल्य अर्थ वाची सदृश आदि शब्द और समास करके होवे वहां सा अर्थात् उपमा मानी गई॥ अलंकारतिलक का यह लक्षण है:—

अतिरोभूतभेदत्वेन सादृश्यप्रतीतिरुपमा॥

अर्थ– अतिरोभूत अर्थात् नहीं छिपाये हुए भेदवाले सादृश्य की प्रतीति वह उपमा॥ रूपक वारण के लिये "अतिरोभूतभेद" यह विशेषण है॥ अलंकारचूड़ामणि का यह लक्षण है:–

हृद्यं साधर्म्यमुपमा॥

अर्थ–मनोहर साधर्म्य सो उपमा॥ चमत्कार हीन उपमा वारण के लिये "हृद्यं" यह विशेषण है॥ चंद्रालोक का यह लक्षण है:—

उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयोः।

अर्थ—जहां दोनों का चमत्कारी सादृश्य, व्यंग्य मर्यादा विना स्पष्ट भासता हो वह उपमा॥ अनन्वय वारण के लिये "द्वयोः" यह वि

शेषण है। चमत्कार हीन उपमा वारण के लिये "लक्ष्मी" यह विशेषण है। व्यंग्योपमा वारण के लिये "उल्लसति" अर्थात् स्पष्ट भासता है, यह विशेषण है। कुवलयानंद में चन्द्रालोक का ही लक्षण है॥ काव्यप्रदीप में काव्यप्रकाश का ही लक्षण है॥ विमर्शनी स्वतंत्र ग्रंथ नहीं है, किंतु सर्वस्व की टीका है; परंतु विमर्शनी मूल ग्रंथों के सदृश होने से हम ने ग्रंथों में गणना की है॥ प्रतापरुद्रीय का यह लक्षण है:—

स्वतः सिद्धेन भिन्नेन संमतेन च धर्मतः।
साम्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्यं चेदेकदोपमा॥ १॥

अर्थ—स्वतः सिद्ध हो और भिन्न हो, धर्म से संमत हो, ऐसा अन्य के साथ साम्य एकदा वाच्य हो, वह उपमा॥ उत्प्रेक्षा वारण के लिये "स्वतः सिद्धेन" यह विशेषण है; क्योंकि उत्प्रेक्षा में कभी उपमान लोक प्रसिद्ध न होने से कवि कल्पित होता है। अनन्वय वारण के लिये "भिन्नेन" यह विशेषण है; क्योंकि वहां उपमान उपमेय का भेद नहीं है। सर्व प्रकार की दुष्टोपमा वारण के लिये "संमतेन" यह विशेषण है; क्योंकि लिंग वचन भेद होने से और चमत्कार न होने से कवियों को इष्ट नहीं। श्लेष वारण के लिये "धर्मतः" इस विशेषण का ग्रहण है; क्योंकि श्लेष में गुण क्रियादि धर्म से साम्य नहीं; शब्द मात्र साम्य है। प्रतीप वारण के लिये "अन्येन वर्ण्यस्य" अर्थात् उपमान के साथ उपमेय का यह विशेषण है; क्योंकि प्रतीप में उपमेय के साथ उपमान के सादृश्य का वर्णन है। उपमेयोपमा वारण के लिये "एकदा" इस विशेषण का ग्रहण है; क्योंकि वहां दो वेर उपमा का वर्णन है। व्यंग्योपमा वारण के लिये "वाच्यं" इस विशेषण का ग्रहण है। साहित्यदर्पण का यह लक्षण है:—

साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः॥

अर्थ—दोनों का साम्य वाच्य होवे, और वैधर्म्य करके रहित होवे, और एक वाक्य में होवे वह उपमा॥ रूपक में साम्य व्यंग्य है। व्यतिरेक में वैधर्म्य का भी उपादान है। उपमेयोपमा में दो वाक्य हैं। अनन्वय में एक ही वस्तु की उक्ति है, इसलिये इन अलंकारों में उप-

मा की अतिव्याप्ति नहीं है ॥ अलंकारकौस्तुभ का यह लक्षण हैः—

एकवाक्यवाच्यं सादृश्यं भिन्नयोरुपमा ॥

अर्थ–भिन्नों का एक वाक्य से कहा हुआ सादृश्य उपमा है ॥ उपमेयोपमा वारण के लिये "एक वाक्य" यह विशेषण है। व्यंग्योपमा वारण के लिये "वाच्य" यह विशेषण है। अनन्वय वारण के लिये "भिन्न" यह विशेषण है। चित्रमीमांसा में उपमा के चार लक्षण कहे हैंः—

व्यापार उपमानाख्यो भवेद्यदि विवक्षितः।
क्रियानिष्पत्तिपर्यन्तमुपमालंकृतिस्तु सा ॥ १ ॥

अर्थ–जो उपमान नामवाला व्यापार उपमिति क्रिया सिद्धि पर्यंत विवक्षित होवे वह उपमा अलंकार है ॥ उपमान व्यापार तो सादृश्य का वर्णन है। लिखा है स्वयं चित्रमीमांसाकार ने ही—

उपमानव्यापार उपमितिक्रियानिष्पादको व्यापारः सादृश्यवर्णना ॥

अर्थ—उपमान व्यापार तो, उपमा की सिद्धि करनेवाला व्यापार अर्थात् सादृश्य वर्णन है। यहां उपमा सिद्धि तक सादृश्य वर्णन कहने का प्रयोजन यह है, कि आगे जा कर अतिरेक में अथवा असादृश्य में पर्यवसान न होवे। अतिरेक में पर्यवसान होने से व्यतिरेक अलंकार हो जाता है। और असादृश्य में पर्यवसान होने से अनन्वय अलंकार हो जाता है। दूसरा लक्षण यह है—

निरूप्यमाणं कविना सादृश्यं स्वात्मनो न चेत्।
प्रतिषेधमुपादाय पर्यवस्यति सोपमा ॥ १ ॥
इत्यपि लक्षणमनुसंधेयम् ॥

अर्थ–कवि करके निरूप्यमाण सादृश्य जो स्वात्मनः अर्थात् अपने आत्मा के प्रतिषेध को ले करके पर्यवसान को नहीं पावे वह उपमा॥ ऐसा भी लक्षण समझ लेना चाहिये।सादृश्य अपने निषेध में पर्यवसान न पावे यह, कहने का प्रयोजन भी व्यतिरेक और अनन्वय का वारण है ॥ तीसरा लक्षण यह है—

उपमितिक्रियानिष्पत्तिमत्सादृश्यवर्णनमुपमा ॥

अर्थ—उपमिति क्रिया सिद्धिवाला सादृश्य का वर्णन उपमा है ॥ यह लक्षण प्रथम लक्षण का निष्कर्ष है ॥ चौथा लक्षण यह है—

स्वनिषेधापर्यवसायि सादृश्यवर्णनमुपमा ॥

अर्थ—अपने निषेध में पर्यवसान को नहीं पाता हुआ सादृश्य वर्णन उपमा है। यह लक्षण दूसरे लक्षण का निष्कर्ष है ॥ अलंकारोदाहरण ग्रंथ का यह लक्षण है—

उपमानोपमेययोः साधर्म्ये भेदाभेदतुल्पत्व उपमा ॥

अर्थ—उपमान उपमेय के साधर्म्य में भेद और अभेद की तुल्यता होवै तब उपमा ॥ यह लक्षण सर्वस्व के अनुसार है ॥ अलंकारशेखर का यह लक्षण है:—

भेदे सति साधर्म्यमुपमा।

अर्थ—भेद रहते साधर्म्य वह उपमा ॥ यह लक्षण काव्यप्रकाश के अनुसारी है ॥ रसगंगाधर का यह लक्षण है—

सादृश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालंकृतिः ॥

अर्थ—सुंदर और वाक्यार्थ का उपस्कारक जो सादृश्य सो उपमालंकार ॥ चमत्कार हीन उपमा वारण के लिये "सुंदर" यह विशेषण है। अलंकार्य भूत उपमा वारण के लिये "वाक्यार्थोपस्कारक" यह विशेषण है। धोरी के मतानुसार हमारे उपमा नाम के अक्षरार्थ रूप स्वरूप लक्षण की रूपकादि किसी अलंकार में अतिव्याप्ति नहीं है; क्योंकि सब का स्वरूप जुदा जुदा है। यह तो उन उन अलंकारों के अक्षरार्थों से स्पष्ट है। यद्यपि उपमा रूपक आदि कई अलंकार साधर्म्य मूलक हैं; तथापि एक क्षेत्र मूलक अनेक वृक्ष न्याय से जुदे जुदे ही हैं; इसलिये हम को अलंकारांतर में अतिव्याप्ति वारण के लिये नामार्थ रूप लक्षण में कोई विशेषण मिलाने की आवश्यकता नहीं ॥ उपमेयोपमा और कल्पितोपमा हमारे मत में उपमा के प्रकार ही हैं, सो आगे स्पष्ट किये जायगे। इन के वारण के लिये प्राचीनों ने विशेषण [illegible] है ॥ प्रथम प्रतीप-

भी उपमा का प्रकार ही है। आचार्य दंडी ने भी इस को विपर्यासोपमा नामक उपमा का प्रकार ही कहा है, सो इस के वारण के लिये प्राचीनों ने विशेषण दिये हैं सो भी भूल है। अनन्वय वारण के लिये विशेषण दिये हैं सो भी व्यर्थ हैं; क्योंकि अनन्वय में उद्धरकंधरता से उपमा के आभास का चमत्कार है, इसलिये वहां आभास अलंकार है, सो तो अत्यंत विलक्षण है; इसलिये यहां उपमा की अतिव्याप्ति की शंका ही नहीं, सो सविस्तर अंतर्भावाकृति में अनन्वय के प्रकरण में कहा जायगा। श्लेष वारण के लिये विशेषण दिया है सो भी भूल है; क्योंकि शब्द साधर्म्य भी उपमा का संपादक है। श्लेष अलंकार का स्वरूप जुदा है सो उस के प्रकरण में स्पष्ट किया जायगा। व्यंग्योपमा वारण के लिये विशेषण दिये हैं सो भी भूल है; क्योंकि अर्थालंकार तो अर्थचित्र है। अर्थ तीन प्रकार का है। वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य। सो तीनों अर्थों में अलंकारता होने की योग्यता है। और प्राचीनों ने वाच्योपमा, लक्ष्योपमा और व्यंग्योपमा तीनों मानी हैं॥

वाच्योपमा यथाः—

कवित्त

आज तखतेश भूप रावरो अनूप रूप,
नैन सुख दैन देखि जातन अघायो है।
कटि दुपटे की त्योंही लटक लपेटे हू की,
चटक अनोखी* सब भांतन सुहायो है॥
भनत मुरार जगमगत जुहार हार,
फूलन की मार सुकुमारपन छायो है।
फैलत सुगंध पुंज संग रहे भौंर गुंज,
जैसे ब्रज कुंज तें कन्हैया कढ़ आयो है॥ १॥

* नवीन

यहां "जैसे" इस उपमा वाचक शब्द से उपमा कही गई है इस लिये यह वाच्योपमा है ॥

लक्ष्योपमा यथा :—

दोहा

उठ प्रभात नीवी कसत, नाभि निहारी नैंन ।
सरसिज उदर सहोदरा,उर तैं छिन उतरैं न ॥ १ ॥

यहां नायिका की नाभी को सरसिज उदर सहोदरा कहा, सो सहोदर शब्द का वाच्यार्थ तो एक उदर में जन्म लेना है, सो यहां बाधित होने से सदृश में लक्षणा है । प्रयोजन शोभा का समान अंश हरने की प्रतीति है ॥ रसगंगाधरकार ने लक्षणा से उपमा का उक्त उदाहरण दिया है—

यथावा:—

मनहर

विधु को सो बन्धु किधौं चोर हास्य रस को कि,
कुन्दन* को वादी कीधौं मोतिन को मीत है ।
पुत्र कलहंस को कि छीर निधि पृच्छक† है,
हिमगिरि प्रभा प्रभु प्रकट पुनीत है ॥
अमल अमित अंग गंग के तरंग सम,
सुधा को समूह रिपु रूप को अभीत है ।
देश देश दिश दिश परम प्रकाशमान,
किधौं केशोदास रामचंद्र जू को गीत है ॥ १ ॥

इति कविप्रियायाम् ।

यहां भी बन्धु इत्यादि शब्दों का वाच्यार्थ भ्राता आदि है, सो यहां बाधित होने से सदृश में लक्षणा है । श्रेष्ठ पदार्थों का स्वरू-

---

* कुंद के पुष्प

† प्रश्न करनेवाला ।

बन्धु, वादी, मित्र, रिपु, पुत्र और प्रश्नकर्ता ये बहुधा सम होते हैं, इसलिये बंधु आदि शब्दों का सदृश अर्थ में लाक्षणिक प्रयोग करते हैं । चोर इस रीति से सदृश होता है, कि किसी का धन आदि चोर लेने से वह धनवान् इत्यादि हो करके उस के बराबर हो जाता है ।

प श्वेत माना गया है, इसलिये रूप का अर्थात् सुंदरता का रिपु कहा है ॥

व्यंग्योपमा यथाः—

॥ दोहा ॥

अद्वितीय निज कों समुझ, शशि जिन हरषित होय ।
रे शठ! भुव मंडल सकल, कहा लियो तैं जोय ॥ १ ॥

किसी समय बाहिर न निकली हुई, इसीलिये तुम से न देखी हुई, मेरी प्रिया का मुख तुम्हारे समान है ऐसी प्रतीयमान उपमा शठ पद से ध्वन्यमान, वक्ता की चंद्रविषयक असूया में अलंकार है । रस-गंगाधरकार ने व्यंग्योपमा का उक्त उदाहरण दिया है ।

यथावा—

॥ दोहा ॥

चौज मौज गुन चातुरी, अरिन दबाये ओज ।
क्या कम है? जसवंत नृप, भयो अधिक क्या भोज । १ ।

यहां भी समता वचन से नहीं कही गई है; किंतु व्यंजना से लभ्य है ॥

यथावाः—

॥ मनहर ॥

परम पुरुप के परम दृग दोनों ए जु,
भनत पुरान वेद वानी औ पढ़ गई ।
कवि मतिराम थोस पत वे निशापत ये,
काहू की निकाई कहूं नेंक न बढ़ गई ॥
सूरज के सुतन करन महा दानी भयो,
वाही के विचार मत चिंता में मढ़ गई ।
तोहि पाट बैठत कमाऊं के उद्योत चंद्र
चंद्रमा की करक करेजे तैं कढ़ गई ॥ १ ॥

इति मतिरामस्य ।

यहां कर्ण के समान दानी तू है, यह उपमा व्यंग्य है। अलंकार्य भूत उपमा वारण के लिये विशेषण दिया सो भी भूल है; क्योंकि रसगंगाधर-कार आदि ने कहा है, कि किसी जगह रसादि को शोभा न करते हुए के-वल उपमादि को भी अलंकार व्यवहार होता है। जैसा कि पेटी में पड़ा हुआ हारादि उस समय में किसी स्त्री पुरुष को शोभा नहीं करता है; तथापि उस समय में भी लोक में उस का अलंकार व्यवहार है। हमारे मत में तो काव्य का शोभाकर धर्म अलंकार है, सो काव्य को शोभा करने मात्र से अलंकारता सिद्ध हो जाती है। रसादि पर्यंत अनुधावन की आवश्यकता नहीं। चमत्कार हीन उपमा वारण के लिये विशेषण दिये हैं सो भी भूल है, क्योंकि अलंकार प्रकरण वश से सचमत्कारता तो अर्थसिद्ध है। शोभा करे तब ही अलंकार पदवी की प्राप्ति होती है। उपमा में यह विशेषण देवे तो सर्वत्र यह विशेषण देना उ-चित होगा। भिन्नलिंगादि दोष ग्रस्त उपमा वारण के लिये विशे-षण दिये हैं सो भी भूल है; क्योंकि सदोष होने से उपमात्व की हानि नहीं। जैसा कि कीट विद्ध रत्न में रत्नत्व की हानि नहीं। कहा है आचार्य दंडी ने भी:---

न लिङ्गवचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा।
उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम्॥ १॥

अर्थ---- जहां बुद्धिमानों को उद्वेग न होवे तहां भिन्न लिंग, भिन्न वचन, हीनता, अधिकता, उपमा के दूषण के लिये समर्थ नहीं॥ जो कहो कि दोष वर्जन की सूचना के लिये ऐसे विशेषण दिये गये हैं, सो तो दूषण प्रकरण में कहना युक्त है॥ यथा:---

सवैया

गौर उछाह उदैपुर में,
सुर लोक समांन वितीत करे दिन।
रावरी स्वच्छ कृपा की कटाच्छ कों,
भाखैं मुरार न भूलहुंगो छिन॥
दीजियै सज्जन रांन रजा मन,

मज्जत है ब्रह सिंधु कढे जिन ।
दैत की भांत लगै अति दारुन,
चैत की चांदनी चंदमुखी बिन ॥ १ ॥

भाषा में भांत, तरह इत्यादि भी उपमा के वाचक हैं । यहां उपमान दैत पुरुष वाची है । उपमेय चांदनी स्त्री वाची है । इस रीति से भिन्नलिंग दोष है। परंतु रसिक श्रोताओं के मन को उद्वेग नहीं होता, इसलिये दोष नहीं। और "दैतनी सी जु लगै अति दारुन चैत की चांदनी चंदमुखी बिन "। ऐसा कहे तो दोष शंका का अवकाश ही नहीं ॥ अलंकारकौस्तुभ में उपमा का निष्कृष्ट लक्षण किया है:—

यत्सादृश्यप्रतियोगितायामुपमेयता-
वच्छेदकावच्छिन्नत्वस्वाश्रयमात्रवृत्तिस्वा-
नवच्छेदकधर्मसामानाधिकरण्योभया-
भावः सोपमा ॥

इस का अर्थ यह है, जिस सादृश्य प्रतियोगिता में उपमेयतावच्छेदकावच्छिन्नत्व और अपने आश्रय मात्र में रहता हुआ अपने में अनवच्छेदक ऐसा जो धर्म इन का सामानाधिकरण्य इन दोनों में का एक भी नहीं ऐसा जो प्रतीति सिद्धाभाव है वह प्रतियोगिता उपमा है ॥ यहां जिस शब्द से सादृश्य प्रतियोगिता लेना। हरेक संबंध दो वस्तुओंका होता है। जिन में एक प्रतियोगी और दूसरा अनुयोगी कहा जाता है । जिस प्रति संबंध किया जावे वह प्रतियोगी । जिस में संबंध किया जावे वह अनुयोगी "इंदु इव आनन "। यहां इंदु और आनन का सादृश्य संबंध है, सो इंदु का सादृश्य रूप संबंध आनन में किया गया है, इसलिये इंदु प्रतियोगी है, और आनन अनुयोगी है। इंदु में प्रतियोगिता है। आनन में अनुयोगिता है । जिस में प्रतियोगिता है वह उपमान है । और जिस में अनुयोगिता है वह उपमेय है । जिस धर्म सहित वस्तु प्रतियोगी होवे वह धर्म उस वस्तु में रहनेवाली प्रतियोगिता में अवच्छेदक है । और प्रतियोगिता उस धर्म करके अवच्छेद्य है । अवच्छेद्य को अवच्छिन्न भी कहते हैं। अवच्छेदक दूसरे

से टलानेवाला। अवच्छेद्य टलाया हुआ। "इंदु इव आनन" यहां सादृश्य संबंध इंदुत्व धर्म सहित इंदु प्रति किया गया है, इसलिये इंदु प्रतियोगी है। प्रतियोगिता इंदु में है। इंदु में कलंकता आदि अनेक धर्म हैं, उन धर्मों से टला कर इंदुत्व, प्रतियोगिता को अपनी तर्फ कर लेता है। इस रीति से इंदुत्व, प्रतियोगिता में अवच्छेदक है। वह प्रतियोगिता इंदुत्व करके कलंकादि धर्मों से टलाई हुई है, इसलिये वह इंदुत्व धर्म करके अवच्छिन्न है। इसी प्रकार उक्त उदाहरण में सादृश्य संबंध मुखत्व धर्म सहित मुख में किया गया है, इसलिये मुख अनुयोगी है। अनुयोगिता मुख में है। मुख में नेत्र आदि अनेक धर्म हैं, उन धर्मों से टला कर मुखत्व, अनुयोगिता को अपनी ओर कर लेता है। इस रीति से मुखत्व धर्म अनुयोगितावच्छेदक है। वह अनुयोगिता मुखत्व करके नेत्रादि धर्मों से टलाई हुई है, इसलिये वह मुखत्व धर्म करके अवच्छिन्न है। यहां लक्षण के फलितार्थ में जिस सादृश्य की प्रतियोगिता में उपमेयतावच्छेदक जो धर्म है, उस करके अवच्छिन्नत्व का अभाव, इस विशेषण का प्रयोजन अनन्वय वारण है। "इंदुरिन्दुरिव" इस अनन्वय में उपमानता उपमेयता दोनों एक ही इंदु में हैं। दोनों में अवच्छेदक इंदुत्व ही है, इसलिये उपमानता भी इंदुत्व धर्म करके अवच्छिन्न है। और उपमेयता भी इंदुत्व धर्म करके अवच्छिन्न होने से उपमेयतावच्छेदक जो इंदुत्व धर्म उस करके ही अवच्छिन्नत्व उपमानता में है। नकि उपमेयतावच्छेदकावच्छिन्नत्व का अभाव। "इंदु इव आनन" इस उपमा में तो इंदु में रहती हुई उपमानता इंदुत्व करके अवच्छिन्न है। नकि उपमेयतावच्छेदक मुखत्व धर्म करके अवच्छिन्नत्व। और उपमानता के आश्रय मात्र में वर्तनेवाला और उपमानता में अनवच्छेदक ऐसा जो धर्म उस के साथ एक जगह में रहने का अभाव यह विशेषण व्यतिरेक वारण के लिये है:—

शैला इवोन्नताः सन्तः किं तु प्रकृतिकोमलाः॥

यहां उपमानता का आश्रय शैल हैं, सो उन्ही में रहनेवाला उपमानता में अनवच्छेदक और व्यतिरेक में विवक्षित ऐसा धर्म कठि-

नत्व है। उपमानता का उस कठिनत्व के साथ सामानाधिकरण्य है। न कि अभाव। उपमा में तो उपमान मात्र में रहता हुआ उपमानता में अनवच्छेदक ऐसे धर्म के साथ एकत्र रहना नहीं है। इस प्रकार न्याय शास्त्र की रीति से साहित्य विषय का विवेचन भी सरल न होने से सहृदयों को आल्हाद दायक नहीं इसलिये वर्जनीय है। सो ही कहा है रसतरङ्गिणी ग्रंथ की संस्कृत टीका में किसी प्राचीन नेः—

॥ दोहा ॥

हे सरस्वति! तुव सरित सौं, वारन मत्त निवार।
करि हैं गदलो रस रहहिं, प्यासे पीवनहार ॥ १ ॥

इस का अभिप्राय यह है, कि नैयायिक और वैयाकरण रूप मत्त वारणों को इस रस रूप नदी से हे सरस्वती! निवृत्त करो। इस का तात्पर्य यह है, कि रस ग्रंथों में न्याय का और व्याकरण का विचार करेंगे तो रस का आनंद चला जायगा। और कहा है किसी संस्कृत कवि नेः—

॥ दोहा ॥

तार्किक कथन कठोर सौं, परिष्क्रिया*ऽलंकार।
जैसे घरवो घनन सौं, नासा भूषन नार ॥ १ ॥

प्राचीनों का यह सिद्धांत समीचीन है। हमारी भी यही संमाति है॥

॥ दोहा ॥

न्याय निरूपित में नहीं, सुख साहित को मीत।
ज्यौं घोरारव जुद्ध में, श्रवन करन संगीत ॥ १ ॥

भरत भगवान्, वेदव्यास भगवान्, आचार्य दंडी और सूत्रकार वामन का तो यह मत है, कि यत्किंचित् सादृश्य से उपमा सिद्ध हो जाती है। और महाराजा भोज का यह मत है, कि यत्किंचित् सादृश्य से उपमा सिद्ध नहीं होती। प्रसिद्धि के अनुसार बहुतर अवयवों

---

* निरूपण करना।

के सामान्य योग में उपमा होती है। यत्किंचित् सादृश्य से उपमा न होने में साहित्यसुधासिंधु की भी संमति है। अप्रसिद्ध उपमान के अनंगीकार में वामन और सर्वस्वकार आदि की भी संमति है। काव्य प्रकाश गत कारिकाकारादि बहुतसे प्राचीनों ने इस विवाद को छोड़ दिया है। हमारे मत भरत भगवान् आदि का सिद्धांत समीचीन है। बहुतर सादृश्य की आवश्यकता नहीं। किंचित्सादृश्य से भी उपमा सिद्ध हो जाती है। इस को हम ने लोक अलंकार छायानुसार काव्य के अलंकार मानने के प्रकरण में स्पष्ट कर दिया है। और बहुत अवयवों की समानता की भी आवश्यकता नहीं। एक अवयव की समानता से भी उपमा सिद्ध हो जाती है। और प्रसिद्ध उपमान की भी आवश्यकता नहीं। अप्रसिद्ध उपमान ढूंढ़ लाने में प्रत्युत कवि की चतुरता का बाहुल्य है। सो ही कहा है किसी कवि ने "आवे नां अनूठी तोलौं झूठी कविताई है"। अनूठी अर्थात् नवीन न आवे तवतक कविता उच्छिष्ट रूप है। "चंद सौ प्रकाशकारी आनन विहारी कौ"। यहां चंद्र प्रसिद्ध उपमान है। और वर्ण, आकृति, गुण, रूप अनेक अवयवों से अत्यंत समानता का योग है। और "मारुत इव मरुपति सुजस, सब ठां करत सँचार" यहां राजराजेश्वर के जस की सर्वत्र संचारिता की उपमा के लिये अप्रसिद्ध उपमान मारुत को ढूंढ़ लाये हैं। और यहां सर्व संचारिता रूप एक अवयव की समानता का योग है; परंतु "चंद सौ प्रकाशकारी आनन विहारी कौ" उस उपमा की अपेक्षा इस उपमा में मन रंजनता अधिक है। इस में सहृदयों का हृदय ही साक्षी है। और महाराजा भोज ने उपमा का ऐसा स्वरूप माना, तब उन को अप्रसिद्ध उपमान के एक अवयव की समता के योग में साम्य नामक दूसरा अलंकार मानना पड़ा। सो यह किंचित् विलक्षणता अलंकारांतर की साधक नहीं, इसलिये हम ने साम्य का उपमा में अंतर्भाव कर दिया है। इस उपमा प्रकरण में तो हम ने जितने ग्रंथों को विचार कर यह ग्रंथ बनाया है, उन सब के लक्षण लिखे हैं। परंतु सब अलंकारों के प्रकरण में इन सब के लक्षण लिखने से अत्यंत ग्रंथ विस्तार हो जावै, इसलिये दूसरे अलंकारों के प्रकरण में अत्यावश्यक लक्षण

लिखेंगे। हम ने इस ग्रंथ में प्राचीनों के संस्कृत ही लक्षण लिखे हैं, उन का अनुवाद भाषा में इसलिये नहीं किया है, कि उक्ति का स्वारस्य-तो हर एक भाषा में समान रहता है। कहा है किसी कवि ने—

उक्ति विसेसो कव्वो भासा जाहूणि ताहूणि ॥

अर्थ—उक्ति विशेष काव्य है, भाषा जो कोई हो, परंतु शब्द स्वारस्य हरएक भाषा का दूसरी भाषा में नहीं आता, जैसा कि दाड़िम, ईख इन का स्वाद दंत चर्वण से आता है वैसा दूसरे यंत्र से रस निकाल कर पान करने से नहीं आता। और हम ने बहुधा प्राचीनों के लक्षणों का खंडन किया है, इसलिये उन लक्षणों को सपरिकर रखना उचित समझा है। यहां शब्दस्वारस्य परिकर रूप है। जैसा कि दुःशासन का रुधिर पान करते हुए भीम ने कहा है—

॥ सवैया ॥

धनु हाथ लियें नृप मान धनी,
अवलोकत हो पे कछू न कियो।
कुरु जीवन कर्ण के आगे मुरार,
वकार के आपनो वैर लियो॥
कच द्रौपदि ऐंचन हार दुसासन,
कौ नखतें जु विदार हियो।
कत जात कह्यो अति आनँद आज में,
जीवत कौ रत उष्ण पियो॥ १॥

॥ दोहा सोरठा ॥

उपमेय सु उपमान, साधर्म्य जु वाचक यहै।
उपमा की पहिचान, अवयव सामग्री नृपति॥ १॥

"उपमीयत इति उपमेयम्"। जो उप अर्थात् समीप करके मीयते अर्थात् निर्णय का विषय किया जाता है वह उपमेय। "उपमीयतेऽनेन इति उपमानम्"। अनेन अर्थात् इस के साथ उप अर्थात् समीप करके मीयते अर्थात् निर्णय किया जाता है वह उपमान। जिस वस्तु में जो

वस्तु रहती है वहां धारण करनेवाली वस्तु तो धर्मी है। और धारण की जाती है वह वस्तु धर्म है। जैसा पृथ्वी में गंध। यहां गंध धर्म है। पृथ्वी धर्मी है। सो उपमान उपमेय दोनों में रहनेवाला जो धर्म वह समान धर्म है। इस को साधारण धर्म भी कहते हैं। उक्त प्रमाण को कहनेवाला इवादि शब्द वाचक है। कितनेक प्राचीन तो कहते हैं कि अधिक गुण वह उपमान होता है। और न्यून गुण वह उपमेय होता है। सो यह सिद्धांत समीचीन नहीं; क्योंकि अधिक गुणवाले के साथ न्यून गुणवाले को समीप करके निर्णय करने से न्यून गुणवाले की न्यूनता ही सिद्ध होगी, सो तो यहां इष्ट नहीं, यहां तो समता का निर्णय इष्ट है। कितनेएक प्राचीन अप्रकृत वह उपमान, और प्रकृत वह उपमेय, ऐसा कहते हैं, सो यह नियम भी समीचीन नहीं; क्योंकि प्रकृत के साथ प्रकृत की उपमा, और अप्रकृत के साथ अप्रकृत की उपमा भी प्राचीनों ने दिखाई है, सो आगे कही जायगी। कितनेएक प्राचीनों का यह सिद्धांत है, कि प्रसिद्ध गुण हो वह उपमान होता है, और अप्रसिद्ध गुण हो वह उपमेय होता है, सो यह हमारे भी संमत है। यहां उपमेय के गुण की अप्रसिद्धि कहने का यह तात्पर्य नहीं, कि उपमेय का विवक्षित गुण उपमा करने से पहिले बिलकुल ही अज्ञात होवे; किंतु यह तात्पर्य है कि उपमेयनिष्ठ अमुक गुण दोष कितना है? कैसा है? इस का विशेष ज्ञान नहीं, इसीलिये उस को प्रसिद्ध गुण उपमान के समीप करके निर्णय किया जाता है। और यह प्रसिद्धि अप्रसिद्धि का कहना उपमा करने का प्रयोजन मात्र बताने के लिये है। न कि उपमान उपमेय की अधिकता न्यूनता बताने के लिये; अन्यथा वर्णनीय की न्यूनता अरुचिकर होने से विरस हो जायगा॥

दोहा

भन्यो भरत भगवांन यह, वचन सुधा को श्रोत।
गुण आकृति के आश्रयहि, जसवँत उपमा होत। १।

वर्ण, स्वभाव और क्रिया आदि का गुण से संग्रह हो जाता है॥

यथा—

छंद वैताल

है शंख इव ग्रीवा सु पिक इव गिरा श्रुति सुख दांन,
विद्रुम सु इव है अरुन अधर जु गिरि सु इव कुच जांन ।
नव नागनी इव लसत वैनी दामनी इव तिय यहै,
विधु इव विराजत वदन तिंह लखि नाह लोचन फल लहै ॥ १॥

शंख इव ग्रीवा यह आकृति के विषय में उपमा है। पिक इव गिरा यह गुण के विषय में उपमा है। विद्रुम इव अधर यह वर्ण के विषय में उपमा है। गिरि इव कुच यह कठोरता गुण और आकृति के विषय में उपमा है। नागनी इव वैनी यह वर्ण और आकृति के विषय में उपमा है। दामिनी इव तिय यह चपलता, तनुता गुण और वर्ण के विषय में उपमा है। विधु इव वदन यह वर्ण, आकृति और आनंद दायकतादि गुण के विषय में उपमा है। कितनेएक प्राचीन धर्मों के पांच प्रकार कहते हैं। अनुगामी १ विंवप्रतिविंवभावापन्न २ उपचरित ३ वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न ४ श्लेष ५ ।उपमेय और उपमान दोनों में एक स्वरूप से रहनेवाले धर्म को अनुगामी कहते हैं।
यथाः—

मारुत इव मरुपति सुजस, सब ठां करत सँचार ॥

यहां सर्वत्र संचारिता रूप धर्म उपमेय उपमान दोनों में एक स्वरूप से रहता है, इसलिये यह धर्म अनुगामी है। उपमेय और उपमान के धर्मों का भेद रहते जो उन धर्मों की सादृश्य से एकता उस को विंवप्रतिविंवभाव कहते हैं। ऐसे विंवप्रतिविंवभाव प्राप्त धर्म को विंवप्रतिविंवभावापन्न धर्म कहते हैं।
यथाः—

॥ दोहा ॥

गुण दोषहिं बुध जन गहत, इंदु गरल इव ईस ।
सिर से श्लाघन कंठ ही, रोकत विसवा वीस ॥ १ ॥

यहां बुध जन उपमेय हैं। महादेव उपमान है। इंदु, गरल और गुण, दोष धर्म हैं। सो आपस में भिन्न भिन्न हैं। तथापि इंदु और गुण

सौम्यता श्लाघनीयतादि से सदृश होने से एक हो करके साधर्म्य को भजते हैं। और दोष और गरल निंदनीयतादि से सदृश होने से एक हो कर साधर्म्य को भजते हैं। इंदु और गरल पक्ष में तो ग्रहण धारण करना है। गुण दोप पक्ष में ग्रहण ज्ञान है। सो "गहत" इस एक शब्द से प्रतिपादन करने से एकता को प्राप्त हो कर साधर्म्य को भजते हैं। इंदु पक्ष में शिर से श्लाघन अर्थात् शिर में धारण करना। गुण पक्ष में शिर कंपन द्वारा स्तुति करना, गरल पक्ष में रोकना रख लेना। दोप पक्ष में वाणी द्वारा कंठ से वाहिर न निकालना। यहां भी रोकना इस एक शब्द से प्रतिपादन करने से एकता बुद्धि हो कर साधारण धर्म है। बिंब और प्रतिबिंब जुदे जुदे होते हैं, तथापि सदृशता से एक हैं। इस न्याय से ऐसे धर्म को बिंवप्रतिबिंबभावापन्न धर्म कहते हैं। उपमेय और उपमान में से एक में रहता होवे, और दूसरे में आरोपित होवे ऐसे धर्म को उपचारित कहते हैं॥

यथाः—

नीरज इव विकसित नयन ॥

यहां विकास क्रिया रूप धर्म वास्तव में नीरज में ही प्रसिद्ध है। नयनों में तो आरोपित है; क्योंकि नयनों में उन्मीलन क्रिया है, वह विकास क्रिया से भिन्न है। उपमेय और उपमान दोनों में रहनेवाला एक ही धर्म दोनों प्रति दो वार कहा जावे, तव उस धर्म को वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न धर्म कहते हैं। आपन्न का अर्थ है प्राप्त। वस्तु उपमेय, प्रतिवस्तु उपमान, और भाव स्थिति, सो उपमेय और उपमान दोनों में स्थिति को प्राप्त हुआ जो धर्म वह वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न धर्म है। उस धर्म को जुदे २ शब्दों से कहना पुनरुक्तिदोष निवारण के लिये है॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

भय कंपित भुवि कन्यका, हठहिं हरी दश शीस।
वात विधूनित मालती, करसत जैसे कीस ॥ १ ॥

यहां सीता और मालती की उपमेय उपमानता है। सो इन के

कंपन रूप क्रिया साधर्म्य को कंपन और विधूनित इन पर्याय शब्दों से दोनों प्रति दो वार कहा है । यहां एक ही धर्म के पर्याय से दो वार कहने पर भी उपमा की सिद्धि है, इसीलिये पृथक् दिखाया गया है। उपमेय और उपमान में रहनेवाले जो भिन्न धर्म उन को कहनेवाला एक शब्द स्वरूप जो साधर्म्य उस को श्लेष साधर्म्य कहते हैं।
यथा —

॥ दोहा ॥

मरु मारग इव अधर तुव, विद्रुम छाया नार।
अतिहि पिपासा आकुलित, किंह नहि करत मुरार॥ १ ॥

यथावाः—

सकलकलं यह जोधपुर, शशि के विंब समान॥

"विद्रुम छाया, सकल कलं" यह शब्द मात्र साधर्म्य है। विद्रुम छाया मूंगे का रंग, और वृक्ष की छाया विना। "सकलकलं" कोलाहल सहित, और संपूर्ण कला सहित। ऐसे स्थल में कितनेक प्राचीन तौ कहते हैं, कि यहां अलंकार उपमा नहीं है, श्लेष है। कितनेक प्राचीन ऐसा कहते हैं, कि यहां अलंकार श्लेष नहीं है, उपमा है। सो इस विवाद का निर्णय श्लेष अलंकार के प्रकरण में किया जायगा । रत्नाकरकार ने अप्रकृत के साथ अप्रकृत की, और प्रकृत के साथ प्रकृत की, भी उपमा दिखाई है।
क्रम से यथाः—

॥ दोहा ॥

सुधा स्रोत सम मधुर जव, सुनियतु है तुव वांन।
कल रव हू लागत कटू, विगरी वीन समांन॥ १॥

यहां कोकिल और वीन दोनों अप्रकृत हैं; क्योंकि प्रकृत तौ वर्णनीय नायिका की वाणी है॥

॥ दोहा ॥

नव पाणीग्रह नार इव, दे विश्वास विशाल॥
अचिर उपार्जित अवनि हू, भोगत निपुन भुवाल॥ १॥

नव वधू का विश्वास से उपभोग सर्व जन प्रसिद्ध होने से नव

पाणि गृहीता नारी उपमान है। और यहां वर्तमान समय में राजा में दोनों वर्णनीय होने से प्रकृत हैं। अलंकारोदाहरण आदि ग्रंथों में वैधर्म्य से और अभाव रूप साधर्म्य से भी उपमा दिखाई है।

क्रम से यथा—

॥ दोहा ॥

संतोषी द्विज इव लसत, विन संतोप नरेश।

यथावाः—

दृग थिर कोंहे अध खुले, देह थकोंहे ढार॥
सुरत सुखित सी देखिये, दुखित गरभ के भार॥ १॥

इति विहारीसप्तशत्याम्॥

यहां संतोष असंतोष और सुख दुःख आपस में विरुद्ध धर्म होने से वैधर्म्य है॥

॥ दोहा ॥

व्है न होय तौ थिर नहीं, थिर हू तौ फल हान।
खल पुरुषन की मित्रता, सज्जन कोप समान॥ १॥

यहां खल पुरुषों की मित्रता और सत्पुरुषों के कोप के सादृश्य का वर्णन है, सो प्रथम तौ दोनों का होना ही नहीं। होवें तो स्थिर नहीं, स्थिर होवें तौ फल नहीं, यह अभाव रूप साधर्म्य है॥ आचार्य दंडी ने असंभावितोपमा कही है॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

चंदन से उपजा अनल, शशि से विषहि समांन।
परुष वचन तुव वदन से, है राधे रस खांन॥ १॥

यहां भी अभाव है, परंतु असंभव में तात्पर्य है। कितनेक प्राचीनों ने पद मात्र के अर्थों की उपमा होवे उस को पदोपमा, वाक्यों के अर्थों की उपमा होवे उस को वाक्योपमा और समास से कही हुई उपमा होवे उस को समासोपमा कही है॥

क्रम से यथाः—

इंदु सौ आनन ।

यहां इंदु और आनन एक एक पद हैं, इसलिये यह पदोपमा है।

शरद् के शशि सौ सुहानौ मुख तेरो री ॥

यहां शरद विशेषण वाचक पद है । शशी विशेष्य वाचक पद है । इन दोनों पदों के मिलने से वाक्य है । उपमेय पक्ष में मुख तौ विशेष्य है । सुहावनौ यह विशेषण है । इन दोनों पदों के मिलने से वाक्य है । इन वाक्यार्थों की उपमा होने से यह वाक्योपमा है । "मुखाब्ज" यहां "अब्जमिव मुखम्" ऐसा अर्थ होता है । यह समास उपमित समास है । इस रीति से समास से उपमा का लाभ होने से यह समासोपमा है । हमारे मत में पद, वाक्य और समास का भेद चमत्कार में अनुपयोगि होने से प्रकारांतर होने के योग्य नहीं । प्राचीनों ने उपमेय, उपमान, धर्म और वाचक इन चारों का उपादान होवे उस को पूर्णोपमा कही है । और इन में से एक का दो का अथवा तीन का अनुपादान अर्थात् उपमेय, उपमान और साधर्म्य इन का शब्द से कथन न होवे, और वाचक का उच्चारण न होवे, तहां लुप्तोपमा कही है ॥

क्रम से यथाः—

इंद्र सौ उदार है नरेंद्र मारवार कौ ॥

यहां इंद्र उपमान, मारवाड़ का राजा उपमेय, उदारता धर्म, सौ वाचक, ये चारों शब्द से कहे हैं इसलिये यह पूर्णोपमा है ॥

है मुरधर पति इंद्र सौ ॥

यहां मुरधरपति उपमेय, इंद्र उपमान, सौ वाचक इन तीनों का उपादान है । उदारतादि धर्म नहीं कहा है, इसलिये धर्मलुप्ता है । उदारतादि धर्म का प्रसिद्धि से लाभ हो जाता है ।

चंद्रमुखी ॥

यहां चंद्र उपमान और मुख उपमेय का उपादान है । प्रकाशा-

दि धर्म का प्रसिद्धि से और इवादि वाचक का समास से अर्थात् अर्थ विधि से लाभ हो जाता है, इसलिये यह धर्मवाचक लुप्ता है ॥

मृग नयनी ।

इस का अर्थ है मृगनयन सदृश नयनवाली । मृग शब्द से उत्तर "नयन सदृश" इतने अंश का समास विधि से लोप है । यहां मृग के नेत्र उपमान है उसका, चंचलता धर्म का और इवादि वाचक का उपादान नहीं, इसलिये यह उपमान १ वाचक २ धर्म ३ लुप्ता है । नयन उपमान और सादृश्य वाचक का समास से, और चंचलता धर्म का प्रसिद्धि से लाभ होता है।यह उदाहरण प्रकाशकार ने दिया है ।इस रीति से लुप्तोपमाओं के कई प्रकार ग्रंथकारों ने कहे हैं । दीक्षित ने कुवलयानंद में लुप्तोपमा अष्ट प्रकार की दिखाई है ॥ प्रत्यय के अर्थ से जो उपमा होती है वह प्रत्ययोपमा ॥

यथाः—

॥ छप्पय ॥

स्थावरयन्* मारुतहिं करत पुटकयन्† गगन कँह,
स्रोतवती सूत्रयन्‡ लोष्टयन्※ भूमि मंडलँह ।
जलनिधि पल्वलयन्** सु करत सर्षपयन्†† गिरि गन,
क्रोडयन्‡‡ सु त्रिहुं लोक विटपयन्¶¶ महत गहन वन ॥
हेला अरंभ रय हय जु तुव नृप जसवँत नव कोटि पत,
कब होत सुकवि गोचर गिरा वह वलवंत अनंत गत ॥ १ ॥

यहां मारुतादि उपमेय हैं । स्थावरादि उपमान हैं । उपमान वाचक स्थावरादि शब्दों के आगे णिच् प्रत्यय है । और णिच् के आगे शतृ प्रत्यय है । यकार णिच् प्रत्यय का है । और अन् शतृ प्रत्यय का है । स्थावरयन् का यह अर्थ होता है कि स्थावर करता हुआ अर्थात् स्थावर सदृश करता हुआ इत्यादि । यहां वाचकार्थ का बोध प्रत्यय से है । कुवलयानन्द ग्रंथ के पश्चात् चित्रमीमांसा नाम ग्रंथ दीक्षित ने वनाया जिस में कहा है कि यह पूर्णा, लुप्ताओं का विभाग, और

* स्थिर पदार्थ † करपुट ‡ तंतु ※ मिट्टीका ढेला ** लघुतडाग †† सरसों ‡‡ अङ्क अर्थात् गोद. ¶¶ वृक्ष.

वाक्य, समास और प्रत्यय विशेष द्वारा उदाहरण दिखाने का फल व्याकरण शास्त्र की कुशलता मात्र वताना है । अलंकार शास्त्र के बोध में इनका कुछ उपयोग नहीं । हमारे मत में समास विधि से उपमानादिकों का लोप करना, और वाचकार्थ का प्रत्ययादि से कहना यह तो व्याकरण शास्त्र की प्रचलित रीति है । इस में सराहने योग्य व्याकरण शास्त्र की भी कौनसी कुशलता है ? और प्रसिद्ध धर्म का स्वतः लाभ हो जाने से उस का उपादान न करना यह तो गौरव दोष की निवृत्ति मात्र है । इन में चमत्कार कुछ भी नहीं है । इसी प्रकार गुण आकृत्ति इत्यादि का दिखाना भी उपमा उदाहरणांतर बोध के लिये है । न कि उपमा प्रकारांतर के लिये । इसी कारण से द्रव्य जाति इत्यादि उदाहरणांतर दिखाने के लिये हम ने यत्न नहीं कियाः—

उपमा नाम सा ज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया ॥

इस कारिका से भरत भगवान् का भी उदाहरण भेद दिखाने में ही तात्पर्य है । न कि उपमा प्रकार में । अन्यथा कारिका में "गुणाकृतिकृता द्विधा" ऐसी आज्ञा करते ॥ सूत्रकार वामन कहता हैः—

स्तुतिनिन्दातत्त्वाख्यानेषु ॥

अर्थ—स्तुति में, निंदा में और तत्त्वाख्यान अर्थात् अज्ञात ज्ञापन में उपमा का अनुसरण है ।

क्रम से यथाः—

मारुत इव मरुपति सुजस, सबठां करत सँचार ।

यह स्तुति के लिये उपमा है ॥

दैत की भांत लगे अति दारुन
चैत की चांदनी चंदमुखी विन ॥

यहां वियोग दशा में चैत चांदनी की निंदा के लिये उपमा है ॥

यथावाः—

विष सी लागत है बुरी, हसी खिसी की लाल ।

इति विहारीसतशत्याम् ॥

यथावाः—

॥ मनहर ॥

आलिन के सुख पायवे कौं,
पिय प्यारे की प्रीत गई चल वागैं ।
छाय रह्यो हियरो दुख सौं,
जव देख्यो न व्हाँ नंदलाल सभागैं ।
काहू सौं वोल कछू न कहै,
मतिराम न चित्त कहूं अनुरागैं ।
खेलत खेल सेहेलिन सौं,
पर खेल नवेली कौं ज़ेल सौ लागैं ॥ १ ॥

इति रसराज भाषा ग्रंथे ॥

तत्त्वाख्यान के लिये वामन ने उपमा का यह उदाहरण दिया है।

॥ दोहा ॥

नाना रूप नछत्र सौं, व्याप्त जु व्योम वखांन ।
सो रोहिनि जान हु सखे, जो है शकट समांन ॥ १ ॥

उक्त उदाहरण में लोकोत्तर चमत्कार न होने से अलंकार नहीं, इसलिये हम दूसरा उदाहरण देते हैं:—

॥ चौपाई ॥

पद्मिनि इव सोरंभ सरीरा ।
पद्मिनि ताहि पिछानहु धीरा ॥

ऐसा मत कहो कि यह तो स्तुति रूप होने से वामन मतानुसार प्रथम भेद ही है? क्योंकि स्तुति के लिये यह वर्णन नहीं है, किंतु काम शास्त्र में पद्मिनी, चित्रिणी, हस्तिनी, शंखिनी ऐसी स्त्रियों की चार जातियां कही हैं। सो उक्त उपमा पद्मिनी का ज्ञान कराने के लिये है। कितनेक प्राचीन निरवयव, सावयव, समस्तवस्तुविषय, एकदेशविवर्ति, परंपरित ऐसे उपमा के प्रकार मानते हैं। केवल वस्तु की ही उपमा होवे उस के अवयवों सहित उपमा न होवे वह निरवयव। अवयवों सहित अवयवी की उपमा होवे वह सावयव। सावयव दो प्रकार की है। उपमेय उपमान पक्ष में अवयव अवयवी समस्त का शब्द से

कथन होवे वह समस्तवस्तुविषया। और उन में से किसी एक वस्तु का उपमान पक्ष में अथवा उपमेय पक्ष में शब्द से कथन नहीं होवे वह एकदेशविवर्ति। और परंपरा से वस्तुओं की उपमा होवे वह परंपरित॥

क्रम से यथाः—

इंद्र सो उदार है, नरेंद्र मारवार को॥

यहां केवल अवयवियों की उपमा है इसलिये निरवयव हैः—

॥ दोहा ॥

अलि तुव आनन इंदु इव, अंक इव सु जुग नैन।
सोहत स्मित ज्योत्स्ना सदृश, पिय चकोर सुख दैन॥ १॥

यहां उपमेय पक्ष में अवयवी मुख, अवयव नेत्र और स्मित। उपमान पक्ष में अवयवी इंदु, अवयव कलंक और ज्योत्स्ना हैं। सो अवयवों सहित अवयवियों की उपमा होने से सावयव है। और यहां उपमेय पक्ष में जितने अवयवी अवयवों का कथन है उतने ही अवयवी अवयवों का उपमान पक्ष में भी कथन है, इसलिये समस्तवस्तुविषया है।

॥ सवैया ॥

जितहीं तित जोरति मंगल जाल सी,
भासत है भट भीर भयंकर।
शुभ रत्न अमोल से विद्वत वृंद सौं,
सेवित हो नित ही करुना घर॥
मयनाक से शत्रु सभीतन कौं,
शरनायक हौ मरुनायक भू पर।
कवितामृत कीरत चंद्र के कारन,
हौ तुम श्री जसवंत नरेश्वर॥ १॥

यहां जितने अवयव उपमेय पक्ष में शब्द से कहे हैं, उतने ही अवयव उपमान पक्ष में भी शब्द से कहे हैं। परंतु अवयवी राजराजेश्वर उपमेय का उपमान जो समुद्र उस का शब्द से कथन नहीं है, तो भी विशेषण सामर्थ्य से उस का लाभ होता है, इसलिये यह एकदेश-

॥ मनहर ॥

आलिन के सुख पायवे कौं,
पिय प्यारे की प्रीत गई चल वागैं ।
छाय रह्यो हियरो दुख सौं,
जब देख्यो न व्हाँ नंदलाल सभागैं ।
काहू सौं बोल कछू न कहै,
मतिराम न चित्त कहूं अनुरागैं ।
खेलत खेल सहेलिन सौं,
पर खेल नवेली कौं ज़ेल सौ लागैं ॥ १ ॥

इति रसराज भाषा ग्रंथे ॥

तत्त्वाख्यान के लिये वामन ने उपमा का यह उदाहरण दिया है।

॥ दोहा ॥

नाना रूप नछत्र सौं, व्याप्त जु व्योम वखांन ।
सो रोहिनि जान हु सखे, जो है शकट समांन ॥ १ ॥

उक्त उदाहरण में लोकोत्तर चमत्कार न होने से अलंकार नहीं, इसलिये हम दूसरा उदाहरण देते हैंः—

॥ चौपाई ॥

पद्मिनि इव सोरंभ सरीरा ।
पद्मिनि ताहि पिछानहु धीरा ॥

ऐसा मत कहो कि यह तौ स्तुति रूप होने से वामन मतानुसार प्रथम भेद ही है? क्योंकि स्तुति के लिये यह वर्णन नहीं है, किंतु काम शास्त्र में पद्मिनी, चित्रिणी, हस्तिनी, शंखिनी ऐसी स्त्रियों की चार जातियां कही हैं। सो उक्त उपमा पद्मिनी का ज्ञान कराने के लिये है। कितनेक प्राचीन निरवयव, सावयव, समस्तवस्तुविषय, एकदेशविवर्ति, परंपरित ऐसे उपमा के प्रकार मानते हैं। केवल वस्तु की ही उपमा होवे उस के अवयवों सहित उपमा न होवे वह निरवयव। अवयवों सहित अवयवी की उपमा होवे वह सावयव। सावयव दो प्रकार की है। उपमेय उपमान पक्ष में अवयव अवयवी समस्त का शब्द से

कथन होवे वह समस्तवस्तुविषया। और उन में से किसी एक वस्तु का उपमान पक्ष में अथवा उपमेय पक्ष में शब्द से कथन नहीं होवे वह एकदेशविवर्ति । और परंपरा से वस्तुओं की उपमा होवे वह परंपरित ॥

क्रम से यथाः—

इंद्र सौ उदार है, नरेंद्र मारवार कौ ॥

यहां केवल अवयवियों की उपमा है इसलिये निरवयव हैः—

॥ दोहा ॥

अलि तुव आनन इंदु इव, अंक इव सु जुग नैन ।
सोहत स्मित ज्योत्स्ना सदृश, पिय चकोर सुख दैन ॥ १ ॥

यहां उपमेय पक्ष में अवयवी मुख, अवयव नेत्र और स्मित । उपमान पक्ष में अवयवी इंदु, अवयव कलंक और ज्योत्स्ना हैं । सो अवयवों सहित अवयवियों की उपमा होने से सावयव है। और यहां उपमेय पक्ष में जितने अवयवी अवयवों का कथन है उतने ही अवयवी अवयवों का उपमान पक्ष में भी कथन है, इसलिये समस्तवस्तुविषया है ।

॥ सवैया ॥

जितही तित जोरति मंगल जाल सी,
भासत है भट भीर भयंकर ।
शुभ रत्न अमोल से विद्वत वृंद सौं,
सेवित हौ नित ही करुना घर ॥
मयनाक से शत्रु सभीतन कौं,
शरनायक हौ मरुनायक भू पर ।
कवितामृत कीरत चंद्र के कारन,
हौ तुम श्री जसवंत नरेश्वर ॥ १ ॥

यहां जितने अवयव उपमेय पक्ष में शब्द से कहे हैं, उतने ही अवयव उपमान पक्ष में भी शब्द से कहे हैं। परंतु अवयवी राजराजेश्वर उपमेय का उपमान जो समुद्र उस का शब्द से कथन नहीं है, तो भी विशेषण सामर्थ्य से उस का लाभ होता है, इसलिये यह एकदेश-

विवर्ति है। हमारे मत में निरवयव सावयवादि किंचित् विलक्षण होने से उदाहरणांतर ही हैं। न कि प्रकारांतर।

॥ सवैया ॥

दोऊ अनंद सौं आंगन मांझ,
विराजे असाढ की सांझ सुहाई।
प्यारी कौं पूछत आंन तिया कौं,
अचांनक नांम लयो रसिकाई॥
आयो उन्हें मुंह मेह सौ कोह,
तिया सुर चापसी भौंह चढ़ाई।
आंखन तैं गिरे वूंद से आंसू।
हुलास गयौ उड़ हंस की नाई॥ १॥

इति रसराज भाषा ग्रंथे॥

यहां क्रोध को मेह की उपमा होने से भौंह चढ़ाना, आंसू और हुलास इन को मेघ के संवंधी सुरचाप, वूंद और हंस की उपमा सिद्ध हुई है। इस रीति से एक उपमा मूलक दूसरी उपमायें परंपरा से होने से परंपरित उपमा है। वेदव्यास भगवान् ने समुच्चयोपमा, वहूपमा और मालोपमा का आपस में भेद ऐसे कहा हैः—

समुच्चयोपमा त्वन्यधर्मवाहुल्यकीर्तनात्॥

अर्थ—समुच्चयोपमा तो अन्य अर्थात् उपमान के धर्म वाहुल्य के कहने से होती है। निष्कर्ष यह है कि उपमान के अनेक धर्मों का समुच्चय करके उपमा दी जावे वह समुच्चयोपमा। यहां उपमा तो एक ही है। उपमान के धर्मों का समुच्चय है। व्यास भगवान् ने तो लक्षण मात्र कहे हैं। उदाहरण नहीं दिखाये हैं। स्पष्ट ज्ञान होने के लिये दूसरों ने उदाहरण दिखाये हैं।

यथाः—

चंपक कलिका सी यहे, रूप रंग अरु वास॥

यहां एक ही उपमान चंपक कलिका के रूप, रंग, और सुगंध

इन अनेक धर्मों करके उपमा होने से समुच्चयोपमा है।

यत्रोपमा स्याद्बहुभिः सदृशैः सा वहूपमा ॥

अर्थ—जहां वहुत सदृशों के साथ उपमा होवे वह वहूपमा ॥

यथाः—

हिम हर हीरा हंस सौ, जस तेरो जसवंत ॥

यहां उपमान वहुत हैं, परंतु एक श्वेत धर्म करके उपमा तो एक ही है, इसलिये वहुत उपमानों की उपमा होने से यह वहूपमा है।

यथावाः—

॥ मनहर ॥

सारद सौ, सेस सौ, सुधा सौ, सक्र सिंधुर सौ,
सुर सरिता सौ सूर ससि सौ, वखांन है।
हंसन सौ, हीरन सौ, हिम सौ, हलायुध सौ,
हरगिर हास्य हू सौ, जपत जिहांन है॥
भनत मुरार घनसार सर्द घन हू सौ,
पारद सौ, पय सौ, पिनाकी सौ, प्रमांन है।
आज जुध जीप जस तखत महीप तेरो,
दीप दीप दीपे दीपमालिका समांन है॥ १ ॥

यहां भी उपमान वहुत हैं। तथापि एक श्वेत धर्म से उपमान एक ही है। आचार्य दंडी भी इस विषय को वहूपमा नाम कहता हुआ यह उदाहरण देता हैः—

चंदन चंद रु चंदमनि, सम सीतल तुव स्पर्श।

एक ही विषय में वहुत उपमा देने का प्रयोजन दंडी यह कहता हैः—

अतिशयं बोधयन्ती वहूपमा ॥

अर्थ— वहूपमा वर्णनीय के अतिशय का वोध कराती है॥ वामन कहता है कि यहां अपुष्टार्थदोष है;क्योंकि इन में से एक उपमान से यश की धवलता का उत्कर्ष सिद्ध होते रहते फिर तादृश दूसरे उ-

पमान के कथन में प्रयोजन नहीं; सो हमारे मत में वामन का कहना समीचीन नहीं; क्योंकि उपमा का स्वरूप सादृश्य का निर्णय है, सो निर्णय के लिये परस्पर अर्थात् उलट पुलट भी लोक में तोलते हैं, उस न्याय से परस्परोपमा मानी गई है। वैसे ही लोक में दृढ निर्णय के लिये एक वस्तु को अनेक तोलों से तोलने की भी रीति है। जैसे सेर भर वस्तु को लोह आदि के किये हुए अपने सेर से, दूसरे व्यापारी के सेर से, रुपयों से और पैसों से पुनः पुनः तोलते हैं। उस न्याय से एक वस्तु को उसी धर्म के विषय में अनेक वस्तुओं के समीप कर करके निर्णय करने में दृढतर निर्णय होता है। और आचार्य दंडी ने अतिशय रूप प्रयोजन बतलाया है वह समीचीन नहीं; क्योंकि उसी धर्म में बहुत उपमान करने से उपमेय का कुछ अतिशय नहीं होता, किंतु उपमेय निष्ट धर्म के प्रमाण के निर्णय की दृढ़ता होती है, इस लिये प्रयोजन तौ यहां यही है ॥

धर्माः प्रत्युपमानं चेदन्या मालोपमैव सा ।

अर्थ—यदि उपमान उपमान प्रति धर्म भिन्न भिन्न होवें वह मालोपमा ही है। अन्या अर्थात् वह मालोपमा समुच्चयोपमा और बहूपमा से और है ॥

यथाः—

॥ कवित्त ॥

परम प्रसिद्ध है पुनीत पृथिवी में आज,
पन प्रजा पालन में जैसौ अवधेस कौ।
जा के भुज जुगल विराजे धर्म छत्रिन कौ,
धारैं भुवि भार फन मंडन ज्यौं सेस कौ ॥
भनत मुरार सब जगत उचार रह्यौ,
देखौ धन्य भाग यहे मुरधर देस कौ।
अथग समंद सौ है तापहर चंद सौ है,
सुखमा सुरिंद सौ है नंद तखतेस कौ ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर को अथाह धर्म से समुद्र की, ताप हर धर्म से चंद्र की, और शोभा धर्म से इंद्र की, उपमा है। इस रीति से अनेक उपमानों प्रति जुदे जुदे धर्मों से उपमा होने से यह मालोपमा है।
यथावाः—

॥ सवैया ॥

भृगु नंद कुठार सी वासव वज्र सी,
है विकराल हलाहल सी।
त्रिपुरारि त्रिशूल सी श्रीपति चक्र सी,
वंक कहै वड़वानल सी॥
नरसिंघ नखाली सी खेत में काली सी,
सेस मुखानल के झल सी।
तरवार तिहारिय मांन महीपति,
आडी जिहांन के आगल सी॥ १॥

इति पितामह कविराज वांकीदासस्य।

यहां आरंभ में राजराजेश्वर मांनसिंह की तरवार को एक विकराल धर्म से वहुत उपमानों की उपमा होने से वहूपमा है। परंतु फिर रच्छा धर्म से उक्त तरवार को आगल की उपमा देने से मालोपमा है; क्योंकि भिन्न धर्मों से उपमानों की माला है, इसलिये यह वहूपमा गर्भित मालोपमा है। और यहां विकरालता धर्म के वर्णन को समास करके फिर मालोपमा करने के लिये रच्छण धर्म की उपमा की है, इसलिये इस कवित्त में समाप्तपुनरात्तदोष नहीं है।
यथावाः—

॥ मनहर ॥

सज्जन सिधायें स्वर्ग दुसह दुनी के दुख
दूर करि विक्रम सौं वाज्यो ततकाल तूं।
भनत मुरार वारवार दे अपार दांन,
कर्न सौं प्रसिद्ध मेदपाट भूमिपाल तूं॥

रांमचंद्र सौं भौ नीत रीत ही कौं धार दृढ,
एक रही सेस सो न चूक्यौ वह चाल तूं।
कवि बालकांन के पढाने कौं प्रचार करि,
भोज के समांन भयौ रांन फतमाल तूं॥ १॥

रसना रूप से उपमा होवे वह रसनोपमा॥

यथाः—

॥ चौपाई ॥

शशि इव श्वेत विराजत हंसा,
हंस इव सु गति तरुनि प्रशंसा॥
तरुनि स्पर्श इव शीतल भौ जल,
जल इव गगन निहारिय निरमल॥ १॥

इसी का पर्याय शृंखलोपमा है। रसना नाम कटिमेखला का है। वह रस्सी की आकृति से भी होती है। और शृंखला की आकृति से भी होती है। सो यहां रसना की शृंखला आकृति विवक्षित है। इस अलंकार का नाम शृंखला कहने में तौ गज बंधन इत्यादि शृंखला का न्याय है। और रसना नाम कहने से नायिका की तादृश कटिमेखला का न्याय है। सो गज बंधन न्याय की अपेक्षा कटिमेखला न्याय रमणीय होने से किसी रसिक कवि ने इस का नाम रसनोपमा कहा है। यहां चंद्रमा की उपमा हंस को, हंस की उपमा तरुणी को, तरुणी की उपमा जल को, और जल की उपमा गगन को है, सो यह उपमा शृंखलाकृति रसना रूप होने से रसनोपमा है। शृंखला अलंकार आगे कहा जायगा। वेदव्यास भगवान् ने तौ इस का नाम गमनोपमा कहा हैः—

उन का लक्षण यह हैः—

यद्युत्तरोत्तरं याति तदासौ गमनोपमा॥

अर्थ— जो उत्तरोत्तर जावे तब वह गमनोपमा है।

॥ दोहा ॥

अपनी उपमा आपकौं, नृप निजोपमा जांन।

समयादिक के भेद सौं, बहु विध वनत वखांन ॥ १ ॥

समय भेद से यथाः—

॥ चौपाई ॥

लोहित पीत सुमन सौं छाये,
थे गिरि शिखर वसंत सुहाये ।
ज्यौं दावाग्नि ज्वाल लपटाये,
दुसह ग्रीष्म ऋतु में दरसाये ॥ १ ॥

देश भेद से यथाः—

॥ दोहा ॥

विकसित चख मुख फरक भुज, उर वढि हरख अतंत ।
तोरन पै तैसौ लख्यौ, तो रन पै जसवंत ॥ १ ॥

पूर्व उदाहरण में वसंत ग्रीष्म समय भेद से उसी पर्वत को उसी पर्वत की उपमा है । यहां तौ विवाह मंडप देश और रणांगण देश भेद से उसी राजराजेश्वर जसवंतसिंघ को उसी राजराजेश्वर जसवंतसिंघ की उपमा है ।

शरीर भेद से यथाः—

॥ दोहा ॥

की रच्छा प्रल्हाद की, धर नरसिंघ स्वरूप ।
त्यौं तुम गोपी गोप कौं, ज्याये* व्है जदु भूप ॥ १ ॥

यहां अवतार भेद से उसी जगदीश्वर को उसी जगदीश्वर की उपमा है । प्राचीनों ने निजोपमा का उदाहरण एक समय भेद से ही दिखाया है । उस दिक् प्रदर्शन से हम ने देश भेद और शरीर भेद से भी उदाहरण दिखाये हैं ।

॥ दोहा ॥

अनुरूप सु उपमेय के, कल्प लेत उपमांन ।
कल्पित उपमा तिंह कहत, सुन जसवंत सुजांन ॥ १ ॥

---

* जिलाये

जहां किसी उपमेय की उपमा के लिये उपमान की प्राप्ति कवि को न हो, तहां उस उपमेय के योग्य उपमान की कल्पना करके उपमा की जावै वहां कल्पितोपमा ।

यथाः—

॥ दोहा ॥

राधे मुख तैं छुट अलक, लगी पयोधर आय ।
शशि मंडल तैं मेरु शिर, लटकी भोगिनि भाय ॥ १ ॥

अचार्य दंडी ने इस का नाम अभूतोपमा कहा है । अभूतोपमा अर्थात् जो वस्तु नहीं है उस की उपमा । कल्पितोपमा और अभूतोपमा नाम का तात्पर्य एक है॥

उदाहरण जसवँत लखे, हम ने भांत अनेक ।
अविरुद्धा विरुधादि हैं, पृथक एक सौं एक ॥ १ ॥

॥ दोहा ॥

उक्त उदाहरण में उपमान वास्तव नहीं कल्पित है । परंतु यहां आपस में इन कल्पित पदार्थों का विरोध नहीं है, इसलिये यह अविरुद्धा कल्पितोपमा है ।

यथावाः—

॥ दोहा ॥

सखि सोहत गोपाल के, गल तुलछी दल माल ।
उमड़ रहे घन सघन मभ्फ, जैसे शुक शिशु जाल ॥ १ ॥

मेघोदय समय में पंक्ति करके उड़ना बकों का प्रसिद्ध है, शुकों का नहीं, इस से यह उपमा कल्पित है । और मेघ के साथ शुकों का विरोध नहीं है, इसलिये यह भी अविरुद्धा है ।

यथावाः—

॥ सवैया ॥

किंकिनी नूपुर की भनकारन,
चारु पसार महारस जालहिं ।
काम कलोलन की मतिरांम,

कला न निहाल करयौ नँदलालहिं ॥
स्वेद के बुंद लसैं तन पैं रति,
अंतर ही लपटाय गुपालहिं ।
जैसे फली मुकताफल पुंजन,
हेम लता लपटानी तमालहिं ॥ १ ॥

इति रसराज भाषा ग्रंथे ।

ग्रंथकार का पाठ तौ यह है "मानों फली मुकता फल पुंजन" परंतु यहां संभव सामग्री न होने से उत्प्रेक्षा बनती नहीं, किंतु कल्पितोपमा है । इसलिये हम ने उत्प्रेक्षा द्योतक "मानों" शब्द की जगह उपमा वाचक "जैसे" शब्द धरा है । मुक्ताफल रूप फलवाली सुवर्ण की वेली वास्तव में है नहीं, कल्पित है । परंतु मुक्ताफल और सुवर्ण के आपस में विरोध नहीं, इसलिये यह भी अविरुद्ध है । पूर्व उदाहरण में प्रसंग प्राप्त घन के साथ शुकावली का संबंध हो जावे तौ असंभव नहीं, इसलिये वह संभवत् कल्पितोपमा है । और यहां तौ अत्यंत असंभव है, इसलिये यह असंभवत् कल्पितोपमा है ।

यथावाः—

॥ सवैया ॥

भाल गुही गुन लाल लटैं,
लपटी लर मोतिन की सुख दैनी ।
ताहि विलोकत आरस सौं,
कर आरसी ले इक सारस नैनी ॥
केसव कान्ह दुरैं दरसी,
परसी उपमा मति कौं अति पैनी ।
सूरज मंडल में शशि मंडल,
मध्य धसी इव ताहि त्रिवेनी ॥ १ ॥

इति रसिकप्रिया भाषा ग्रंथे॥

ग्रंथकार का पाठ तौ यह है "मध्य धसी जनु ताहि त्रिवेनी"।

परंतु यहां भी संभव सामग्री न होने से उत्प्रेक्षा वनती नहीं, किंतु कल्पितोपमा है, इसलिये हम ने उत्प्रेक्षा द्योतक "जनु" शब्द की जगह उपमा वाचक "इव" शब्द रक्खा है। सूर्य मंडल में शशि मंडल, और शशि मंडल में त्रिवेनी, वास्तव न होने से काल्पित है। और सूर्य उ-ष्णता प्रधान है, चंद्र शीतलता प्रधान है, इसलिये इन का संवंध वि-रुद्ध होने से यह विरुद्धा कल्पितोपमा है। इन पूर्वोक्त उदाहरणों में विधि सृष्टि के पदार्थों में कल्पना होने से विधि सृष्टि कल्पितोपमा है।

कविसृष्टिकल्पितोपमा यथाः—

॥ दोहा ॥

जटत नील मनि जगमगत, सीक सुहाई नांक।
जैसे अलि चंपक कली, वस रस लेत निसांक ॥ १ ॥

इति विहारीसप्तशत्याम्।

ग्रंथकार का पाठ तौ यह है। "मनों अली चंपक कली" परंतु यहां भी संभव सामग्री न होने से उत्प्रेक्षा वनती नहीं, किंतु कल्पि-तोपमा वनती है, इसलिये हम ने उत्प्रेक्षा द्योतक "मनों" शब्द की जगह उपमा वाचक "जैसे" शब्द धरा है। कविसृष्टि में चंपक कुसुम के साथ भ्रमर का संबंध वर्जित है, इसलिये यह उपमा कविसृष्टि क-ल्पित है। और चंपक भ्रमर का विरोध न होने से अविरुद्धा है। ऐसा मत कहो कि "शशि मंडल तें मेरु शिर, लटकी भोगिनि भाय" इत्या-दि परंपरा लोक सीमातिवर्तन है, सो यहां अतिशयोक्ति अलंकार क्यों नहीं? क्योंकि अतिशय स्वयं प्रधान होवे वहां अतिशयोक्ति अलंकार होता है। और जहां दूसरे अलंकार के लिये अतिशय होवे वहां वह वह अलंकार प्रधान है। इस का विशेष विचार अतिशयोक्ति प्रकरण में किया जायगा। कल्पितोपमा में मनरंजनता होने से प्रसिद्ध विरुद्ध दोष की शंका का अवकाश नहीं। कहा है आचार्य दंडी नेः—

न लिङ्गवचने भिन्ने न न्यूनाधिकतापि वा।
उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम् ॥ १ ॥

कहीं उपमेय भी कवि कल्पित होते हैं।

यथा—

॥ मनहर ॥

वाढी वीर हाक हर ढाक भुव चाक चढी
ताक ताक रही हूर छाक चहुं कोद में ।
वोल के कुवोल हय तोल वहलोल खां पै,
वागो आंन कत्ता रांन पत्ता कौ विनोद में ॥
टोप कट टोपी लाल टोपा कट पीत पट,
सीस कट अंग मिली उपमा सुमोद में ।
राहू गोद मंगल की मंगल गुरू की गोद,
गुरू गोद चंद की रु चंद रवि गोद में ॥ १ ॥

इति रोहड़िया वारहट चारण कुलोद्भव गणेशपुरी स्वामिनः।

उदयपुर का महाराणा प्रतापसिंह अकवर वादशाह के समय में था । प्रतापसिंह का देहांत विक्रमी संवत् सौलह सौ तेपन १६५३ में हुआ था । और स्वामीजी गणेशपुरीजी अभी विद्यमान हैं । सो अकवर के सेनापति वहलोलखां की न तो उक्त समय की कहीं कोई तसवीर है, और न कहीं किसी ख्याति में लिखा है, कि महाराणा प्रतापसिंह ने रणांगण में वहलोलखां को मारा, तब उस के सिर पर पीत वस्त्र का टोपा, उस पर लाल वस्त्र की टोपी, और उस पर लोह का टोप था । परंतु उक्त कवि ने ग्रहों का रंग मिलाने के लिये ऐसे उपमेयों की भी कल्पना कर ली है । कल्पितोपमा को जुदा अलंकार मानता हुआ अलंकाररत्नाकरकार कहता है, कि कल्पितोपमा का फल उपमानांतर का अभाव है, इसलिये इस का उपमा में अंतर्भाव नहीं हो सकता । फल भेद रहते भी इस का उपमा में अंतर्भाव करोगे तो अनन्वय का भी उपमा में अंतर्भाव होना चाहिये । रसगंगाधरकार कहता है, कि रत्नाकरकार का यह कथन समीचीन नहीं । यहां सादृश्य चमत्कारकारी होने से उपमा ही मानना उचित है । ऐसी शंका न करनी चाहिये कि कल्पितोपमा में उपमान का अत्यंत असंभव है, इसलिये सादृश्य का ज्ञान नहीं हो सकता, तब सादृश्य का चमत्कार कैसे होगा ? क्योंकि विशिष्ट उमान अप्रसिद्ध है, तो भी जुदे जुदे

पदार्थों की प्रसिद्धि है उस के संबंध मात्र की आपस में कल्पना करके उन के साथ साम्य की भी कल्पना में बाधा नहीं है। ऐसा मत कहो कि कल्पित सादृश्य जो है वह चमत्कार का जनक कैसे होगा? क्योंकि कल्पित सुंदरी के आलिंगन से भी आल्हाद अनुभव सिद्ध है। हमारे मत में भी रसगंगाधरकार का कथन समीचीन है। क्योंकि यहां पर्य-वसान उपमा में है। न कि उपमानान्तर के अभाव में। उपमानांतर के अभाव में पर्यवसान करें तो वक्ष्यमाण आक्षेप अलंकार होता है। परंतु यहां वह विवक्षित नहीं। कोई प्राचीन उत्पाद्योपमा को कल्पितो-पमा का प्रभेद कहता है। उत्पाद्य अर्थात् उत्पन्न किये हुए उपमान की उपमा॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

विद्रुम थित मुक्ताफल सु, वा प्रवाल युत फूल।
अधरवर्ति मुसक्यान के, तव व्हैं हैं सम तूल॥ १॥

कल्पना तो बनावट है। कहा है चिन्तामणि कोपकार ने "कल्प-ना रचनायाम्" सो कल्पना दो प्रकार की होती है। मानसिक और कायिक। "राधे मुख तैं छुटि अलक" इति॥ वहां मानसिक कल्पना है॥ "विद्रुम थित" इति॥ यहां कायिक कल्पना है। विद्रुम स्थित मुक्ताफल अथवा विद्रुम स्थित सित पुष्प वास्तव में है नहीं, कल्पना है; परंतु ऐसी कल्पना हाथ से करके दिखा सकते हैं, इसलिये यह कल्पना कायिक है। लोक प्रसिद्ध उपमान को उपमेय करने में आचा-र्य दंडी प्रसिद्धि का विपर्यास होनेसे विपर्यासोपमा कहता है। इसी का पर्याय विपरीतोपमा है। दंडी ने यह उदाहरण दिया हैः—

भौ तुव आनन इव सु यह, अंभोरुह जु विनिद्र॥

आचार्य दंडी ने परस्परोपमा का प्रयोजन अन्योन्य का उत्कर्ष कहा है, जिस से विपर्यासोपमा में उपमेय का उत्कर्ष रूप प्रयोजन अर्थसिद्ध है। प्रसिद्ध गुणवाला उपमान और अप्रसिद्ध गुणवाला उपमेय प्राचीनों ने माना है,। यह पहिले लिख आये हैं। सो उपमेय को उपमान करने में उपमेय का प्रसिद्धि मूलक उत्कर्ष सिद्ध होता है।

हमारे मत में इस प्रयोजन के अतिरिक्त प्रसंग रूप निमित्त से भी विपरीतोपमा होती है। दंडी के उक्त उदाहरण में विपरीतोपमा का निमित्त संकेत स्थान में नायिका को सखी का प्रभात सूचन प्रसंग भी हो सकता है। परकीया नायिका नायक के साथ तड़ाग तीर के संकेत स्थान में रात्रि में रही है। सो कमल को विकसा हुआ देख कर सखी उस नायिका प्रति प्रभात सूचन करती है, कि तेरे मुख के जैसा कमल विकास युक्त हो गया है। अर्थात् कमल संपूर्ण विकास को पा गया है। और इस उदाहरण में कमल एक वचनांत शब्द से कहा गया है, इसलिये हमारा माना हुआ उक्त निमित्त ही यहां मुख्य है; क्योंकि परिपक्वता से कमल क्रम से विकास पाते हैं। सो एक कमल के विकास पाते ही सखी ने नायिका प्रति प्रभात सूचित किया है। सखी के ये नियत कर्म हैं।

॥ दोहा ॥

मंडन अरु शिक्षा करन, उपालंभ परिहास।
काज सखी के जांनियो, औरौं बुद्धि विलास ॥ १ ॥

इति रसराज भाषा ग्रंथे।

यथावा—

॥ दोहा ॥

कुंज भवन तज भवन कौं, चलिये नंद किशोर।
फूटत कली गुलाव की, चटकाहट चहुं ओर ॥ १ ॥

इति विहारी सतशत्याम्।

यथावाः—

॥ सवैया ॥

तुव नैंनन से नव नीरज हे,
तिन कौं कुल ले जल मांझ डुबायो।
तुव आनन सौं रजनीकर हौं,
सु चहूं दिश घेरि घनाघन छायो ॥
तुव चाल से वाल मराल जु हे,

तज या वन कौं वन और वसायो ।
तुव अंगन की अनुहार निहार हौं,
जीवत सो विधि कौं नहिं भायो ॥ १ ॥

इति अलंकाररत्नाकर भाषा ग्रंथे ।

यहां रामचंद्र सीता के अवयव समान उक्त पदार्थों को देख कर वियोग व्यतीत करते थे, वर्षा वश से वे पदार्थ भी लुप्त होगये, सो इस वृत्तांत का सीता संबोधन पूर्वक कथन तो विपरीतोपमा द्वारा ही वन सकता है, इसलिये यहां विपरीतोपमा का यही प्रसंग निमित्त है ॥

यथावाः—

॥ सवैया ॥

वस नींद विसारित राज सिरी,
तिय खंडिता ज्यौं निस तोरत है ।
उनिहार तो इंदु हि सौं मन कौं,
विरमावत नां चख मोरत है ॥
अब जागिये जू जसवंत बली,
कविराज मुरार निहोरत है ।
दिग अंत विलंबित इंदु वहै,
तुव आनन की छवि छोरत है ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर के निद्रा वश होने के समय में खंडिता दशा को प्राप्त हुई राजश्री का पूर्ण शशी के साथ विनोद करना तो इसलिये है कि राजराजेश्वर के मुख जैसा पूर्ण शशी है। सो यहां विपरीतोपमा का निमित्त यही प्रसंग हो सकता है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

जग उपमा फल बिंब की, अधर तियन कौं लेत ।
बिंब फलन तुव अधर की, कवि वर उपमा देत ॥ १ ॥

यहां विपरीतोपमा का निमित्त कोई दूसरा प्रसंग नहीं है। आ-

चार्य दंडी के सिद्धान्तानुसार नायिका के अधर उपमेय के प्रसिद्धि गुण मूलक उत्कर्ष के लिये ही यह विपरीतोपमा की गई है। उपमान की उपमा उपमेय को, और उपमेय की उपमा उपमान को, ऐसे परस्पर उपमा होवे वह परस्परोपमा ॥

यथाः—

॥ सवैया ॥

शत्रुन सीस अमोघ हैं क्रुद्ध,
प्रसिद्ध हि शुद्ध सुभाव है जाकौ।
रीझत तुच्छहि से गुन सौं पुन,
दांन कौ नांहि प्रमांन है ताकौ ॥
धारत हैं जु महेश पदैं तउ,
सादौ सौ वेप मुरार है वाकौ।
है जसवंत उमा जू के कंत सौ,
है जसवंत सौ कंत उमा कौ ॥ १ ॥

ऐसे उदाहरणों में एक वस्तु को दूसरी वस्तु की उपमा देने से उस धर्म के विषय में दूसरी वस्तु के साथ उस वस्तु की उपमा भी अर्थसिद्ध होते रहते फिर उस उपमा को वचन से कहने का क्या प्रयोजन है ? और यहां कौनसा अलंकार है ? इस आशंका पर प्राचीनों ने भिन्न भिन्न प्रयोजन अंगीकार करके भिन्न भिन्न अलंकार माने हैं। आचार्य दंडी ने तो इस का फल अन्योन्योत्कर्ष मान कर अन्योन्योपमा नामक उपमा का प्रकार इस को कहा है।

इत्यन्योन्योपमा सेयमन्योन्योत्कर्षशंसनी ॥

अर्थ— अन्योन्य के उत्कर्ष को कहती हुई यह उपमा अन्योन्योपमा है ॥ इन का सिद्धांत यह है कि जिस वस्तु की उपमा देते हैं उस उपमान रूप वस्तु में प्रसिद्धि मूलक उत्कर्ष होता है, सो परस्पर उपमा देने से उपमेय का भी तादृश उत्कर्ष सिद्ध होता है, इस रीति से यहां अन्योन्य का उत्कर्ष है। और यह उपमा का प्रकार है। हमारे मत में दंडयुक्त उक्त फल के अतिरिक्त परस्परोपमा का फल उपमा का

दृढ निर्णय भी है। लोक में मापक के साथ माप्य को तुलारोहण करने से मापक के साथ माप्य की समानता सिद्ध हो जाती है। परंतु दृढ प्रतीति के लिये कहीं उन को फिर तुला में उलट पुलट भी तोलते हैं, उस न्याय से यहां समता की दृढ प्रतीति भी फल है, सो ये दोनों फल विवक्षा के आधीन हैं। किसी को परस्पर उत्कर्ष की विवक्षा होती है, किसी को सादृश्य के दृढ निर्णय की विवक्षा होती है। सर्वस्वकारादि परस्परोपमा का फल तृतीय सदृश व्यवच्छेद मान कर इस को उपमेयोपमा नामक जुदा अलंकार कहते हैं। सर्वस्व का यह लक्षण है:—

द्वयोः पर्यायेण तस्मिन्नुपमेयोपमा ॥

अर्थ—दोनों के पर्याय करके तास्मिन् अर्थात् उपमानोपमेय भाव में उपमेयोपमा अलंकार है ॥ पर्याय शब्द का यहां यह अर्थ है, कि एक साथ न कहना। किंतु वारी से कहना। रत्नाकर का यह लक्षण है:—

परस्परमुपमानोपमेयत्वमुपमेयोपमा ॥

अर्थ—परस्पर उपमानोपमेय भाव सो उपमेयोपमा ॥ हमारे मत में अन्योन्योपमा, उपमेयोपमा और परस्परोपमा ये तो पर्याय नाम हैं। उपमेयोपमा शब्द का यह अर्थ है कि उपमेय के साथ उपमा अर्थात् उपमेय किये हुए के साथ उपमा ॥ सर्वस्वकारादिकों के नाम से और लक्षणों से उपमाबहिर्भाव सिद्ध नहीं होता। किंतु उपमा का प्रकार ही सिद्ध होता है। और हमारे मत में फल भेद से अलंकार भेद नहीं होता। अन्यथा बहुतसे अलंकारों का उत्कर्षादि फल एक ही होता है, तहां फल एक होने से उन अनेक अलंकारों का एक अलंकार हो जाना चाहिये। तृतीय सदृश व्यवच्छेद फल की विवक्षा में भी इस का शरीर तो उपमा रूप ही है। और तृतीय सदृश व्यवच्छेद फल में अलंकारता मानें तो निषेध रूप होने से आक्षेप अलंकार होगा। द्वितीय सदृश व्यवच्छेद में अनन्वय, तृतीय सदृश व्यवच्छेद में उपमेयोपमा ऐसे सदृश निषेध के आश्रयों की संख्या के भेद से अलंकार भेद मानें तो अनंत विस्तार हो जायगा।

यथाः—

॥ दोहा ॥

हरि दस एकादस हर सु, अरु दिन कर दस दोय ॥
है अवर न जसवंत सम, लिये त्रिहूं जग जोय ॥ १ ॥

यहां तेतीस से अतिरिक्तों में सादृश्य का निषेध है, सो यहां भी अलंकारांतर होना चाहिये ॥

॥ दोहा ॥

हयन उठे रज पटल तें, गज घन तें जु अनीन ।
भूतल इव नभ मंडलहिं, नभ इव भूतल कीन ॥ १ ॥

इस उदाहरण में रज और गज रूप घन भिन्न भिन्न धर्मों से भूतल और नभ मंडल को परस्पर उपमा है। इसलिये परस्पर उपमा देने का क्या प्रयोजन है ? इस शंका का यहां अवकाश नहीं॥ परस्परोपमा में दो अंश हैं। एक तो शुद्धोपमा, दूसरी विपरीतोपमा, इस लिये यह तो उपमा प्रकारों का संकर है, जुदा प्रकार कैसा ? ऐसी शंका न करना चाहिये; क्योंकि संकर में भी दो अलंकारों की मिलावट है, परंतु अलंकारों का चमत्कार जुदा जुदा रहता है, सो संकर प्रकरण में स्पष्ट किया जायगा। यहां तो शर्करादि अनेक पदार्थ मिल कर मदिरा का भिन्न ही स्वाद उत्पन्न होता है, जैसे शुद्धोपमा विपरीतोपमा मिल कर परस्परोपमा रूप तीसरा चमत्कार उत्पन्न होता है, सो तो उपमा प्रकार होने के ही योग्य है ॥ यहां सहृदयों का हृदय ही साक्षी है। प्राचीनों ने फिर बहुतसे उपमा के प्रकार दिखाये हैं वे हमने व्यर्थ जान कर ग्रंथ विस्तार भय से नहीं कहे ॥

इति उपमा प्रकरणम् ॥ १ ॥



॥ दोहा ॥

अति प्रसिद्ध यातें कही, धुर उपमा नृप मौर ॥
कहौं वरन माला क्रमहिं, अलंकार अब और ॥ १ ॥

अतद्गुण ।

"तस्य गुणोऽत्रास्तीति तद्गुणः" तस्य उस का अर्थात् दूसरे का गुण इस में है । तात्पर्य यह है कि दूसरे के गुण का दूसरे में संवंध होवे वह तौ तद्गुण है । "तस्य गुणोऽत्र नास्तीति अतद्गुणः" दूसरे के गुण का दूसरे में संवंध न होवे वह अतद्गुण। वक्ष्यमाण तद्गुण अलंकार के विपरीत भाव में धोरी का माना हुआ अतद्गुण अलंकार है ॥

॥ दोहा ॥

पर गुन कौ संबंध नहिं, वहै अतद्गुन जांन ।
कहत सुकवि प्राचीन सब, सुनियैं नृप जोधांन ॥ १ ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

मद मलीन दिग दंति मुख, उदधि पंक जुत चंद ।
खेलत हू जसवंत जस, रहत सु अमल अमंद ॥ १ ॥

यहां मद और कलंक की संगति रहने पर भी राजराजेश्वर के जस में उन के श्यामता गुण का संबंध नहीं । यहां अपकृष्ट गुण का असंबंध है । और यहां गुण वर्ण रूप है ॥

यथावाः—

॥ मनहर ॥

तम के अधारी व्यभिचारी चोर आदिक कौं,
कीवे अपहार वार क्षण हू की पाई नां ।
जारत पतंग अंग बहुल विपक्षन के,
मेटन कपिल श्राप जैसे को सहाई नां ॥
नेह तैं सपूर नित गुणागुण दर्शक व्है,
भारत प्रकास कियौ तामें कोऊ काई नां ।
कौन फतमाल कुल दीपक समांन आंन,
कज्जल कौ संग करि कालिमा लगाई नां ॥ १ ॥

इति शाहपुरा निवासी चारण सौदा बारहठ कृष्णसिंहस्य ।

गुण दो प्रकार का है। वर्ण रूप और स्वभावादि रूप। इन दोनों के दो दो प्रकार हैं। भला और बुरा। "कालिमा लगाई नां" यहां दीपक पक्ष में दुर्वर्ण का अनंगीकार है। महाराणा पक्ष में दुःस्वभाव का अनंगीकार है॥

यथावाः—

॥ चौपाई ॥

जसवँत नृप अरि तिय के साथहिं,
शवरांगना रहत दिन रातहिं॥
बुधि न भई मनि गुंजा भेदहिं,
यातैं भूषण बचे अखेदहिं॥ १॥

यहां राज स्त्रियों के निरंतर संसर्ग से भी उत्तम अनुत्तम भेद ज्ञान रूप गुण का शवरांगनाओं में संबंध नहीं हुआ। यहां उत्कृष्ट गुण का असंबंध है। और यहां गुण विवेचन बुद्धि रूप है। सर्वस्व का यह लक्षण हैः—

सति हेतावतद्गुणः।

अर्थ—हेतु रहते अर्थात् दूसरे के गुण का संबंध होने का हेतु संसर्गादि रहते संबंध न होवे तब अतद्गुण अलंकार होता है॥ प्रकाश कार ने भीः—

संभवन्त्यामपि योग्यतायाम्।

अर्थ—योग्यता का संभव रहते भी ऐसा वृत्ति में लिखा है, सो हमारे मत में संसर्ग आदि हेतु रहते, पर गुण का संबंध न होने में ही चमत्कार होने से अलंकारता है, यह तो अलंकार प्रकरण वश से अर्थसिद्ध है। लक्षण में अथवा वृत्ति में इस का कथन आवश्यक नहीं; ऐसा लक्षण करने से यह अलंकार विशेषोक्ति में जा पड़ता है। सर्वस्व के ऐसा लक्षण करने से ही रत्नाकरकार को इस अलंकार का उच्छेद करने का अवकाश मिला है। और सर्वस्वकार कहता है कि न्यून गुण वस्तु को अधिक गुण वस्तु के संबंध से उस के गुण का स्वीकार करना न्याय

है, सो न करने में अतद्गुण अलंकार है। यही प्रकाशकार का सिद्धांत है। सो हमारे मत इन की यह भूल है; क्योंकि "मद मलीन" इति। यहां मद और कलंक में अधिक गुण और जस में न्यून गुण किस प्रकार घटावेंगे, क्या श्वेत गुण से श्याम गुण स्वभाव से अधिक है? यदि ऐसा होवे तौ "शेष श्याम भौ हर गरे, जस सौं उज्ज्वल होत" इति। यहां पूर्वरूप, और "जस रावरे नैं जसवंत कहौ, कहा तीन हु लोक कौं श्वेत करौ है" ॥ यहां तद्गुण अलंकार न होना चाहिये. अथवा परिमाण से मदादिकों में श्यामता अधिक और जस में श्वेतता न्यून है? ऐसा अंगीकार करैं तौ वर्णनीय की न्यूनता से विरस होता है। यहां तौ इतना मात्र विवक्षित है कि संगति से गुण का स्वीकार न्याय है, सो न होने में अतद्गुण अलंकार है। और प्रकाशकार कहता है कि किसी निमित्त से पर गुण को ग्रहण न करै वह भी अतद्गुण है। ऐसा जान लेना चाहिये॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

कज्जल इव जमुना जलहिं, ससि सम सुर सरि नीर।
न्हात न घट वढ स्वेतता, राजहंस धन धीर ॥ १ ॥

यहां पर गुण ग्रहण न करने में राजहंसता निमित्त है॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

वड़वानल सह सिंधु जल, उष्ण न होत निहार ॥
सुप्त अंगना संग हरि, महिमा वहै विचार ॥ १ ॥

हमारे मत यह भी इन की भूल है; क्योंकि अतद्गुणता में निमित्त होने से अतद्गुण महिमा में हानि हो जाती है, यह अनुभव सिद्ध है। और ऐसे स्थल में हेतु अलंकार प्रवृत्त हो जाता है। अतद्गुण को अलंकारांतर नहीं मानता हुआ रत्नाकरकार कहता है:—

हेतौ सत्यपि नान्यस्य गुणानुहरणं यदि।
विशेषोक्तिरसौ स्पष्टा न वाच्यस्तदतद्गुणः ॥ ९ ॥

अर्थ–जो हेतु रहते भी अन्य के गुण का अनुहरण अर्थात् ग्रहण न करै, यह तो स्पष्ट विशेषोक्ति है, इसलिये इस को अतद्गुण न कहना चाहिये॥ इस कारिका के प्रथम लिखा है कि गुण का स्वीकार न करने से चमत्कार मान कर जुदा अलंकार माने तो क्रियादि अनेक कार्यों की अनुत्पत्ति से अलंकारों की अनंतता हो जावेगी, इसलिये जिस किसी कार्य का हेतु रहते कार्य की अनुत्पत्ति होवे वहां वहां विशेषोक्ति है। रत्नाकरकार का यह कटाक्ष सर्वस्वकार पर है। जिस का समाधान विमर्शनीकार ने कुछ भी नहीं किया है। यही कहा है कि अलंकारसारकार ने तो इस का विशेषोक्ति में ही अंतर्भाव किया है; परंतु सर्वस्वकार ने प्राचीन मतानुसार जुदा कहा है। हमारे मत में तद्गुण अलंकार वासना वासित सहृदयों को तद्गुण के विपरीत भाव में अन्य के गुण के अन्यत्र असंबंधांशमात्र में चमत्कार का पर्यवसान होता है। न कि हेतु रहते कार्य की अनुत्पत्ति अंश में। जो इस अंश में चमत्कार माने तो तद्गुण में भी हेत्वंश में पर्यवसान हो कर उस का भी उच्छेद हो जायगा। फिर रत्नाकरकार ने तद्गुण को अलंकारांतर क्यों माना? विशेषोक्ति तो हेतु रहते कार्याभाव चमत्कार की प्रधानता में होती है। यथाः—

॥ दोहा ॥

पिय अपराध अनेक निज, आंखन हू लख पाय।
तिय इकंत हू कंत सौं, मान करत लजियाय॥ १॥

इति रसराज भाषा ग्रंथे।

तद्गुण और अतद्गुण में पर गुण का ग्रहण और अग्रहण उद्धरकंधर होने से इन्ही में चमत्कार का पर्यवसान होता है। कार्य कारण भाव पर्यंत बुद्धि अनुधावन नहीं करती। यहां सहृदयों का हृदय ही साक्षी है॥

इति अतद्गुण प्रकरणम्॥ २॥

॥ अतिशयोक्ति॥

उल्लंघन को अतिशय कहते हैं। कहा है चिन्तामणि कोषकार ने

"अतिशयितः अतिक्रान्ते"। अतिशयित शब्द अतिक्रांत अर्थात् अतिक्रमण युक्त अर्थ में है। इस से यह सिद्ध होता है कि अतिशय शब्द का अर्थ है अतिक्रमण। अतिक्रमण तौ उल्लंघन है। यहां लोकसीमा के उल्लंघन में रूढि है

॥ दोहा ॥

लंघन सीमा लोक कौ, अतिशय जानहु भूप ॥
अतिशय की उक्ती वहै, अतिशयोक्ति कौ रूप। १।

यथाः—

॥ दोहा ॥

तोर प्रतापानल नृपति, शोषे सिन्धु जु सात ॥
पुन अरि नारन नयन के, नीरहि भरे विख्यात ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर के प्रतापानल से सातों समुद्रों का शोषित हो जाना, और फिर अरि नारी नयन नीर से उन का भर जाना, ये दोनों लोक सीमा उल्लंघन रूप वर्णन हैं, सो राजराजेश्वर के प्रतापाधिक्य रूप प्रयोजन की विवक्षा से रुचिकर होने से अलंकार है॥

यथावाः—

॥ मनहर ॥

छैला कालकूट के तचाई तेज वड़वा की,
शेष फूंक धमन प्रचंड ताहि मढ़ी है।
आई असमांन में सुभासमांन पाई सांन,
प्रलै के बुझाय पांनी पैनी धार कढ़ी है॥
हर हरि हरि के त्रिशूल चक्र पास पास,
वैरिन के वंश बधवे की विध पढ़ी है।
भूप महासिंघ के प्रतापसिंघ तेग तेरी,
वज्र के हथोरा काल कारीगर गढ़ी है॥ १ ॥

यह कवित्त जयनगराधीश महाराजा प्रतापसिंघ का किसी कवि का कहा हुआ है॥

यथावाः—

॥ सवैया ॥

गोपिन के अँसुवान के नीर,
पनारे भये फिर व्हैं गये नारे ।
नारे भये नदियां बढ़ि के,
नदियां नद व्हैं गई काट किनारे ॥
वेग चलो तो चलो व्रज में,
कवि तोख कहै व्रजराज हमारे ।
वे नद चाहत सिंधु भये,
अरु सिंधु तें व्हैं हैं जलाहल सारे ॥ १ ॥

इति तोख कवेः।

लोक सीमातिवर्तन वर्णन मिथ्या है, इसलिये दूषण होने के योग्य है, परंतु यहां रुचिकर होने से भूषण है ॥

यथाः—

अन्यमुखे दुर्वादो यः प्रियवदने स एव परिहासः ।
इतरेन्धनजन्मा यो धूमः सोऽगुरुभवो धूपः ॥ १ ॥

॥ दोहा ॥

अन मुख से दुर्वाद वह, प्रिय मुख से परिहास ।
इतरेन्धन जनम्यो धुँवां, अगरज धूप प्रकास ॥ १ ॥

वेदव्यास भगवान् का यह लक्षण है—

लोकसीमातिवृत्तस्य वस्तुधर्मस्य कीर्तनम् ।
भवेदतिशयो नाम संभवासंभवाद्द्विधा ॥ १ ॥

अर्थ—लोक सीमा का अतिवर्तन किये हुए वस्तु के धर्म के कथन का नाम अतिशय होवेगा । वह संभव और असंभव ऐसे दो प्रकार का है ॥ हमारे मत संभव असंभव ऐसे अतिशयोक्ति के दो प्रकार कहना भूल है; क्योंकि अतिशयोक्ति का स्वरूप तो लोकसीमातिवर्तन है । संभव होवेगा वहां लोकसीमातिवर्तन कैसे रहेगा ?आचार्य दंडी का यह लक्षण है:—

विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी।
असावतिशयोक्तिः स्यादलंकारोत्तमा यथा ॥ १ ॥

अर्थ–विशेष अर्थात् उत्कर्ष की जो लोकसीमातिवर्तन विवक्षा है यह अतिशयोक्ति होवेगी। यह अलंकारों में उत्तम है ॥ यह अतिशयोक्ति अनेक अलंकारों का जीवन है, इस लिये उत्तमा यह विशेषण दिया है। माहाराजा भोज दंडी के अनुसारी हैं। मीलित अलंकार नहीं कहते हुए आचार्य दंडी ने अतिशयोक्ति का ऐसा उदाहरण दिया है:—

॥ दोहा ॥

जुवति जोंन्ह में मिल गई, नेंक न होत लखाय।
सौंधे के डोरे लगी, अली चली सँग जाय ॥ १ ॥

इति विहारीसप्तशत्याम्।

हमारे मत यहां अतिशयोक्ति अलंकार नहीं, किंतु मीलित अलंकार है; क्योंकि दूर से अंधेरी रात में वहुधा श्याम वस्तु नहीं दीखती है। चांदनी रात में वहुधा श्वेत वस्तु नहीं दीखती है। और परकीयाभिसारिका की सखियों के दूरी से चलने का संभव है; क्योंकि साथ चलने में लोगों के पहिचान लेने की शंका है, इसलिये यहां लोकसीमातिवर्तन प्रधान नहीं। यत्किंचित् लोकसीमातिवर्तन तो उपमादि वहुतसे अलंकारों में रहता है ॥ सो ही कहा है अतिशयोक्ति प्रकरण में आचार्य दंडी ने भी—

अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम् ॥ १ ॥

अर्थ–वृहस्पति के मान्य, अतिशय नामवाली इस उक्ति को दूसरे अलङ्कारों का भी एक ही अवलंवन कहते हैं ॥ रुद्रट ने भी कहा है—

अर्थस्याऽलंकारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः।
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निशेषाः ॥ १ ॥

अर्थ–अर्थ के अलंकार स्वभावोक्ति, उपमा, अतिशयोक्ति, श्लेष

ये चार हैं; इन के ही विशेष संपूर्ण अलंकार होते हैं। विशेष अलंकार के प्रकरण में काव्यप्रकाशकार ने भी कहा है कि ऐसे विषय में अतिशयोक्ति ही प्राण रूप हो कर रहती है, इस के विना वहुधा अलंकार हैं नहीं। और यह प्राचीन कारिका लिखी है—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ॥
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोलंकारोऽनया विना ॥ १ ॥

अर्थ—सो यह वक्रोक्ति अर्थात् अतिशयोक्ति रूप वक्रोक्ति सर्वत्र है। इस करके अर्थ को विशेष भावना होती है, इसलिये इस अतिशयोक्ति के विषय में कवि को यत्न करना चाहिये। इस के विना कौनसा अलंकार है ?

॥ दोहा ॥

राधे मुख तैं छुट अलक, परी कपोलन आय ॥
ससि मंडल तैं मेरु सिर, लटकी भोगिनि भाय ॥ १ ॥

यहां लोकसीमातिवर्तन की कल्पना तो उपमा सिद्ध करने के लिये है, इसलिये यहां अतिशयोक्ति अलंकार नहीं; किंतु उपमा में पर्यवसान होने से कल्पितोपमा अलंकार है। धोरी का यह उदाहरण हैः—

॥ दोहा ॥

विन जल कमल जु कमल में, राजत कुवलय दोय।
यह उत्पात परंपरा, है कवन जु सखि जोय ॥ १ ॥

अभेद दृढता के लिये उपमेय को न कह कर, केवल उपमान को कहना अलंकार शास्त्र में लोकसीमातिवर्तन नहीं। अतिशयोक्ति की वहुधा अलंकारों में भावना रहती है। यह अभी स्पष्ट कर आये हैं ॥ यथाः—

॥ चौपाई ॥

को अपरहि लावण्य सिंधु यह,
तरत कमल युग सीतरस्मि सह ॥
कदली कांड मृणाल दंड तहँ,
मज्जित दुरद कुंभ सोभत जहँ ॥ १ ॥

यहां प्राचीन मत का दृढारोप रूपक और हमारे मत का दृढ

अभेद अलंकार है, अतिशयोक्ति अलंकार नहीं। सो धोरी के उक्त उदाहरण में केवल उपमान कथन अंश में लोकसीमातिवर्तन नहीं। यहां लोकसीमातिवर्तन विवक्षा तो जल के आधार विना कमल, और कमल में कुवलय, इस अलौकिक परंपरा अंश में है, सो ही कह दिया है इस काव्य में कंठ रवसे " यह उत्पात परंपरा, है कवन जु सखि जोय "। लोक में नियत स्थिति का व्यतिक्रम उत्पात सूचक होता है। यह प्रसिद्ध है। धोरी की इस विवक्षा को नहीं जानते हुए प्राचीनों ने उक्त उदाहरण से भ्रम कर केवल उपमानों के कथन अंश में अतिशयोक्ति समझी हैं॥ और प्राचीन ऐसे स्थल में अध्यवसाय कहते हैं। सर्वस्वकार ने अध्यवसाय का यह लक्षण कहा है:—

विषयनिगरणेनाभेदप्रतिपत्तिर्विषयिणोऽध्यवसायः॥

अर्थ—विषय का निगरण करके विषयी का जो अभेद ज्ञान उस को अध्यवसाय कहते हैं॥ निगरण तो निगलन है। व्याकरण रीति से रकार को लकार हुआ है। निगलना तो गिट जाना है। यहां विषय का निगलन यह विवक्षित है कि विषयी में विषय का अन्तर्भाव यहां निगलन स्फटिक कलश गत आसव न्याय से विवक्षित है। स्फटिक कलश के उदर में रहा हुआ आसव झलकता है, जैसे उपमान के उदर में रहा हुआ उपमेय यहां झलकता है। उक्त अभेद निश्चय को अलंकार शास्त्र में अध्यवसाय कहते हैं। काव्यप्रकाश गत कारिका में अतिशयोक्ति का कोई सामान्य लक्षण नहीं कहा है। इस अध्यवसाय को अतिशयोक्ति का प्रथम प्रकार मान कर यह लक्षण कहा है—

निगीर्याध्यवसानं तु प्रकृतस्य परेण यत्॥

अर्थ—परेण अर्थात् उपमान करके प्रकृतस्य अर्थात् उपमेय के निगरण से जो अध्यवसाय वह तो अतिशयोक्ति है। प्रकाशकार ने "विन जल कमल जु" इति। यही उदाहरण दिया है। अध्यवसाय स्थल में ही अतिशयोक्ति होती है, ऐसा मानता हुआ सर्वस्वकार अतिशयोक्ति का यह सामान्य लक्षण कहता है:—

अध्यवसितप्राधान्येऽतिशयोक्तिः ॥

अर्थ—अध्यवासित अर्थात् अध्यवसाय की हुई वस्तु की प्रधानता में अतिशयोक्ति है। इन का यह सिद्धान्त है, कि अध्यवसाय की सिद्ध दशा में तो अतिशयोक्ति अलंकार होता है। और अध्यवसाय की साध्य दशा में उत्प्रेक्षा अलंकार होता है। अतिशयोक्ति के उदाहरणों में तो निगलन कर चुके हैं। उत्प्रेक्षा के उदाहरणों में निगलन कर रहे हैं। अतिशयोक्ति में अध्यवसाय मानने का सर्वस्वकार का यह तात्पर्य है, कि यहां एक वस्तु को दूसरी वस्तु के उदर गत करके दूसरी वस्तु ठहरा दी जाती है, इसीलिये वास्तव वस्तु उस के उदर में झलक जाती है। जिस वस्तु से दूसरी वस्तु का निगलन कर दिया है, वह निगलन करनेवाली वस्तु वहां वास्तव में है नहीं, इसलिये लोकसीमातिवर्तन है। जैसा कि "को अपरहि लावण्य सिंधु" इति। यहां कमलादि करके मुखादि का निगलन कराया है, परंतु यहां कमलादि वास्तव न होने से उन के उदर में मुखादि झलक जाते हैं, सो इस रीति से वास्तव वस्तु का अवास्तवता से निश्चय रूप से वर्णन करना लोक सीमा से बाहिर है। उत्प्रेक्षा तो संभावना रूप अर्थात् एक कोटिक संदेह रूप होने से निश्चय रूप नहीं होती है, इसलिये वहां लोकसीमातिवर्तन नहीं। अतिशयोक्ति के पांच प्रकार मानता हुआ सर्वस्वकार केवल उपमान कथन स्थल में—

भेदे अभेदः ॥

अर्थ—भेद में अभेद॥ यह लक्षण कह कर प्रथम प्रकार मानता है, कि यहां मुखादि और चंद्रादि का भेद रहते अभेद कहना है, और ऐसा कहना लोकसीमातिवर्तन है। सर्वस्वकार ने भी "विन जल कमल जु" इति। यही उदाहरण दिया है। हमारे मत में इस प्रकार के केवल उपमान कथन में सहृदयों को लोकसीमातिवर्तन बुद्धि नहीं होती, किंतु अभेद दृढता की बुद्धि होती है। यहां सहृदयों का हृदय ही साक्षी है॥ दूसरे प्रकार का काव्यप्रकाश में यह लक्षण कहा है:—

प्रस्तुतस्य यदन्यत्वम् ।

अर्थ—जो प्रस्तुत की अन्यता ॥

यथाः—

हे उदारता धीरता, नृप जसवँत की और ।

लोक में उदारता धीरता आदि गुण जाति से सर्वत्र एक हैं, किसी प्रकार की विलक्षणता भले हो। जैसा कि मनुष्यत्व मनुष्य मात्र में एक है, विद्या आदि से विलक्षणता भले ही हो। सो यहां राजराजेश्वर की उदारता धीरता को दूसरे राजाओं की उदारता धीरता से अन्य कहना लोकसीमातिवर्तन है। सर्वस्वकार भी इस विषय को अतिशयोक्ति का दूसरा प्रकार मानता हुआ यह लक्षण कहता है—

अभेदे भेदः ।

अर्थ—अभेद में भेद ॥ उदारता धीरता गुण का जाति से अभेद रहते भेद कहा, इसलिये लोकसीमातिवर्तन है। सर्वस्व के मतानुसार यहां अध्यवसाय इस रीति से है कि यहां उदारता धीरता के अभेद का भेद करके निगलन किया है; परंतु यहां भेद वास्तव न होने से उस के उदर में उदारता धीरता का अभेद झलकता है। हमारे मत में यहां भी सहृदयों को लोकसीमातिवर्तन बुद्धि नहीं होती; किंतु अनुभयोक्ति व्यतिरेक की बुद्धि होती है। और केवल उपमान कथन में अध्यवसाय है, वैसा अध्यवसाय भी ऐसे स्थलों में नहीं। काव्यप्रकाश में तीसरे प्रकार का यह लक्षण हैः—

यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम् ॥

अर्थ—यदि अर्थ की उक्ति में कल्पना ॥

यथाः—

राका शशि अकलंक यदि, व्है तुव वदन समान ॥

यहां अतिशयोक्ति का विषय तौ राका शशी के अकलंकता की कल्पना है; परंतु हमारे मत में इस को यदि अर्थ से कहा है, अकलंकता का निश्चय नहीं किया है, इसलिये लोकसीमातिवर्तन नहीं। ऐसे विषय में संभावना अलंकार है। काव्यप्रकाश में चौथे प्रकार का यह लक्षण कहा हैः—

कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः ॥

अर्थ—जो कार्य कारण के पूर्व पश्चाद्भाव का विपर्यय ॥
यथाः—

॥ दोहा ॥

उदय भयो पीछे शशी, उदयागिरि के शृंग ।
तुव मन सागर राग की, प्रथमहि वढ़ी तरंग ॥ १ ॥

सर्वस्वकार इस को पांचवां प्रकार मानता हुआ यह लक्षण कहता हैः—

कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविध्वंसश्च ॥

अर्थ—कार्य कारणों के पूर्व पश्चात् भाव का विध्वंस भी च अर्थात् अतिशयोक्ति है ॥ सर्वस्वकार ने इस के दो भेद माने हैं। कार्य का प्रथम होना, कारण का पीछे होना, इस का तो यही उदाहरण है। "तुव मन सागर राग की"—इति । दूसरा कार्य कारण का एक समय में होना ।
यथाः—

॥ दोहा ॥

तुव महिमा कहिये कहा, तखत तनय नरनाथ ॥
अरि मंडल आक्रमण किय, सिंहासन के साथ ॥ १ ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

तुव शर ज्या अरि शिरन कों, परसत हैं इक संग ॥
वहु धनुधारी देत हैं, नृप जसवँत अतिरंग ॥ १ ॥

और कारण के ज्ञान से ही कार्य की उत्पत्ति में चंद्रालोककार चपलातिशयोक्ति नामक अतिशयोक्ति का प्रकार मानता हुआ यह लक्षण कहता हैः—

चपलातिशयोक्तिस्तु कार्ये हेतुप्रसक्तिजे ॥

अर्थ—हेतु की प्रसक्ति अर्थात् हेतु के ज्ञान मात्र से कार्य की उत्पत्ति वह चपलातिशयोक्ति अर्थात् चपलता संवंधी अतिशयोक्ति है ॥
यथाः—

तिय मुदरी कंकन भई, सुन प्रिय वचन प्रवास ॥

इन्हों ने कार्य कारण के पूर्वापरभाव के विध्वंस में और कारण के ज्ञान मात्र से कार्योत्पत्ति में लोकसीमातिवर्तन माना है। सो हमारे मत में यहां यद्यपि अतिशयोक्ति की भावना है, परंतु हेतु की विचित्रता रूप चमत्कार प्रधान होने से महाराजा भोज ने ऐसे स्थलों को विचित्रहेतु नामक हेतु के प्रकार माने हैं, सो समीचीन है। सर्वस्व के मतानुसार यहां अध्यवसाय इस रीति से है कि कार्य कारण के पूर्वापरभाव का कार्य कारण के पूर्वापरभाव के विध्वंस करके निगलन किया है, परंतु उक्त विध्वंस वास्तव न होने से उस के उदर में उक्त पूर्वापरभाव झलकता है। यहां भी केवल उपमान के कथन जैसा अध्यवसाय नहीं है। सर्वस्वकार ने तीसरे प्रकार का यह लक्षण कहा है:—

संबन्धेऽसंबन्धः॥

अर्थ— संबंध रहते असंबंध कहना।

यथाः—

॥ दोहा ॥

पुष्पाकर किधुं पुष्पशर, रची कहत सब लोग॥
जरठ रु वेदाभ्यास जड़, विधि नहिं रचिवे जोग॥ १॥

यहां ब्रह्मा में समस्त सृष्टि रचना का संबंध रहते असंबंध कहा है। सर्वस्व के मतानुसार यहां अध्यवसाय इस रीति से है कि उक्त संबंध का उक्त असंबंध करके निगलन किया है, परंतु उक्त असंबंध वास्तव न होने से उस के उदर में उक्त संबंध झलकता है। हमारे मत में ऐसा संबंध रहते असंबंध अतिशयोक्ति अलंकार होने के योग्य नहीं इस उदाहरण में अलंकार तो उत्प्रेक्षा है, अतिशयोक्ति की नांई यहां आक्षेप भी है, परंतु उत्प्रेक्षा की प्रधानता होने से यहां उत्प्रेक्षा ही अलंकार है। और यहां भी अध्यवसाय वैसा नहीं है। अतिशयोक्ति के चौथे प्रकार का सर्वस्वकार ने यह लक्षण कहा है:—

असंबन्धे संबन्धः॥

अर्थ— असंबंध रहते संबंध कहना।

यथाः—

सौध शिखर जसवंत के शशि मंडल परसंत ॥

यहां सौधों में शशि मंडल स्पर्श का असंबंध रहते संबंध कहा है। सर्वस्वकार के मतानुसार यहां अध्यवसाय इस रीति से है कि उक्त असंबंध का संबंध करके निगलन किया है। परंतु उक्त संबंध वास्तव न होने से उस के उदर में असंबंध झलकता है। हमारे मत से भी इस उदाहरण में लोकसीमातिवर्तन प्रधान होने से अतिशयोक्ति अलंकार है, परंतु असंबंध रहते संबंध कहना इत्यादि प्रकारांतर करने के योग्य चमत्कार नहीं, उदाहरणांतर भलें ही कहो। और यहां भी अध्यवसाय वैसा नहीं ॥ दीक्षितादि प्राचीन काव्यप्रकाश और सर्वस्व के अनुसारी हैं ॥

इति अतिशयोक्ति प्रकरणम् ॥ ३ ॥

अतुल्ययोगिता।

वक्ष्यमाण तुल्ययोगिता अलंकार के विपरीत भाव में अतुल्ययोगिता अलंकार क्रम से लखा गया है। तुल्ययोग शब्द का अर्थ है तुल्यों का योग वह तो सम अलंकार का विषय है। यहां तुल्य धर्म का योग हो जाने में तुल्ययोगिता शब्द की रूढि है। तुल्ययोग तुल्ययोगिता एक ही है। उक्त तुल्ययोग न होवे वहां अतुल्योगिता अलंकार है। जैसा कि तद्गुण के विपरीत भाव में अतद्गुण अलंकार इत्यादि ॥

॥ चौपाई ॥

तुल्ययोगिता जहां न होई,
जांन अतुल्ययोगिता सोई ॥
प्राचीनन दिग दर्शन भूपति।
अलंकार यह हू है मम मति ॥ १ ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

मेघ माल जल अल्प दें, विरल जु फल तरु पंत ॥
कलि प्रभाव कम दांन में, भयो न नृप जसवंत ॥ १ ॥

राजराजेश्वर दान में कम न हुआ, इस कथन से अन्य राजाओं का दान में कम होना अर्थ सिद्ध है। कलि के प्रभाव से मेघमाला भी जल अल्प देती है। तरु भी फल विरल देते हैं। अन्य राजा भी दान कम देते हैं। यहां कलियुग निमित्त से मेघमालादि के साथ राजराजेश्वर में भी समयानुसार दान की कमी के तुल्ययोग का संभव रहते तुल्ययोग न होना अतुल्ययोगिता अलंकार है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

थक वजाज अरजां थकी, लिख लिख थका वकील ॥
तूं नह थाको तखतसी, दे दुपटा मंदील ॥ १ ॥

इति पितुः कविराज भारतीदानस्य ॥

यथावाः—

॥ मनहर ॥

चले चंद्र वांन घन वांन अहो कोक वांन,
चलत कवांन आसमांन धूंम छै रह्यो।
चली जम डाढ़ें समशेर चली चले सेल,
ग्रीषम को तरणि तमा सो आय ज्वै रह्यो ॥
ऐसी समै माधो के मुकुंद नें चलाये हाथ,
अरि न चलाये पाय भारत वितै रह्यो।
हय चले हाथी चले संग तज साथी चले,
ऐसी चलाचल में अचल हाडा ह्वै रह्यो ॥ १ ॥

इति कस्यचित्कवेः ॥

धोरी ने सम के विपरीतभाव में विषम, तद्गुण के विपरीत भाव में अतद्गुण इत्यादि दिक् प्रदर्शन किया है। उस के अनुसार हम ने अतुल्ययोगितादि अलंकार दिखाये हैं। तुल्ययोगिता में हेतु अलंकार नहीं, वैसे अतुल्ययोगिता में विशेषोक्ति अलंकार नहीं; क्योंकि यहां कार्य कारण भाव में तात्पर्य नहीं किंतु अतुल्ययोग में तात्पर्य है।

इति अतुल्ययोगिता प्रकरणम् ॥ ४ ॥

अधिक ॥

अधिक शब्द का अर्थ तो प्रसिद्ध है। सो वस्तु की अधिकता रुचिकर होवे वहां अधिक अलंकार है ॥

॥ चौपाई ॥

जिह तिह विध वस्तू अधिकाई,
अधिक अलंकृत नृप सुखदाई ॥
परिमाणादिक तैं जु निहारा,
होत जु यहै अनेकप्रकारा ॥ १ ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

जिन भावत सब जगत में, जे गुन गन जसवंत ॥
ते मरुपति तुव मनहि में, सुख सौं वसे लसंत ॥ १ ॥

उक्त रीति से यहां राजराजेश्वर के मन की विशालता के विषय में अधिकाई अर्थात् महत्ता की प्रतीति होने से अधिक अलंकार है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

अति विशाल हरि हृदय कों, तन्वी पूरन कीन ॥
अन्य सपत्नी के लिये, यातें ठौर रहीन ॥ १ ॥

यहां हरि के विशाल हृदय को पूरन करने से तन्वी के लावण्यादि गुणों के विषय में अधिकता अर्थात् वहुतपन की प्रतीति होने से अधिक अलंकार है ॥ और तन्वी हो कर तीन लोक जिस के हृदय में हैं ऐसे हरि के हृदय को उक्त रीति से पूर्ण किया यह विचित्र की संकीर्णता भी है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

सबन सराहे जनकपुर, रघु कुमार भुजदंड ॥
चंद्रचूड़ धनु भंग ध्वनि, किय पूरन व्रहमंड ॥ १ ॥

धनुष भंग ध्वनि अल्प होती है। चंद्रचूड़ धनुषभंग ध्वनि का अन्य धनुर्भंग ध्वनि की अपेक्षा उक्त आधिक्य होने से अधिक अलंकार है ॥

यथावाः—

॥ सवैया ॥

रावरो प्रादुरभाव निरंतर,
है सब ही जग कों सुख रासी।
चंद की मंदता वीच दुचंद व्है,
कीरति श्वेतता भूरि विकासी ॥
रांन फता तुव जन्महि नें,
यह कैसी अपूरब वात निकासी।
ही द्वितिया यह औषधि पोषक,
सो नर पोषक हू व्हैं प्रकासी ॥ १ ॥

इति शाहपुरा निवासी चारण सोदा वारहठ कृष्णसिंहस्य ॥

यहां शुक्ल द्वितीया की पोषकता रूप गुण के विषय में संख्या की अधिकाई होने से अधिक अलंकार है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

तुम कहि बोलत मुद्रिके, मूंन होत यह नांम ॥
कंकन की पदवी दई, तुम विन या कँह रांम ॥ १ ॥

इति केशवकृत रामचन्द्रिका भाषा ग्रंथे।

अशोक वन में हनूमान ने सीता को रामचंद्र की मुद्रिका निशानी के लिये दी, तहां मुद्रिका प्रति सीता ने पूछा। "है कुशल मुद्रिके राम गात"। तब हनूमान ने कहा है "तुम कहि बोलत मुद्रिके" इति।

यहां मुंदरी के पदवी के विषय में अधिकता होने से अधिक अलंकार है ॥

यथावाः—

॥ चौपाई ॥

प्रति राक्षस करत जु जुध कांमाहिं,
देखे उन जु अनेक सु रांमाहिं ॥

यहां राक्षस राक्षस प्रति युद्ध करते हुए एक ही रामचन्द्र को उन राक्षसों ने अनेक करके देखा यह भी रामचन्द्र के संख्या की अधिकाई से अधिक अलंकार है।

यथावाः—

॥ दोहा ॥

तन नामें वैराग्य दृढ तत्थइ ज्ञान उदोत ॥
आ आरत अनुराग की, गत ही में गत होत ॥ १ ॥

इति जोधनगराधीश राजराजेश्वर मानसिंहस्य ॥

यहां भी संगीत रूप गति में मोक्ष रूप गति का भी लाभ होना संख्या की अधिकता से अधिक अलंकार है ॥ अधिक में चारुता लाने के लिये प्रयत्न करते हुए काव्य प्रकाश गत कारिका कार ने यह लक्षण कहा है—

महतोर्यन्महीयांसावाश्रिताश्रययोः क्रमात् ॥
आश्रयाश्रयिणौ स्यातां तनुत्वेप्यधिकं तु तत् ॥ १ ॥

अर्थ–जो सूक्ष्म रहता हुआ भी आश्रय और आश्रयी क्रम से महत् आश्रयी और आश्रय का संबंध होने से महत् हो जावे अर्थात् जाना जावे वह अधिक अलंकार "जिन मावत सव जगत में" इति। यहां सूक्ष्मता से प्रसिद्ध मन रूप आश्रय महत् गुण गण रूप आश्रयी का संबंध होने से महत् प्रतीत होता है, इसलिये यहां अधिक अलंकार है।

॥ दोहा ॥

तीन लोक हरिउदर मझ, मावत ताहि मझार ॥

आनँद नारद आगमन, मावत नांहिँ निहार ॥ १ ॥

यहां इतनी महत्ता से प्रसिद्ध नहीं भया हुआ उक्त आनंद रूप आश्रयी हरि उदर रूप महत् आश्रय का संबंध होने से अति महत् प्रतीत होता है। इस रीति से यहां अधिक अलंकार है। ऐसे उदाहरणों में तो प्रकाशकार के लक्षणों की संगति हो जाती हैं। परंतु हमारे दिखाये हुए "प्रति राक्षस करत जु जुध" इत्यादि उदाहरणों में अव्याप्ति होती है; क्योंकि इन उदाहरणों में आश्रयाश्रयी भाव संबंध नहीं है। साहित्य शास्त्र में रोचकता की कसोटी सहृदयों का हृदय ही है। और कोई निमित्त नहीं है। और यहां चारुता का ग्रहण अलंकार नाम से ही हो जाता है, इसलिये प्राचीनों का यह प्रयत्न व्यर्थ है। सर्व संग्राहक धोरी का नाम रूप लक्षण ही समीचीन है। प्राचीनों ने लभ्य उदाहरणानुसार ये लक्षण बनाये हैं, परंतु उदाहरण एक ही प्रकार के नहीं होते हैं। सर्वस्व का यह लक्षण हैः—

आश्रयाश्रयिणोरनानुरूप्यमधिकम् ॥

अर्थ—आधाराधेयों की विरूपता अर्थात् आश्रय से आश्रयी अधिक होवे, आश्रयी से आश्रय अधिक होवे सो अधिक॥ विमर्शनीकार कहता है कि विरूपता तो विषम में भी है, परंतु वहां तो उन पदार्थों के मिलने से पहिले भी उन की विरूपता स्वभाव सिद्ध है। और यहां अधिक में तो न्यूनाधिकभाव आपस की अपेक्षा से सिद्ध होने से दोनों का मिलाप करने से ही विरूपता सिद्ध होती है॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

जगत आदि के जलहि में, बुद बुद इव ब्रहमंड ॥
जिस जल में नहिँ माय है, जस जसवंत प्रचंड ॥ १ ॥

यहां संसार के आदि का जल रूप आश्रय ब्रह्मांड रूप आश्रयी से अधिक है। और जगत आदि के जल रूप आश्रय से राजराजेश्वर का जस रूप आश्रयी अधिक है। यहां दोनों का मिलाप करने से विरूपता सिद्ध होती है। पूर्वोक्त खंडन से यह लक्षण भी खंडित है॥

यथावाः—

॥ सवैया ॥

आयो कलकत्ते पत लंदन दिली को भुज,
पूजिवे वुलायो त्यौंही वाके मन भायो तूं ।
भनत मुरार जान्यो ढाल छित छत्रिन नैं,
माल महिपाल को सुमेर दरसायो तूं ॥
साहसी सपूत कौंन तो सौ जसवंत आज,
राज पाय तुरत पिता को पद पायो तूं ।
मारू नरनाह सव करत सराह पात,
साह की सभा में वाह वाह वाज आयो तूं ॥ १ ॥

माला के मनकों में सुमेरु अधिक है । वैसे ही महीपाल माला में राजराजेश्वर अधिक हैं ।

यथावाः—

॥ छंद नीशानी ॥

के लग्गै गोडां कनैं, के लग्गै कम्मर ॥
महाराजा अजमालरै, नँह कोय वरावर ॥ १ ॥

इति कस्यचित्कवेः ॥

कुवलयानंदकारादि प्रकाशकार के अनुसारी हैं । और रत्नाकर-कार आदि सर्वस्व के अनुसारी हैं । व्यतिरेक में भी कहीं उपमेय में आधिक्य होता है, परंतु वहां पृथक् करण रूप चमत्कार उद्धर कंधर होने से व्यतिरेक अलंकार होता है । "प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति । इति न्यायात् " ॥ अधिक शब्द का व्यवहार लोक विलक्षणता में और महत्ता में है, सो इन दोनों में अधिक अलंकार मानता हुआ रुद्रट महत्ता का तौ लक्षण उदाहरण काव्यप्रकाश के अनुसार कहता है । और विलक्षणता के उस ने ये लक्षण उदाहरण कहे हैं ।

यत्रान्योन्यविरुद्धं,
विरुद्धवलवतक्रियाप्रसिद्धं वा ॥
वस्तुद्वयमेकस्मा-

ज्जायत इति तद्भवत्यधिकम् ॥ १ ॥

अर्थ—जहां आपस में विरुद्ध अथवा विरुद्ध वलवान् क्रिया करके प्रसिद्ध ऐसी दो वस्तु एक से उत्पन्न होवें, इस प्रकार वहां अधिक अलंकार होता है ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

ज्वलत अनल जल मेघ यह, वरसत अचरज एह ॥
सागर से उत्पन्न भे, विष अमृत लख लेह ॥ १ ॥

यहां ज्वलत् अनल से विद्युत् की विवक्षा है अनल और जल आपस में स्वभाव से विरोधी हैं। अनल जल को नष्ट करनेवाला है। जल अनल को नष्ट करनेवाला है। इन का एक मेघ से उत्पन्न होना यह आधिक्य है, अर्थात् विलक्षणता है। विष और अमृत मारने जिलाने की विरुद्ध क्रिया करनेवाले दोनों की एक समुद्र से उत्पत्ति यह आधिक्य अर्थात् विलक्षणता है, विष अमृत अनल जल की नांई आपस में विरुद्ध नहीं; किंतु इन की मारने जिलाने की क्रिया आपस में विरुद्ध है। हमारे मत में यह रुद्रट की भूल है। यहां लोक विलक्षणता तो विचित्रता रूप है, सो विचित्र अलंकार आगे कहा जायगा। विचित्र अलंकार का संग्रह अधिक के नाम से करना समीचीन नहीं; क्योंकि विचित्र अर्थ में अधिक शब्द प्रसिद्ध नहीं। और विचित्र अनेक प्रकार से होता है। जिस का उक्त विशेष में नियम करना भी समीचीन नहीं किसी प्राचीन ने यह उदाहरण अधिक अलंकार का इस तात्पर्य से दिया है कि जल वरसनेवाले जलद ने अग्नि को भी वरसा, सो यहां एक नियत जल वस्तु से दूसरी वस्तु अग्नि का वरसना संख्या से अधिक है। ऐसे ही अमृत के साथ समुद्र से दूसरा विष भी उत्पन्न हो गया, यह भी वस्तु की संख्या से अधिकता है, सो भ्रम से रुद्रट ने सइ उदाहरण का तात्पर्य विस्मय समझ करके यह लक्षण कहा है।

इति अधिक प्रकरणम् ॥ ५ ॥

अनवसर ।

वक्ष्यमाण अवसर के विपरीत भाव में अनवसर अलंकार हम से लखा गया है ॥ अवसर नाम मोके का है ॥

॥ दोहा ॥

है जु अनवसर तित कहत, सुकवि अनवसर नांम ।
यह तुम कों अप्रिय तदपि, सुन जसवँत जस धाम ॥ १ ॥

यथाः——

॥ चौपाई ॥

आय संदेसौ सेना आई,
मरु वीरन शर वृष्टि वताई ॥
तव लों पियन संधि मन भाई,
वन वस चहत सु कवन भलाई ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर के शत्रु स्त्रियों की निज स्वामी प्रति उक्ति है, कि संदेशा हुआ इत्यादि समय संधि का अवसर था, तव तौ न करी, अव राज्य भ्रष्ट हो कर वनवास दशा में संधि को चाहना अनवसर है । यह मन रंजन होने से अलंकार है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

गये विदेसन वंधु सव, तरुनी तज्यो सनेह ॥
कृपि नाशी पशु मर गये, दूध न वरसहु मेह ॥ १ ॥

इति महाकवि रोहड़िया चारण नरहरदास कृत अवतारचरित्र भाषा ग्रंथे ।

यथावाः——

॥ दोहा ॥

अमल छतें उघरी नहीं, पलक घरी अरु जांम ॥
अँखियें अमल तगीरकी, अव उघरी किंह कांम ॥ १ ॥

इति कस्यचित्कवेः ।

इति अनवसर प्रकरणम् ॥ ६ ॥

अनुज्ञा ॥

यहां अनु उपसर्ग का अर्थ है अनुकूल ज्ञा धातु ज्ञान अर्थ में है। अनुज्ञा इस शब्द समुदाय का अर्थ है अनुकूल ज्ञान। कहा है चिंतामणि कोपकार ने भी "अनुज्ञा अनुमतौ"। अनुमति अनुकूल मति यहां अंगीकार में रूढि है, अंगीकार योग्य के अंगीकार में तो कुछ भी चमत्कार नहीं। अनंगीकार योग्य का अंगीकार चमत्कारकारी होता है। और ऐसा अंगीकार किसी निमित्ति से ही होता है। इसलिये ऐसे अंगीकार विशेप में यहां अनुज्ञा शब्द की रूढि है ॥

॥ दोहा ॥

जोग अनंगीकार कौ, अंगीकार नरेस ॥
ह्वै कौन हू निमित्त सौं, वह अनुज्ञा शुभ वेस ॥ १ ॥

यथा:--

॥ मनहर ॥

द्वारपाल लकुटी सौं मुकुट महीपन के,
देखियैं अनेक गैंद जैसे नाचियतु है।
संचरत संकित सौ सिंधुदेश* बादशाह,
ऐसो मरुनाथ राजद्वार राचियतु है।
सादर प्रवेस ह्वै मुरार कविराज जहां,
समुख समीप बैठि कीत वाचियतु है।
सार मांन श्रेष्ठ सनमांन जसवंत तेरो,
जुग जुग जाचक कौ जन्म जाचियतु है ॥ १ ॥

* सिंधदेश की राजधानी हैदराबाद के बादशाह अवदुननवी के वज़ीर मीर नसीरखां ने अव दुननवी का राज छीन लिया तव वे महाराजा श्रीविजैसिंघजी के शरण आ गये जव से उन के वंश के जोधपुर में हैं। उन को वहुतसी जागीर दे रक्खी है। और महाराजा साहिव उन को अपने वरावर अर्द्धासनपर विठलाते हैं ॥

जाचक जन्म जगत् में अनंगीकार योग्य है जिस का यहां अंगीकार है। और इस अंगीकार में निमित्त राजराजेश्वर का उक्त श्रेष्ट सन्मान है। अनंगीकार योग्य का अंगीकार किसी गुणके लेश से होता है, तथापि अनंगीकार योग्य का अंगीकार रूप चमत्कार प्रधान होने से यहां अलंकार तो अनुज्ञा ही होगा। न कि वक्ष्यमाण लेश अलंकार। चंद्रालोक का यह लक्षण हैः—

दोपस्याभ्यर्थनानुज्ञा तत्रैव गुणदर्शनात् ॥

अर्थ– तत्रैव अर्थात् दोप में ही गुण देखने से दोप की अभ्यर्थना अर्थात् याचना सो अनुज्ञा अलंकार ॥ कुवलयानंद के अनुसारी रसगंगाधरकार का यह लक्षण हैः—

उत्कटगुणविशेपलालसया दोपत्वेन प्रसिद्धस्यापि वस्तुनः प्रार्थनमनुज्ञा ॥

अर्थ— गुण विशेप की अर्थात् किसी गुण की उत्कट अर्थात् अत्यंत लालसा से दोप करके प्रसिद्ध भी वस्तु की प्रार्थना सो अनुज्ञा ॥

यथाः—

होहु विपत जा में सदा, हिये चढत हरि आंन ॥

ऐसे प्रार्थना रूप अंगीकार के उदाहरणों से भ्रम करके चंद्रालोक के कर्ता ने लक्षण में अभ्यर्थना ऐसा नियम कहा है। उस के अनुसार दूसरों ने भी कहा है, सो भूल है। क्योंकि अंगीकार तो सामान्य है। प्रार्थनादि उसके विशेप हैं ॥ इस लिये अप्रार्थना वाले उदाहरणों में अव्याप्ति होती है।

यथाः—

॥ दोहा ॥

धन गरीब की नार वह, सोवत वंदत चंद।
धिक् धनाढ्यता जहां लगै, कोट कपाटन दंद ॥ १ ॥

इति कस्यचित्कवेः।

कपाट हीन घर अनंगीकार योग्य है जिसका यहां अंगीकार है

और इस अंगीकार में निमित्त मित्र मिलाप कीसुगमता है, स्तुति आर्थ अंगीकार है, यहां प्रार्थना नहीं। उत्तरार्ध में अनुज्ञा का विपरीत भाव है; क्योंकि धनाढ्यता लोक में अंगीकार के योग्य है, जिस का यहां अनंगीकार है। इस को रसगंगाधरकार ने तिरस्कार नामक अलंकार कहा है, सो आगे दिखाया जायगा और लभ्य उदाहरणानुसार लक्षण में कहा है कि "गुण जानकरके" सो यह भी नियम करना प्राचीनों की भूल है क्योंकिः—

जगत विनाशक जांन जिय, गरल पांन किय ईश ॥

यहां अव्याप्ति होवेगी। यहां तौ अनंगीकार योग्य विष के अंगीकार में विष की जगत् विनाशकता दोष ही निमित्त है, इसलिये धोरी का सर्व संग्राहक नामरूप लक्षण ही समीचीन है ॥

इति अनुज्ञा प्रकरणम् ॥ ७ ॥

अन्योन्य।

अन्योन्य शब्द का अर्थ है परस्पर। कहा है चिंतामणि कोषकार ने "अन्योन्यं परस्परार्थे"।

॥ दोहा ॥

नृप जसवँत अन्योन्यता, अन्योन्यालंकार।
उपकारादिक सौं यहै, होत ज़ु बहुत प्रकार ॥ १ ॥

अन्योन्यता अर्थात् परस्परपन उस का जहां वर्णन है, तहां अन्योन्य अलंकार।

यथाः—

॥ दोहा ॥

जसवँत सौं शोभत जगत, जग सौं नृप जसवंत।
शशि सौं गगन रु गगन सौं, शशि शोभा धारंत ॥ १ ॥

ऐसा परस्पर उपकार का उदाहरण मिलने से महाराजा भोज ने उस के अनुसार यह लक्षण कहा हैः—

अन्योन्यमुपकारो यस्तदन्योन्यं त्रिधा च तत्।

वाच्यं प्रतीयमानं च तृतीयं तूभयात्मकम् ॥ १ ॥

अर्थ—जो परस्पर उपकार सो अन्योन्य ॥ वह तीन प्रकार का है। वाच्य १ प्रतीयमान २ और तीसरा उभयात्मक अर्थात् वाच्य और प्रतीयमान दोनों ॥ चंद्रालोक आदि इन के अनुसारी हैं।

॥ दोहा ॥

शब्द सु शोभा अर्थ की, देत बढ़ाय निहार।
त्यों हीं शोभा शब्द की, बढ़वत अर्थ मुरार ॥ १ ॥

ऐसा उत्कर्ष विषयक उदाहरण मिलने से भानुदत्त ने यह लक्षण किया हैः—

परस्परमुत्कर्षजननमन्योन्यम् ॥

अर्थ—परस्पर उत्कर्ष उत्पन्न करे वह अन्योन्य अलंकार ॥ रूप और धर्म विषयक उदाहरण मिलने से रत्नाकरकार ने यह लक्षण किया हैः—

रूपधर्मयोः परस्परनिबंधत्वमन्योन्यम्।

अर्थ—रूप और धर्म का परस्पर निबंधन अर्थात् संबंध अन्योन्य अलंकार है। स्वरूप का यह उदाहरण दिया हैः—

यथाः—

धन से प्रज्ञा होत है, प्रज्ञा से धन होत ॥

यहां प्रज्ञा और धन किसी का धर्म करके विवक्षित नहीं हैं किंतु धर्मी करके ही विवक्षित हैं, इसलिये यह स्वरूप का उदाहरण है। धर्म का ऐसा उदाहरण दिया हैः—

॥ वैताल ॥

हय खुरन सों उठ रेनु घोर, अँधेर भो उज्जीन,
वह वेर भट जसवंत के, यह कृत्य अद्भुत कीन ॥
इक दूसरे पहिचान अपने, हने वीर विपच्छ,
अवरंगजेब जु उच्चरयो, रठौर है रन दच्छ ॥ १ ॥

यहां वीररूप धर्मियों में पहिचानने रूप धर्म की अन्योन्यता है। भानुदत्त वृत्ति में लिखता है कि उत्कर्ष यह उपलक्षण है। वैर स्पर्धादि-

क भी जान लेने चाहिये। सो इस साहित्य शास्त्र में उपलक्षणता का अंगीकार है, तथापि हमारे मत में नामार्थ रूप सर्वव्यापी धोरी का लक्षण स्पष्ट रहते उत्कर्षादि विशेष कह कर फिर उस को उपलक्षण ठहरा करके परस्पर स्पर्द्धादि का संग्रह करना वृथा परिश्रम है। ऐसे विषय में कहावत भी हैः—

प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ॥
पंक पखारन सौं भलो, वाको अपरस मित्त ॥

अन्योन्यता अनेक प्रकार की होती है।

यथाः—

॥ दोहा ॥

करत कपोलन असित मद, तुव जस करत जु श्वेत ॥
लखि यह हठ निज दुरद प्रति, देवेश्वर हस देत ॥ १ ॥

यहां मद और जस का परस्पर हठ हैः—

॥ दोहा ॥

आवत अलि शुक चंचु पर, जांन जु कुसुम पलास ॥
शुक पकरन इच्छा करत, जांन जंबु फल जास ॥ १ ॥

अन्योन्य अलंकार को नहीं कहते हुए आचार्य दंडी ने इस को अन्योन्यभ्रांति ऐसा भ्रांति का प्रकार कहा है, परंतु अन्योन्य अलंकार माना जावे, तब यह अन्योन्यभ्रांति ऐसा अन्योन्य का प्रकार है; क्योंकि यहां अन्योन्यता का चमत्कार प्रधान हो करके रहता हैः—

॥ चौपाई ॥

नीरधि नभ नभ नीरधि भौ भल,
बड़वानल रवि रवि बड़वानल ॥
पुच्छोच्छालन मीन शरीरा,
हरि जसवंत हर हु नित पीरा ॥ १ ॥

यहां अन्योन्य परिणाम है। ऐसा मत कहो कि ऐसा है तौ दंडी की अंगीकार की हुई अन्योन्योपमा को तुम ने ही उपमा का प्रकार क्यों कहा, अन्योन्य का प्रकार कहना चाहिये था? क्योंकि

परस्पर भ्रांति इत्यादि में तो अन्योन्यता का चमत्कार प्रधान है, और अन्योन्योपमा स्थल में प्रसिद्ध उपमान की उपमा से सादृश्य का निर्णय सिद्ध होते रहते फिर उस उपमेय की उपमा उपमान को करने में अन्योन्यता चमत्कार में पर्यवसान नहीं, उस का प्रयोजन तो परस्पर तुला न्याय से सादृश्य का दृढ निर्णय करना है, इसलिये वहां उपमा में ही पर्यवसान होने से वह उपमा का ही प्रकार है। काव्यप्रकाश में यह लक्षण है:—

क्रियया तु परस्परं वस्तुनोर्जननेऽन्योन्यम् ॥

वृत्ति में इस का अर्थ कहा है:—

अर्थयोरेकक्रियामुखेन परस्परं कारणत्वे सति अन्योन्य-नामालंकारः ॥

अर्थ—दो अर्थों की एक क्रिया द्वारा परस्पर कारणता होवे वहां अन्योन्य नाम अलंकार।

यथाः—

दोहा

सर सौं फैलत हंस श्री, हंसन सर श्री मित्त ॥

यहां सरोवर और हंस दोनों की शोभा फैलाने रूप एक क्रिया द्वारा परस्पर कारणता है। सर्वस्वकारादि काव्यप्रकाश के अनुसारी हैं। अन्योन्य शब्द का परस्पर इतना मात्र अर्थ करने से इस अलंकार का स्वरूप स्पष्ट होते रहते सब का गौरव व्यर्थ है। और "इक दूसरे पहिचान अपने हने वीर विपच्छ"। इस गुण की अन्योन्यता में अव्याप्ति होती है। ज्ञान को न्याय शास्त्र में गुण कहा है। विलंब से भी अन्योन्यता हम से देखी गई है।

यथाः—

॥ मनहर ॥

सकल सिँगार साज साथ ले सहेलिन कौं,
सुंदरि मिलन चली आनँद के कंद कौं।
कवि मतरांम बाल करत मनोरथन,

देख्यौ परजंक पै न प्यारे नंद नंद कों ॥
नेह तैं लगी है देह दाहन दहन गेह,
बाग के विलोक द्रुम बेलिन के वृंद कों।
चंद कौ हसत तब आयो मुख चंद अब,
चंद लाग्यो हसन तिया के मुख चंद कों ॥ १ ॥

इति रसराज भाषा ग्रंथे।

यहां अन्योन्य अपकार है। और अन्योन्य अपकार में विलंब है। एक समय में नहीं है, तथापि अन्योन्यता का चमत्कार वैसा का वैसा अनुभव सिद्ध है। महाराजा भोज ने "अन्योन्यचूड़िका" नामक अन्योन्य अलंकार का प्रकार मान कर ऐसा उदाहरण दिया है:—

॥ चौपाई ॥

शशि सौं निशा निशा सौं शशि भल,
शशि रु निशा सौं शोभत नभ थल।
कवि सौं सभा सभा सौं कवि वर,
दोन्यों सौं जसवंत नरेश्वर ॥ १ ॥

चूड़िका न्याय इस प्रकार है, कि स्त्री के हाथों में चूड़िका का समुदाय होता है, और वे चूड़िकायें आपस में उत्तरोत्तर संबंध रखती हैं, जैसे यहां भी अन्योन्य ने आगे संबंध किया है। हमारे मत में ऐसा प्रकार तौ बन सकता है, परंतु चूड़िका तौ परस्पर सजातीय होती हैं। उक्त उदाहरण में अन्योन्य का संबंध आगे अन्योन्य में नहीं। "कवि सौं सभा सभा सौं कवि वर" यह तौ अन्योन्य है। और "इन दोनों से राजराजेश्वर शोभता है" यह हेतु अलंकार है, इसलिये सजातीयता से अन्योन्यचूड़िका न्याय यहां घटता नहीं। उक्त न्याय घटने के लिये हम दूसरी रचना करते हैं:—

॥ चौपाई ॥

कवि सौं सभा सभा सौं कवि वर,
दोन्यों सौं जसवंत नरेश्वर।

जसवँत से ये दोन्यों राजत,
सुन यह कथा सुरेश्वर लाजत ॥ १ ॥

अन्योन्य करने में यथायोग्यता भी है, तथापि परस्पर करने का चमत्कार प्रधान होने से अलंकार तौ अन्योन्य है, न कि सम । और सम के अंश विना भी अन्योन्य होता है । यथाः-"हय खुरन सौं" इति । यहां एक दूसरे को आपस में पहिचानने में यथायोग्यता नहीं है । और अन्योन्य के अंश विना सम होता है ।
यथाः--

॥ सवैया ॥

माखन सौ मन दूध सौ जोबन,
है दधितें अधि की उर ईठी* ।
जा मुख आगे छपाकर छाछ,
समेत सुधा वसुधा सब सीठी† ॥
नैंनन नेह चुवैं कवि देव,
बुझावत वैंन वियोग अँगीठी ।
ऐसी रसीली अहीरी यहै,
कहो क्यौं न लगैं मनमोहनैं मीठी ॥ १ ॥

यहां अहीरी को उसी के उपस्कर की उपमा यथायोग्य होने से अन्योन्य के अंश विना सम अलंकार है ॥

इति अन्योन्य प्रकरणम् ॥ ८ ॥

अपन्हुति ॥

"न्हुङ्" धातु से अपन्हुति शब्द बना है । "न्हुङ्" धातु अपन्हव अर्थ में है । कहा है धातुपाठ में "न्हुङ् अपन्हवे" यहां अप उपसर्ग है । "न्हु" धातु से भाव में "अप्" प्रत्यय होने से "अपन्हव" शब्द, और "क्तिन्" प्रत्यय होने से "अपन्हुति" शब्द बना है । दोनों

* मित्रता † उच्छिष्ट.

शब्दों का अर्थ एक है। यहां अपन्हव का अर्थ है गोपन। कहा है चिंतामणिकोषकार ने "गोपनमपन्हवे"।

॥ दोहा ॥

होत अपन्हव तिंह कहत, सुकवि अपन्हुति नांम ॥
भूषन भूषन भूमि के, सुन जसवँत जस धांम ॥ १ ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

सारद ससि नांहिं सुंदरी, उदयो जस जसवंत ॥
अंक न संग रही जु लग, भिच्छुक जन की पंत ॥ १ ॥

शास्त्र में श्रेष्ट वस्तु का वर्ण श्वेत कहा है। अश्रेष्ट वस्तु का वर्ण श्याम कहा है। उस के अनुसार हम ने भिन्तुकों का वर्ण श्याम कहा है। यहां नायिका की विरह दशा में शशी उद्दीपन है, इसलिये सखी ने उस को राजराजेश्वर का जस वतला कर छुपाया है। राजराजेश्वर के जस में कोई दाग नहीं है। और चंद्र में दाग है, इसलिये यह शंका मिटाने को कलंक को भिन्तुकों की पंक्ति वतला कर छुपाया है॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

आयें पावस आय है, अवस विदेसी धांम ॥
कदँब न फूले उड वसे, तरु डारन वस धांम ॥ १ ॥

वर्षागम में कदंब फूलते हैं। वर्षा ऋतु उद्दीपन है, इसलिये सखी ने विरहिणी नायिका से कदंबों के फूलने को उक्त रीति से छुपाया है।

यथावाः—

॥ सवैया ॥

नांहिं यहै नभ मंडल मंडित,
सोहत अंबुनिधी अति कायक।
नांहिं यहै उड वृंद अमंद जु,

फेनन बुंद फबैं सुख दायक ॥
नांहिं अखंडल इंदु को मंडल,
कुंडलाकार फनीन को नायक।
नांहिं कलंक को अंक यहै,
सखि सोवैं मुरार मुरार सहायक ॥ १ ॥

यहां भी सखी ने विरहिणी से चंद्र को छुपाया है।

यथावाः—

॥ सवैया ॥

ए न घटा तन आन सभै भट,
ए न छटा चमकै छहरारी।
गाजै न वाजत दुंदुभी ए,
बक पंत नहीं गज दंत निहारी ॥
ए न मयूर जु बोलत हैं।
विरदावत मंगन के गन भारी।
ए नहिं पावस काल अली,
अभमाल अजावत की असवारी ॥ १ ॥

इति कविया चारण कविराज करनीदांनस्य ॥

यहां भी तादृश मेघागम उद्दीपन को जोधपुराधीश की सवारी बतला कर विरहिणी नायिका से सखी ने छुपाया है। धोरी का यह उदाहरण है—

॥ दोहा ॥

ससि में अंक कलंक को, समुझहु जिन सदभाय।
सुरत श्रमित निस सुंदरी, सोवत उर लपटाय। १।

यहां अपन्हुति इस रीति से है, कि चंद्रोदय उद्दीपन नायिका को बतला कर मान मोचन का उपाय करती हुई सखी ने चंद्रमा में कालिमा अरुचिकर होने से उस को छुपा कर सुरत श्रमित निस सुंदरी

का उर में लिपट कर शयन करने रूप महान उद्दीपन दिखाया है। काव्यप्रकाशकार ने भी परंपरा से आया हुआ यह उदाहरण दिया है। छुपाने में रोचकता लाने के लिये धोरी ने ऐसी रचना की है। रोचकता विना अलंकार नहीं होता है।

यथाः—

॥ दोहा ॥

प्रभा तरोंने लाल की, परी कपोलन आंन।
कहा छुपावत चतुर तिय, कंत दंत छत जांन। १।

इति रसराज भाषा ग्रंथे।

यहां कर्ण भूषण तरोंना के लाल की प्रभा को पति का दंत छत जान कर नायिका ओढ़नी से छुपाती है, सो यह छुपाना रोचक न होने से अलंकार नहीं, अलंकार तो यहां सखी के परिहास में भ्रांति है॥ इस अलंकार के साक्षात् स्वरूप को नहीं समझते हुए प्राचीनों ने धोरी के ऐसे उदाहरणों में एक का अपन्हव करके दूसरे का स्थापन जान कर अपन्हुति शब्द का अर्थ किया है"एक का निषेध करके दूसरे का स्थापन"। कहा है चिन्तामणिकोपकार ने "अपन्हवः अपलापे। अपलापः सतोऽप्यसत्त्वेन कथने" सत् अर्थात् विद्यमान का भी अविद्यमानता से कथन। आक्षेप से यह विलक्षणता समझी है कि आक्षेप में तो निषेध मात्र है। और यहां एक का निषेध करके दूसरे का स्थापन है। इस सिद्धांत के अनुसार प्राचीनों ने लक्षण बनाये हैं। वेदव्यास भगवान् का यह लक्षण है—

अपन्हुतिरपन्हुत्य किंचिदन्यार्थदर्शनम्॥

अर्थ—अपन्हव करके कोई और वस्तु दिखाना अपन्हुति अलंकार॥ यही लक्षण आचार्य दंडी और महाराजा भोज ने रक्खा है। काव्यप्रकाश गत कारिकाकार का यह लक्षण है—

प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपन्हुतिः॥

अर्थ—जो प्रकृत का निषेध करके अन्य सिद्ध किया जाता है वह अपन्हुति॥ वामन, वाग्भट, रुद्रट, सर्वस्वकार इत्यादिकों ने भी ऐसे

ही लक्षण कहे हैं ॥ आचार्य दंडी का यह उदाहरण है—

॥ चौपाई ॥

मन्मथ के नहिं पंचहि सायक,
हैं अनंत विरही जन घायक ॥

काव्यप्रकाश में दूसरा उदाहरण यह है—

॥ दोहा ॥

मंजरि प्रति अलि के कपट, महा वैर वस मार।
विष जु लगायो प्रति विशिख, सखि सहकार निहार । १ ।

रोचकता विना कहीं भी अलंकार नहीं होता, सो एक का निषेध करके दूसरे के स्थापन में रोचकता न होने से अलंकार नहीं। दंडी के उक्त उदाहरण में अलंकार तो प्रसंग विध्वंस मान मोचनोपाय करती हुई सखी की उक्ति में अज्ञातज्ञापन रूप विधि है। भय दिखा कर मान मोचन करने को प्रसंग विध्वंस मान मोचनोपाय कहते हैं ॥ और प्रकाशकार के उक्त उदाहरण में प्रसंग विध्वंस मानमोचनोपाय करती हुई सखी की उक्ति में प्राचीन मत का दृढारोपरूपक और हमारे मत का दृढाभेद अलंकार है। यहां छुपाना नहीं; किंतु निषेध है। जहां वस्तु के प्रकट होने में हानि की संभावना से प्रकट न होने देने की आवश्यकता होवे वहां तो छुपाना है। और उक्त प्रयोजन विना निषेध करना निषेध मात्र है। सो यहां तो भ्रमर सहित रसाल मंजरी को विष लगाये काम बाण कह कर उद्दीपन का आधिक्य बताया है, इसलिये छुपाना नहीं। ऐसा अन्यत्र भी जान लेना चाहिये। रूपक की दृढ़ता के लिये प्रकृत के निषेध को आचार्य दंडी तत्त्वापन्हवरूपक कहता है ॥ दंडी ने—

॥ दोहा ॥

नहिं तुव आनन पद्म यह, नयन न मधुकर दोय ।
दसन न केसर हैं जु पिय, रह्यौ सु अनिमिष जोय । १ ।

यह उदाहरण दे कर कारिका लिखी है—

सुखादित्वं निवर्त्यैव पद्मादित्वेन रूपणात्।
उद्भावितगुणोत्कर्षं तत्त्वापन्हवरूपकम् । १ ।

अर्थ—मुखादिपन को निवर्तन करके ही पद्मादिपन से रूपण करने से उद्भावित गुणोत्कर्ष अर्थात् गुण के उत्कर्ष को उठाता हुआ तत्त्व अर्थात् साक्षात् स्वरूप का निषेध सहित रूपक है ॥ दंडी के मुख से ही यह निरधार होता है, कि एक का निषेध करके दूसरे के स्थापन अंश में अलंकार नहीं, इसीलिये दंडी ने उक्त उदाहरण में रूपक की रोचकता होने से यहां तत्त्वापन्हवरूपक अलंकार माना है ॥ ऐसा मत कहो कि तब तौ धोरी के उक्त उदाहरण में भी इसी प्रकार रोचकता तत्त्वापन्हवरूपक में होने से तत्त्वापन्हवरूपक ही अलंकार होवेगा, तुम्हारी स्थापित की हुई अपन्हुति भी निर्मूल हो जायगी ? क्योंकि वहां तत्त्वापन्हवरूपक प्रकृत को छुपाने के लिये किया गया है, इसलिये प्रधान हो कर अपन्हुति ही अलंकार है। यहां सहृदयों का हृदय ही साक्षी है ॥ ऐसा भी मत कहो कि धोरी के उक्त उदाहरण में भी रोचकता तत्त्वापन्हवरूपक अंश में है । फिर अपन्हुति अलंकार कैसे ? क्योंकि शाक को लवण मिरची इत्यादि मिल कर स्वादु करते हैं । यही दृष्टांत रसों में दिया गया है कि विभाव, अनुभाव, संचारी भाव मिल कर स्थायी भाव को स्वादु करते हैं, उसी प्रकार यहां तत्त्वापन्हवरूपक के मिलने से स्वादु हो कर अपन्हुति अलंकार होता है ॥ और तत्त्वापन्हवरूपक के अंश विना भी अपन्हुति के बहुतसे उदाहरण हैं । और वहां प्राचीनों के लक्षणों की स्पष्ट अव्याप्ति होती है ।

यथा:—

॥ चौपाई ॥

व. निस दंपति जल्पे रस पागे,
का०. कहन लग्यो सुक गुरु जन आगे।
भूषन मनि दे तिंह सुख कर रिस,
अर्थ. वाचा बंध करी दाड़िम मिस ॥ १ ॥

अपन्हुति ॥ नायिका ने गुरु जनों से रहस्य छुपाने के लिये उक्त चतु-

राई की है। यहां भ्रांति अलंकार की संकीर्णता है। रत्नाकरकार कहता है कि रूपक में विषय का निषेध प्रतीयमान है। यहां विषय का निषेध वाच्य है। रूपक में आरोप में पर्यवसान होने के पश्चात् विषय का निषेध प्रतीत होता है। यहां प्रथम विषय का निषेध प्रतीत होता है। सो हमारे मत में रूपक में विषय का निषेध है ही नहीं, सो तौ रूपक प्रकरण में स्पष्ट किया जायगा। परंतु ये महाशय रूपक में विषय का निषेध अंगीकार करते हैं, तब भी यह समाधान रूपक के प्रकार का साधक है। न कि अलंकारांतर का साधक।

उपस्थितं निषिध्य परस्य स्थापनमपन्हुतिः॥

अर्थ– समीप में स्थित का निषेध करके और का स्थापन सो अपन्हुति॥ ऐसा लक्षण कह कर भानुदत्त भी स्पष्ट कहता है, कि यद्यपि निषेध मुख रूपक ही अपन्हुति है; तथापि संप्रदायानुसार पृथक् कहते हैं॥ उद्भट का यह लक्षण है—

साद्दश्यव्यक्तये यत्रापन्हवोसावपन्हुतिः॥
अपन्हवाय साद्दश्यं यत्राप्येपाप्यपन्हुतिः॥ १॥

अर्थ– जहां सादृश्य स्पष्ट करने के लिये अपन्हव होवे सो अपन्हुति अलंकार है। और अपन्हव के लिये सादृश्य होवे जहां भी अपन्हुति अलंकार है॥ आचार्य दंडी ने सादृश्य में तौ तत्वापन्हवरूपक अलंकार माना है, और असादृश्य में अपन्हुति अलंकार माना है, सो उन के उदाहरणों से स्पष्ट है। उद्भट ने लभ्य उदाहरणानुसार सादृश्य में अपन्हुति अलंकार मान कर उक्त दो प्रकार कहे हैं। इस ने भी प्राचीनों के अनुसार ही अपन्हुति का स्वरूप समझा है, इसीलिये दोनों स्थलों में अपन्हुति कही है। साक्षात् स्वरूप समझा होता तौ सादृश्य स्पष्ट करने के लिये अपन्हव होवे वहां तत्वापन्हवरूपक, और अपन्हव के लिये सादृश्य होवे जहां अपन्हुति ऐसा कहता॥ कितनेक प्राचीन अपन्हुति के छः प्रकार कहते हैं। चंद्रालोक में ये लक्षण हैं:—

शुद्धापन्हुतिरन्यस्यारोपार्थो धर्मनिन्हवः॥

अर्थ– दूसरे का आरोप करने के लिये प्रकृत के धर्म का अपन्हव वह शुद्धापन्हुति ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

नहिं सुधांशु यह तौ कहा, नभगंगा कौ कंज ॥

यह उदाहरण तौ पूर्ववत् है ।

स एव युक्तिपूर्वश्चेदुच्यते हेत्वपन्हुतिः ॥

अर्थ–यदि वही अर्थात् धर्म निन्हव युक्ति पूर्वक होवे तो हेत्वपन्हुति कही जाती है ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

रात मांझ नहिं होत रवि, ससि जिन तीव्र सु लाग ॥
उठी लछन अवलोकिये, वारिधि सौं वडवाग ॥ १ ॥

हमारे मत यहां दृढतर अभेद है ।

अन्यत्र तस्यारोपार्थः पर्यस्तापन्हुतिस्तु सः ॥

अर्थ–अन्यत्र आरोप करने के लिये तस्य अर्थात् धर्म का अपन्हव वह पर्यस्तापन्हुति अलंकार है ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

यह न सुधांशु सुधांशु है, मुख जु प्रिया कौ मित्त ॥

यहां मुख में सुधांशुता धर्म स्थापन करने के लिये उक्त धर्म का चंद्र में अपन्हव किया गया है। हमारे मत वच्यमाण पदार्थवृत्ति निदर्शना की नांईं यहां भी आर्थी उपमा है ।

भ्रान्तापन्हुतिरन्यस्य शङ्कायां भ्रान्तिवारणे ॥

अर्थ–अन्य की शंका होने पर उस की भ्रांति के निवारण में भ्रांतापन्हुति अलंकार है ।

यथाः—

॥ दोहा ॥

ताप करत सोत्कंप तन, क्या ज्वर ? नहिं सखि ! काम ॥

हमारे मत यहां भ्रांति की निवृत्ति में भी भ्रांति ही अलंकार है। यह भ्रांति प्रकरण में स्पष्ट होगा ॥

छेकापन्हुतिरन्यस्य शङ्कातस्तथ्यनिन्हवे ॥

अर्थ— अन्य की शंका होने पर सत्य के अपन्हव में छेकापन्हुति अलंकार है ॥ यह प्रकार भ्रांतापन्हुति का प्रतिद्वंद्वी है ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

सीतकार सिखवत अरु, व्रण जुत अधर करंत ॥
रोम उठावत पिय जु सखि ! नहिं नहिं पवन हिमंत ॥ १ ॥

कुवलयानंदकार कहता है कि पिछले सब उदाहरणों में विषयांतर की योजना है। एक विषय में अवस्था भेद से योजना का यह उदाहरण है—

॥ दोहा ॥

जांन सखी प्रिय प्रति लगी, कहन जार वृत्तंत ॥
लख यह कह पूरन कियो, सखि गत स्वप्न अनंत ॥ १ ॥

पूर्व उदाहरण में प्रिय कार्य को पवन कार्य में लगाया है, सो तौ एक विषय में दूसरे विषय की योजना है। यहां विषय की एकता में अवस्था भेद से जो जाग्रत् अवस्था में हुआ उस एक ही जार वृत्तांत को स्वप्न रूप अवस्थांतर वतला कर अपन्हव किया है। इन उदाहरणों में हमारे मत से भी अपन्हुति है ॥

कैतवापन्हुतिर्व्यक्तौ व्याजाद्यैर्निन्हुतेः पदैः ॥

अर्थ—"व्याज" आदि पदों से अपन्हव व्यक्त होवे वहां कैतवापन्हुति अलंकार है ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

कामिनि के जु कटाक्ष मिस, निकसत स्मर नाराच ॥

वाचक भेद से प्रकार नहीं होता, यह उपमा प्रकरण में कह आये हैं। इन के कितनेक उदाहरणों में अपन्हुति अलंकार है; परंतु इन्हों ने भी प्राचीनों के अनुसार इस अलंकार का साक्षात् स्वरूप नहीं समझा; समझा होता तौ "ताप करत सोत्कंप तन" इति। यहां नायिका ने प्रत्युत रहस्य प्रकट किया है, जिस को अपन्हुति अलंकार कैसे कहते? और इस अलंकार में प्रकृत का निषेध और अन्य का स्थापन सब छुपाने के लिये है, सो शुद्धापन्हुति के लक्षण में अन्य के आरोप के लिये प्रकृत का निषेध क्यों कहते?

॥ दोहा ॥

सखि सुक कीन्हे करम ए, लखि दारचौं मनि हार ॥

यहां नख क्षत रूप आकार का गोपन है ॥

॥ दोहा ॥

चित्र मित्र कौ लिखत थी, आई अली अजांन* ॥
तब तिंह कर में लिख दिये, सुमनन के धनु बांन ॥ १ ॥

यहां क्रिया से गोपन है ॥

॥ दोहा ॥

सखि भादौं सुदि चौथ कौ, मैं अनजांन मयंक ॥
लख्यौ जु गोपद नीर में, लागि है झूठ कलंक ॥ १ ॥

लोक में प्रसिद्ध है कि वृष्टि के जल से भरे हुए गाय के खुर के खड्डे में भादों सुदी चौथ के चंद्रमा का प्रतिविंव देखनेवाले को झूठा कलंक लगता है, यह भविष्यत् का गोपन है।

॥ दोहा ॥

हसत सबै ह्यां है कहा, हसिबे कौ मचकूर ॥
कांन्ह वतावत गह गरो, यौं मारचौ चाणूर ॥ १ ॥

इति कस्यचित् कवेः।

---

* अचानक.

यहां वर्तमान का गोपन है। ये सब उदाहरणांतर हैं॥

इति अपन्हुति प्रकरणम्॥ ९॥

॥ अपूर्वरूप ॥

धोरी ने पूर्वरूप की प्राप्ति में वक्ष्यमाण पूर्वरूप अलंकार माना है। रूप तो यहां अवस्था है, सो पूर्वरूप के विपरीत भाव में अपूर्वरूप अलंकार हम से देखा गया है॥

॥ दोहा ॥

पुर्व रूप की प्राप्ति नहिं, वहै अपूरव रूप॥
अलंकार यह नाहिं नयो, सुनियें जसवँत भूप॥ १॥

धोरीने तद्गुण आदि के विपरीत भाव में अतद्गुण आदि अलंकार कह कर अलंकार के विपरीत भाव में अलंकारांतर होने का दिग्दर्शन किया है, इसलिये पूर्वरूप के विपरीत भाव में जो अपूर्वरूप अलंकार हम ने दिखाया है सो नया नहीं है।

यथा—

॥ सवैया ॥

वैरिन सौं वनिता विनती,
जसवंत खिजावत क्यों हतभाग हौ।
फेर नहीं गिरि कंदर में,
वस झांख झरोखन में अनुराग हौ॥
वेलिन में विलमाय नहीं,
पुन नार नवेलिन के गल लाग हौ।
जंगल जंतु जगाये सौं जाग कें,
फेर न वंदिन के रव जाग हौ॥ १॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

क्षय हो हो कर हू शशी, वढ़त जु वार हि वार॥

ज्यौं पुन जोवन प्राप्ति जिन, न कर मांन नित नार ॥ १ ॥

यह उदाहरण सर्वस्वकार ने व्यतिरेक का दिया है। यहां व्यतिरेक इस रीति से है, कि शशी के समान जोवन भी शनैः शनैः वढ़ कर उसी क्रम से घटता है। परंतु शशी वार वार वढ़ जाता है। और जोवन की फिर प्राप्ति अलभ्य है। इस काव्य के उत्तरार्ध में अपूर्वरूप अलंकार है, सो यहां पर्यवसान अपूर्वरूप में है इसलिये यहां अपूर्वरूप ही अलंकार मुख्य है ॥

इति अपूर्वरूप प्रकरणम् ॥ १० ॥

॥ अप्रत्यनीक ॥

संवंधी प्रति करने को धोरी ने वक्ष्यमाण प्रत्यनीक अलंकार कहा है। हम ने उस में संवंधी के करने इत्यादि का भी उपलक्षण से संग्रह किया है। उस प्रत्यनीक अलंकार के विपरीत भाव में अप्रत्यनीक अलंकार हमारे से लखा गया है ॥ प्रत्यनीक का अक्षरार्थ उस के प्रकरण में लिखेंगे ॥

॥ दोहा ॥

नहिं अनीक प्रति है वहै, अप्रत्यनीक पहिचांन ॥
दिग दर्शन प्राचीन सौं, मरुपति लीन्हौ मांन ॥ १ ॥

यथा—

॥ दोहा ॥

मरु दल पीड़त है परहिं, नहिं पर प्रजा मुरार ॥
राहू शशि कौं ग्रसत है, नहिं तारन जु निहार ॥ १ ॥

यहां साक्षात् शत्रु के संवंधवाली प्रजा प्रति, और राहु के साक्षात् शत्रु शशि के संवंधी तारों प्रति शत्रुता का न करना है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

गजपति स्वर्ग दिगंत में, पति कुरंग शशि लोग ॥

मृगपति नख पण्डितपनहिं, किंह प्रति प्रगटन जोग १ ॥

यहां साक्षात् गजपति और कुरंगपति स्वर्गलोक और चंद्रलोक में रहने से उन के सजातीय संबंधवाले इतर गजों और कुरंगों रूप संबंधियों में सच्चा मृगपति नख पांडित्य प्रकट नहीं करता है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

नहिं तुव श्रवन न चित्र सौं, नहिं रुचि स्वप्न मझार ॥
लाल न व्है हौ प्रतक्ष तौ, तज है तन वह नार ॥ १ ॥

नायक के चित्र रूप संबंधी में नायिकाओं की रुचि होने की रीति होती है, परंतु यह नायिका नहीं करती, इसलिये यहां अप्रत्यनीक है। साक्षात् वस्तु के और उस वस्तु के चित्र के आपस में बिंब प्रतिबिंब भाव संबंध होता है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

पुत्री पति पाथोधि के, विष्णु सु विश्व विख्यात ॥
अचयौ आय अगस्त नें, भे न सहायक तात ॥ १ ॥

"तात" ! यह संबोधन है। यहां लक्ष्मी के और समुद्र के तौ साक्षात् जन्य जनक संबंध है, परंतु लक्ष्मी का पति भया हुआ विष्णु तौ समुद्र के लिये समुद्र के साक्षात् संबंधवाली लक्ष्मी का संबंधी है। यहां संबंधी के संबंधी का उपकार का न करना है। यह उदाहरण अप्रस्तुतप्रशंसा संकीर्ण है ॥

इति अप्रत्यनीक प्रकरणम् ॥ ११ ॥

॥ अप्रस्तुतप्रशंसा ।

अप्रस्तुतप्रशंसा, यहां "अ" अव्यय निषेध अर्थ में है। प्रस्तुत नाम प्रकरण प्राप्त का है। कहा है चिंतामणिकोशकार ने "प्रस्तुतः प्रकरण-

प्रासे" ॥ "शंसु" धातु से शंसा शब्द बना है । शंसु धातु कथन अर्थ में और स्तुति अर्थ में है । कहा है धातुपाठ में " शंसु कथने स्तुतौ च" यहां शंसु धातु का कथन अर्थ विवक्षित है । कथन अर्थात् कथा । कहा है चिंतामणिकोषकार ने "कथनं कथायाम्" कथा को वृत्तांत भी कहते हैं । यहां शंसु धातु के साथ लगे हुए "प्र" उपसर्ग का वही अर्थ है, जो शंसु धातु का अर्थ है । उपसर्ग की तीन गतियां हैं--

धात्वर्थं बाधते कश्चित्कश्चित्तमनु वर्तते ॥
तमेव विशिनष्ट्यन्य उपसर्गगतिस्त्रिधा ॥ १ ॥

अर्थ-उपसर्ग कहीं तो धातु के अर्थ का बाध करता है, अर्थात् अर्थ को पलटा देता है । कहीं धातु का अनुवर्तन करता है अर्थात् जिस अर्थ में धातु वरतता है उसी अर्थ में उपसर्ग भी वरतता है । और कहीं धातु के अर्थ को विशिनष्टि अर्थात् विशेष देता है। क्रम से यथा- " आदत्ते " दा धातु का अर्थ है देना "दा दाने" । यहां आङ् उपसर्ग मिलने से देना इस अर्थ का बाध करके लेना ऐसा अर्थ कर दिया है । " प्रसूते" । षूङ् धातु का अर्थ है प्रसव, अर्थात् प्राणियों को पैदा करना । यहां प्र उपसर्ग भी उसी अर्थ में वरतता है । "प्रवर्धते" । वृध् धातु का अर्थ है वढ़ना । प्र उपसर्ग मिलने से विशेष वढ़ना यह अर्थ होता है । अप्रस्तुतप्रशंसा इस शब्द समुदाय का अर्थ है अप्रस्तुत कथा । किसी प्रसंग में कही हुई अप्रस्तुत कथा में अप्रस्तुतप्रशंसा शब्द की रूढी है । हर एक प्रसंग में अप्रस्तुत कथा कहने की लोक में रीति है । और महाभारत आदि इतिहासों में भी हर एक प्रसंग में अप्रस्तुत कथायें कही गई हैं । इस के अनुसार धोरी ने अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार माना है । यहां प्रस्तुत वृत्तान्त व्यंजना से लभ्य होता है, सो तौ व्यंग्य का विषय है । अलंकार नहीं । काव्य में उस प्रस्तुत वृत्तांत को भी वचन से कहै तौ वृथा गौरव होता है । यहां प्रस्तुत कथा के और अप्रस्तुत कथा के सारूप्य संवंध अथवा सामान्य विशेष भाव संबंध होता है, इसीलिये प्रस्तुत के प्रसंग में उस अप्रस्तुत कथा का कहना रोचक होता है । अन्यथा अकांडप्र-

थन दोष होगा। परंतु यहां सारूप्य संबंध अंश में पर्यवसान नहीं, उस में पर्यवसान करें तो उपमा अलंकार होवेगा। उपमा का अंश दीपक, तुल्ययोगिता आदि बहुतसे अलंकारों के उदाहरणों में होता है, परंतु उस में पर्यवसान नहीं होता; किंतु दीपक, तुल्ययोगिता आदि प्रधान होने से उन में पर्यवसान हो करके वहां दीपक, तुल्ययोगिता आदि ही अलंकार होते हैं, वैसे यहां भी अप्रस्तुतप्रशंसा अंश उद्धरकंधर होने से इसी में पर्यवसान है। और यही यहां प्रधानता से काव्य शोभाकर है। ऐसा मत कहो कि प्रकरण वश से प्राप्त भई हुई अप्रस्तुत कथा भी प्रस्तुत ही है? क्योंकि वह कथा मुख्यता से वर्णनीय न होने से प्रस्तुत नहीं॥

॥ दोहा ॥

कहे जु अप्रस्तुत कथा, काहू प्रसँग मझार॥
अप्रस्तुतप्रशँसा वहै, भूपन नृपति निहार॥ १॥

किसी प्रसंग में अप्रस्तुत कथा कहै वह अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

मोती देत मराल कौं, मधुकर कौं मकरंद॥
प्यासन पानी मानसर, किल जग कौं सुखकंद॥ १॥

यहां राजराजेश्वर का जस वर्णन विवक्षित है, ऐसा जाननेवाले श्रोता को यह प्रतीति होती है कि राजराजेश्वर के अखिल जग अभिलाषा पूरण प्रसंग में यह मानसरोवर की अप्रस्तुत कथा कही गई है। और किसी श्रोता की बुद्धि यहां वाच्यार्थ मात्र में ही विश्राम पावे तो इस मानसरोवर के वर्णन मात्र में व्यतिरेक अलंकार है। समुद्र में मोती उत्पन्न होने से वह केवल हंसों को सुखदायी है। उस का जल खारा होने से उस में कमल नहीं होते, इसलिये वह भ्रमरों को सुखदायी नहीं। और पानी खारा होने से प्यासों को भी सुखदायी नहीं। और यह वर्णन मानसरोवर का ही विवक्षित होवे और यहां

राजराजेश्वर के अखिल जग अभिलाषा पूरण करने के वृत्तांत की प्रतीति होवे तौ व्यंग्य मात्र है। अलंकार नहीं। ऐसा सर्वत्र जान लेना चाहिये ॥

यथावाः—

॥ चौपाई ॥

उष्ण रक्त रस जुत कुंभाथल,
थाली मुक्त पुलाव भर्यो भल ॥
वह पंचानन छुधित तजहि तन,
नहिं निज करन हनहि शिशुशशकन ॥ १ ॥

यहां सहृदय श्रोता को यह प्रतीति होती है, कि किसी पराक्रमी पुरुष ने आजन्म निज भुज वल उपार्जित उत्तम जीविका से जीवन किया, वह विपत्ति काल में भी नीच आचरण से तुच्छ जीविका करके जीवन नहीं करता है। इस प्रसंग में उक्त सिंह की यह अप्रस्तुत कथा कही गई है। और किसी श्रोता की बुद्धि यहां वाच्यार्थ मात्र में ही विश्राम पा जावे तौ इस सिंह के वर्णन में रूपक और आक्षेप अलंकार हैं।

यथावाः—

॥ सवैया ॥

उनमत्त मतंग लता द्रुम तोरैं,
निसंक व्है दौरैं हैं स्यार ससा।
विन चिंत व्है चीते चरित्र करैं रु,
वघेरे वडप्पन लाये नसा ॥
मृग व्हैं गति मंद तहां विहरैं,
मिल खोदत शूकर वृंद रसा।
वनराज विहीन वड़े वन की जु,
भई कछु और की और दसा ॥ १ ॥

इति पितुः कविराज भारतीदानस्य।

यहां सहृदय श्रोता को यह प्रतीति होती है कि किसी पराक्रमी अधिकारी पुरुष के परलोक वास करने से साहसी लूट खसोट करने लगे, कापुरुष स्वच्छन्द वरतने लगे, छली निश्चिन्त हो कर चरित्र करने लगे, छोटों को वडपन का अभिमान हुआ, परिचारक लोक सुस्ती से काम देने लगे, मूर्ख लोग काम को विगाड़ने लगे, ऐसी दुर्दशा प्राप्त देश के प्रसंग में सिंह शून्य वन की यह अप्रस्तुत कथा कही गई है। और यहां किसी श्रोता की बुद्धि वाच्यार्थ मात्र में ही विश्राम पावे तो इस वन के वर्णन में अवस्थान्तर की प्राप्ति होने से परिणाम अलंकार है।

यथावाः—

॥ मनहर ॥

उपज्यौ अषाढ मांझ सांवन में लैलहांनो,
भादों में पुलिंग छांड़ पलट्यौ भराभरी।
क्वार के कनागत में फूल फल मस्त भयौ,
वट सौं चलाई है सगाई की खराखरी॥
वट कह्यौ घर है तिहारो मो पै कीन्ही मया,
अगहन व्याह ह्वै है जैसी है परापरी।
देवीदास देख ऊठैं दांत काढ़ रह्यौ वहै,
भांड भयौ भैंडा कर वट सौं वरावरी॥ १॥

इति देवीदास कृत राजनीतौ।

यहां वृक्षों का परस्पर वार्तालाप असमंजस होने से सहृदय श्रोता को यह प्रतीति होती है, कि किसी क्षुद्र और अकुलीन पुरुष का अधिकार और वैभव शीघ्र वढ़ जाने से चिरकालीन मान्यवर और कुलीन के साथ समान संबंध करने की उस ने इच्छा की। उस मान्यवर ने विचार पूर्वक समय टलाने के लिये कोई अवधि वतलाई, इतने में उस क्षुद्र पुरुष का वैभव और अधिकार विलाय जाने से वह हँसी का पात्र हो गया। इस प्रसंग में यह भिंडी फल लगनेवाले भैंडा वृक्ष की और वट वृक्ष की अप्रस्तुत कहानी कही गई है। और यहां वाच्यार्थ

में ही विश्राम करें तौ चातुर्मास में लग्न न होने का मिष करके वट वृक्ष ने समय टलाया है सो मिष अलंकार है ॥

यथावाः—

॥ सवैया ॥

केसी अली की भली यह बांन हैं,
देखिये पीतम ध्यांन लगाय कैं ।
छाक गुलाब मधू सौं मुरार सु,
वेल नवेलिन में विरमाय कें ॥
खेलत केतकी जाय जुहीन में,
केलत मालती वृंद अघाय कें ।
आंन कों जोवत खोवत द्यौस पैं,
सोवत है नलिनी सँग आय कें ॥ १ ॥

यहां सहृदय श्रोता को यह प्रतीति होती है कि स्वकीया खंडिता नायिका ने शठ नायक प्रति उपालंभ प्रसंग में यह भ्रमर की अप्रस्तुत कथा कही है। और किसी श्रोता की बुद्धि यहां वाच्यार्थ मात्र में ही विश्राम करे तौ इस भ्रमर के वर्णन में स्वभावोक्ति अलंकार है। ऐसी शंका न करनी चाहिये कि नायक का सामान्य लक्षण यह हैः—

त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही ॥
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेता ॥ १ ॥

इति साहित्यदर्पणे ॥

अर्थ—दानी, कृतज्ञ, कुलीन, श्रेष्ठश्रीवाला, रूप यौवन और उत्साहवाला, चतुर, जिस से सब लोग राजी हैं, प्रतापी, विदग्ध और शीलवाला नायक होता है ॥ सो नायक में दक्षता की आवश्यकता है, तहां शठ ऐसा नायक का प्रकार असमंजस है। क्योंकि दक्षिण नायक के प्रतिद्वंद्वी भाव में शठ नायक माना गया है ॥ दक्षिण नायक का यह लक्षण है—

एषु त्वनेकमहिलासु समरागो दक्षिणः कथितः ॥

अर्थ—इन में से अनेक नायिकाओं में सम रागवाला दक्षिण कहा ग-

या है। और शठ का यह लक्षण है—

शठोयमेकत्र बद्धभावो यः॥
दर्शितबहिरनुरागो विप्रियमन्यत्र गूढमाचरति॥ १।

अर्थ— शठ नायक यह है, कि जो एक नायिका में अनुराग से बंधा हुआ है, और दूसरी में बाहिर से अनुराग दिखाता है, और गुप्त अप्रिय आचरण करता है॥ सो अनेक प्रिया रहते एक रस न रहना इस अंश को ले कर शठ संज्ञा की गई है। एक स्वकीया, दूसरी परकीया आदि का अथवा अनेक परकीयादि का उपलक्षण से संग्रह होता है। सामान्य नायक के लक्षण में शील, रूप, गुण भी कहा है, वह उपपति आदि में नहीं रहता; परंतु ऐसी व्यवस्था में शास्त्र का यह वचन है। "एकदेशविकृतमनन्यवत्" अर्थ—एक देश से विकार पाया हुआ और के जैसा नहीं॥ चंद्रालोक पथ गामी कुवलयानंदकार का यह सिद्धांत है, कि यहां भ्रमर भी पुरोवर्ती होने से प्रस्तुत ही है। ऐसे उदाहरणों में अप्रस्तुतप्रशंसा नाम घटता नहीं, इसलिये ऐसे स्थलों में प्रस्तुताङ्कुर नामक अलंकारांतर है। अप्रस्तुतप्रशंसा में तो वाच्यार्थ अप्रासंगिक होने से प्रस्तुतार्थ की प्रतीति स्पष्ट होती है। यहां वाच्यार्थ रूप प्रस्तुतार्थ में विश्राम हो जाने से दूसरे प्रस्तुतार्थ की प्रतीति स्पष्ट नहीं होती, किंतु अंकुर रूप होती है। इस प्रकार प्रस्तुतांकुर नाम की संगति है। "अंकुर इव प्रस्तुतः प्रस्तुताङ्कुरः" अंकुरवत् प्रस्तुत होवे वह प्रस्तुतांकुर। यहां दूसरे प्रस्तुत में रूढि है। चंद्रालोक में प्रस्तुतांकुर का यह लक्षण है—

प्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य द्योतने प्रस्तुताङ्कुरः॥

अर्थ—प्रस्तुत करके प्रस्तुत के द्योतन में प्रस्तुतांकुर अलंकार है॥ रसगंगाधरकार कहता है, कि मुख्य तात्पर्यवाले से जो अतिरिक्त होवे वह अप्रस्तुत ही है। सो उक्त उदाहरण में नायिका का मुख्य तात्पर्य नायक प्रति निशा में गृह शयन उपदेश करने में है। उस प्रसंग में कहा हुआ भ्रमर वृत्तांत अप्रस्तुत ही है। सो इस विषय में हमारी संमति भी रसगंगाधरकार के साथ है॥

यथावाः—

॥ सवैया ॥

तुम हौ जु मलीन तऊ यह तौ,
परिपूरन रागहि सौं रहती है ।
तुम जलपत हौ जु अनल्य मुरार,
तऊ यह आस्य विकासवती है ॥
तुम हौ अति चंचल तौ हू यहै,
कवहू रस हीन न होत रती है ।
छिन छोरत ऐसी सरोजनि कौं
अलि कैसी महा विपरीत मती है ॥ १ ॥

इस प्राचीनों के प्रस्तुताङ्कुर उदाहरण में भी अप्रस्तुतप्रशंसा इस रीति से है, कि यहां तिर्यक् भ्रमर प्रति उक्ति असमंजस होने से सहृदय श्रोता को यह प्रतीति होती है, कि उत्तमा नायिका से अनासक्त नायक प्रति उपालंभ प्रसंग में सखी ने यह भ्रमर की अप्रस्तुत कथा कही है । और यहां वाच्यार्थ में ही विश्राम करें तौ प्राचीन मत का विशेषोक्ति अलंकार है । ये पूर्वोक्त सब उदाहरण साधर्म्य के हैं । साधर्म्य के विपरीत भाव में वैधर्म्य से भी अप्रस्तुतप्रशंसा प्राचीनों ने दिखाई हैं ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

पट पांखें भख कांकरे, सफर परेवी संग ॥
सुखी परेवा जगत में, एको तुं ही विहंग ॥ १ ॥

इति विहारी सप्तशत्याम् ॥

यहां अप्रस्तुतप्रशंसा इस रीति से है, कि अन्न वस्त्रादि के लिये क्लेश पाते हुए और विरह व्यथा से व्याकुल प्रवासी ने अपने उक्त प्रसंग में यह परेवा पक्षी का अप्रस्तुत वृत्तांत कहा है । दूसरे के प्रसंग में अथवा अपने ही प्रसंग में अप्रस्तुत वृत्तांत कहने में अप्रस्तुतप्रशंसा रूप चमत्कार तुल्य है । काव्यप्रकाश गत कारिकाकार का यह लक्षण है—

अप्रस्तुतप्रशंसा सा या सैव प्रस्तुताश्रया ॥

अर्थ– या अर्थात् जो अप्रस्तुत की प्रशंसा प्रस्तुत का आश्रय करे सा अर्थात् वह सैव अर्थात् अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार ही है ॥ "सा एव" इस कथन का तात्पर्य यह है, कि ऐसे स्थल में अप्रस्तुत अर्थ ही अलंकार है । न कि प्रस्तुत अर्थ । चंद्रालोक का यह लक्षण हैः—

अप्रस्तुतप्रशंसा स्यात्सा यत्र प्रस्तुताश्रया ॥

अर्थ– अप्रस्तुतप्रशंसा वहां होवेगी जहां वह प्रस्तुत का आश्रय करेगी ॥ कुवलयानंदकार ने इस कारिका का व्याख्यान इस प्रकार किया है । जहां अप्रस्तुत वृत्तांत का वर्णन प्रस्तुत वृत्तांत की प्रतीति में पर्यवसान पावे, वहां अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है । इन का तात्पर्य यह है, कि अप्रस्तुत वृत्तांत प्रस्तुत वृत्तांत की प्रतीति में पर्यवसान पावे, तब अलंकार है । केवल अप्रस्तुत का कथन असमंजस होने से अलंकार नहीं । और यहां प्रस्तुतार्थ का आक्षेप हो जाता है । हमारे मत अप्रस्तुत का वर्णन प्रस्तुत का आश्रय करे अर्थात् प्रस्तुतार्थ में समाय जावे यह इस अलंकार का साक्षात् स्वरूप नहीं। ऐसी स्थिति में सादृश्य की विवक्षा करें तो उपमा हो जायगी । प्रस्तुत का अप्रस्तुत रूप प्रकारांतर से कथन ऐसी विवक्षा करें तो पर्यायोक्ति हो जायगी । अप्रस्तुत वृत्तांत की प्रस्तुत वृत्तांत रूप अवस्थांतर प्राप्ति की विवक्षा करें तो परिणाम हो जायगा । प्रस्तुत वृत्तांत में अप्रस्तुत वृत्तांत लय हो जाने की विवक्षा करें तो मिलित अलंकार हो जावेगा । अप्रस्तुत वृत्तांत की प्रस्तुत वृत्तांत के साथ एकता की विवक्षा करें तो अभेद अलंकार हो जावेगा । और अप्रस्तुत वृत्तांत के क्षण भर भान की विवक्षा करें तो आभास अलंकार हो जायगा । इसलिये हम ने अप्रस्तुतप्रशंसा का स्वरूप स्पष्ट किया है सो ही अलंकार और अलंकारांतर होने को योग्य है । प्राचीन कहते हैं, कि अप्रस्तुत कथन प्रस्तुत का आश्रय कहीं तो सारूप्य संबंध से, कहीं कार्य कारण भाव संबंध से, और कहीं सामान्य विशेष भाव संबंध से करता है । सो ही कहा है काव्यप्रकाश गत कारिकाकार ने

कार्यं निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति ॥
तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा ॥ १ ॥

अर्थ—कार्य, कारण, सामान्य और विशेष प्रस्तुत रहते इन से अन्य का वचन अर्थात् अप्रस्तुत कारण, कार्य, विशेष और सामान्य का कथन, और तुल्य प्रस्तुत रहते तुल्य अप्रस्तुत का कथन, ऐसे पांच प्रकार हैं। काव्यप्रकाश मतानुसारि कुवलयानंदकार ने सारूप्य निबंधना का—

॥ चौपाई ॥

चातक एक धन्य जग मांही।
इंद्र विना अन जाचत नांही॥

यह उदाहरण दे कर इस प्रकार घटाया है, कि यहां अप्रस्तुत चातक की प्रशंसा चातक के सदृश क्षुद्र पुरुषों की याचना करने से निवृत्त प्रशंसनीयता से प्रस्तुत मानी पुरुष में पर्यवसान पाती है। पर्यवसान के विषय में तौ हम ऊपर लिख आये हैं। और यहां प्रस्तुतार्थ की प्रतीति तौ व्यंग्य का विषय है॥

॥ दोहा ॥

अनिमिष अचल जु वक वकी, नलिनी पत्र निहार॥
मरकत भाजन में धरे, शंख सीप उनिहार॥ १॥

यहां वक वकी वर्णन प्रस्तुत होने से उस में पयर्वसान रहते भी निर्जन स्थानता आदि व्यंग्य होते हैं। और यहां अप्रस्तुत वृत्तांत वर्णन अप्रस्तुत होने से उस में पर्यवसान न रहते प्रस्तुत वृत्तांत व्यंग्य होवे तो भी पूर्वोक्त व्यंग्य में और इस व्यंग्य में कुछ भी विलक्षणता नहीं, इसलिये यह भी व्यंग्य ही है।

कारण निबंधना यथाः—

॥ दोहा ॥

गये मिलत नहिं क्या प्रिये, यह सुन कर सद भाय॥
रुदन करत मुसक्याय दिय, भावी मरन जताय॥ १॥

प्रकाशकार ने यह उदाहरण दे कर इस प्रकार घटाया है, कि

प्रयाण से निवृत्त हुए नायक प्रति किसी ने प्रयाण से क्यों निवृत्त हुए? इस कार्य को पूछा, जिस पर नायक ने, रुदन करती हुई प्रिया ने हस कर यह सूचित किया कि मैं तो वियोग से मर जाऊंगी फिर आप किस से मिलेंगे, यह कारण कहा। यहां कार्य प्रस्तुत रहते कारण का कहना सो अप्रस्तुत है। चंद्रालोक पथ गामी कुवलयानंदकार का यह उदाहरण हैः—

॥ दोहा ॥

हरन करयौ शशि सार विधि, दमयंती मुख हेत ॥
ता की खनी खनीलिमा*, यह जु दिखाई देत ॥ १ ॥

यहां दमयंती के मुख का लोकोत्तर सौंदर्य कार्य प्रस्तुत रहते उस को न कह कर अप्रस्तुत उक्त कारण कहा है ॥

कार्यनिबंधना यथाः—

॥ सवैया ॥

नांहिं जु स्वेद सुकावत है,
सुरतांत समैं मृग नैनिन अंग के।
नांहिं मुरार पताकन के पट,
नृत्य करावत है वहु रंग के ॥
नांहिं विनिद्र करै जसवंत सु,
पुष्प जु केलि हरम्यन संग के।
तो अरि नग्र मलैचल मारुत,
केवल भोजन होत भुजंग के ॥ १ ॥

यहां अरि नगर शून्यता कारण प्रस्तुत है, उस को न कह कर अप्रस्तुत उक्त कार्य कहा है।

यथावाः—

* खान के ख अर्थात् आकाश की नीलिमा। इस अनुप्रास में एक वार खनी शब्द अर्थवाला है। दूसरी वार अर्थवाला नहीं; क्योंकि ख और नीलिमा शब्द जुदे जुदे हैं ॥

॥ चौपाई ॥

हे राजन नाहिं बोलत रांनी,
राज सुता न पढ़ावत वांनी ॥
पथिक मुक्त शुक अरिन अटारी,
क्रीड़ा करत चित्र प्रति भारी ॥ १ ॥

यहां भी अरि भवन शून्यता कारण प्रस्तुत है, उस को न कह कर अप्रस्तुत उक्त कार्य कहा है। यह उदाहरण प्रकाशकार ने दिया है ॥
यथावाः—

॥ चौपाई ॥

नख कांती लव तुव पद धोवत,
सिंधु प्रवेस गंग सह होवत ॥
मथन कस्यौ सुर असुरन मिल जब,
ह्वै नवनीत पिंड निकस्यौ तब ॥ १ ॥

यहां विष्णु के चरण नखों की अलौकिक प्रभा कारण प्रस्तुत है, उस को न कह कर उक्त अप्रस्तुत कार्य कहा है ॥ यह उदाहरण कुवलयानंदकार ने दिया है। हमारे मत यहां सारूप्य निबंधना की नांईं वाच्य वृत्तांत सर्वथा अप्रस्तुत नहीं जाना जाता; क्योंकि कार्य कारण का प्रकरण एक है इसलिये यहां अप्रस्तुतप्रशंसा का चमत्कार नहीं। ऐसे ही वच्यमाण सहोत्पत्त्यादि संबंधों में भी जान लेना चाहिये। और कारण के कथन से कार्य प्रतीति में, और कार्य के कथन से कारण की प्रतीति में तो व्यंग्य ही है, अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार नहीं। "गये मिलत नाहिं क्या" इति। इस काव्य में नायिका ने सूक्ष्मता से भावी मरण सूचन किया है, इसलिये सूक्ष्म अलंकार है ॥ "हरन कस्यौ" इति। इस काव्य में वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है। "नांहिं जु स्वेद सुकावत है" इति। और "हे राजन्" इति। इन दोनों काव्यों में पर्यायोक्ति अलंकार है। "हे राजन् नाहिं बोलत रानी" इति।

यही उदाहरण महाराजा भोज ने भी पर्यायोक्ति में दिया है ॥ "नख कांती लव" इति । यहां उत्प्रेक्षा अलंकार है ॥ अप्रस्तुतप्रशंसा का साक्षात् स्वरूप समझ लेवे तब इन में अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार का अभाव अनुभव सिद्ध है ॥

सामान्य निबंधना यथाः—

॥ दोहा ॥

सुहृद् स्त्रियन कौ नयन जल, जो मेटैं ले वैर ॥
सोई सूरो साहसी, पूजन लायक पैर ॥ १ ॥

यहां अप्रस्तुतप्रशंसा इस रीति से है, कि तुम नरकासुर का वध करनेवाले कृष्ण को मार कर नरकासुर की स्त्रियों को प्रसन्न करोगे तब श्लाघनीय होओगे । यह नरकासुर के मित्र प्रति नरकासुर के मंत्री का विशेष वचन प्रस्तुत है, जिस प्रसंग में उक्त अप्रस्तुत सामान्य वचन कहा है ॥

विशेषनिबंधना यथाः—

॥ दोहा ॥

निज मंडल मधि राख मृग, मृग लांछन भौ चंद ॥
मृगपति भौ मृग मारिके, सिंह सु सदा स्वछंद ॥ १ ॥

यहां अप्रस्तुतप्रशंसा इस रीति से है, कि कोमल निंदनीय होते हैं, क्रूर श्लाघनीय होते हैं । यह कृष्ण प्रति बलदेव का सामान्य कहना प्रस्तुत है, उस प्रसंग में उक्त अप्रस्तुत विशेष कहा है । जैसे कि सारूप्य निबंधना के " मोती देत मराल कौं " इति । इत्यादि पूर्वोक्त उदाहरण हैं । वहां राजराजेश्वर के अखिल जग अभिलाषा पूरन प्रसंग में उस के तुल्य उक्त मानसरोवर का अप्रस्तुत कथन है । हमारे मत उक्त स्थलों में उक्त रीति से अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है। और सामान्य को न कह कर विशेष कहना, विशेष को न कह कर सामान्य कहना, इस विवक्षा में तो पर्यायोक्ति है। सर्वस्वकारादि भी काव्यप्रकाश के अनुसारी हैं । लोक में दोनों रीतियां हैं ॥ अन्य के प्रसंग में अप्रस्तुत कथा कहे,

और अपने प्रसंग में आप ही अप्रस्तुत कथा कहै। धोरी का यह उदाहरण है—

॥ दोहा ॥

सुलभ यत्न विन दर्भ तृन, अंकुर के भखवांन ॥
पर सेवा विन वन हरिन, जीवत सुख सौं जांन॥ १ ॥

यहां दुर्लभ अर्थात् देरी से कष्ट साध्य जीविका और पराधीनता से दुःखित श्लाघनीय विरक्त मनवाले पुरुष ने अपने उक्त प्रसंग में मृग वृत्ति की स्तुति रूप अप्रस्तुत कथा कही है। सो इस अलंकार के साक्षात् स्वरूप को नहीं समझते हुए दंडी ने उक्त उदाहरण से भ्रम कर इस अलंकार का स्वरूप समझा है "अप्रस्तुत की स्तुति" तव अप्रस्तुतप्रशंसा नाम का अर्थ "अप्रस्तुतों में स्तुति" ऐसा मान कर यह लक्षण कहा है--

अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादप्रक्रान्तेषु या स्तुतिः ॥

अर्थ—अप्रस्तुतों में जो स्तुति वह अप्रस्तुतप्रशंसा होवेगी ॥ सो यह दंडी की भूल है, क्योंकि अप्रस्तुत की स्तुति यह इस अलंकार का स्वरूप नहीं। और अप्रस्तुत की निंदा में भी अप्रस्तुतप्रशंसा होती है ॥ यथा--

॥ मनहर ॥

हारे वाटवारे जे विचारे मजलन मारे,
दुखित महारे तिन कौं न सुख तैं दियो।
वन के जे पंछी तिन हू के काम कौ न कछु,
सांझ समैं आय विसरांम उन नां लियो ॥
आपने हू तन की न छाया कर सक्यौ मूढ,
दयानिधि कहै जग जन्म वृथा ही गियो।
घांम कौं न आड़ भयौ फूल फल कौ न लाड़,
ए रे ताड़ व्रच्छ ! एतो वढ़ि कै कहा कियो ॥ १ ॥

किसी पुरुष ने अत्यंत वढ़ करके किसी प्रकार का स्वार्थ परार्थ नहीं किया, उस प्रसंग में यह अप्रस्तुत ताड़ वृत्त का वृत्तांत कहा गया है। इस

अलंकार का साक्षात् स्वरूप नहीं समझते हुए महाराजा भोज ने भी दंडी के दिये हुए धोरी के उक्त उदाहरण से भ्रम कर इस अलंकार का यह स्वरूप समझा है, कि केवल अप्रस्तुत का वर्णन असमंजस होता है, सो स्तुति के योग्य नहीं जिसकी किसी निमित्त से स्तुति कर देना अलंकार है, तब "अप्रस्तुतप्रशंसा" नाम का अर्थ किया है "स्तुति के योग्य नहीं जिसकी स्तुति"। यहां "अ" अव्यय निषेध अर्थ में है। "प्र" उपसर्ग का वही अर्थ है जो "स्तु" धातु का है। स्तुत का अर्थ है स्तुति के योग्य। प्रशंसा शब्द का अर्थ है स्तुति॥ उनका यह लक्षण है—

अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादस्तोतव्यस्य या स्तुतिः॥

अर्थ—जो स्तुति करने के योग्य नहीं उस की स्तुति वह अप्रस्तुतप्रशंसा होवेगी॥ महाराजा भोज ने अपने लक्षणानुसार ये उदाहरण दिये हैं—

॥ चौपाई ॥

सुलभ भखत तृन मन अधीनता,
धनिकन सौं नहिं करत दीनता॥
वह वनचारी मृग पशु वाजत,
हम सुबुद्धिवारे जु विराजत॥ १॥

यहां मृग पशु हैं, इसलिये मृग स्तुति कर ने के योग्य नहीं, उन की वक्रोक्ति से स्तुति है॥

॥ वैताल ॥

कृश होत उदर रु बढ़त वेग जु होत इंगित जांन,
सिध होत चंचल लक्ष में जु लगाय लैनौं बांन॥
दुर्व्यसन मृगया कौं कहत यह है जु मिथ्या वांन,
जग मांझ और विनोद किस में है जु याहि समांन॥ १॥

यहां "अहिंसा परमो धर्मः" इस वेद आज्ञा से मृगया निंदा के योग्य है, इसलिये मृगया स्तुति करने के योग्य नहीं, जिस की स्तुति है॥ हमारे मत महाराजा की भी यह भूल है, इस स्थल में तो

हम से स्पष्ट किया हुआ वक्ष्यमाण व्याघात अलंकार होवेगा। मृग और मृगया लोक में स्तुति के अयोग्य हैं। सो महाराजा ने उक्त रीति से स्तुति करके मृग और मृगया की प्रसिद्ध अस्तोतव्यता को धक्का लगा दिया है। इस विषय का सर्व संग्राहक व्याघात नाम से ही संग्रह करना समीचीन है, सो व्याघात प्रकरण में स्पष्ट किया जायगा। महाराजा भोज के मतानुसार तौ "निंदा के योग्य नहीं जिस की निंदा" ऐसा "अप्रस्तुतनिंदा" नामक भी अप्रस्तुतप्रशंसा के विपरीत भाव में अलंकारांतर होना चाहिये॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

धन गरीब की नार वह, सोवत वंदत चंद॥
धिक धनाढ्यता जहँ लगै, कोट कपाटन वृंद॥ १॥

धन सर्वार्थ साधक होने से सर्वथा स्तुति के योग्य है, जिस की यहां निंदा है। हमारे मत सर्व संग्राहक नाम रूप ही है लक्षण जिस का ऐसे व्याघात में इस का भी संग्रह हो जायगा। सारूप्य निबंधना के अप्रस्तुत वृत्तांत को उपमान जानते हुए सूत्रकार वामन ने अप्रस्तुतप्रशंसा नाम का अप्रस्तुत अर्थात् उपमान मात्र का कथन यह अर्थ मान कर यह लक्षण निर्माण किया है—

उपमेयस्य किंचिल्लिङ्गमात्रेणोक्तौ
समानवस्तुन्यासोऽप्रस्तुतप्रशंसा॥

अर्थ— उपमेय को किंचित् चिन्ह मात्र से कहने के लिये समान अर्थात् उपमान वस्तु का धरना सो अप्रस्तुतप्रशंसा॥

यथाः—

॥ चौपाई ॥

को अपरहि लावराय सिंधु यह,
तरत कमल युग सीतरास्मि सह॥
कदली कांड मृणाल दंड तँह,

मज्जित दुरद कुंभ सोभत जँह ॥ १ ॥

यहां अवयवों सहित नायिका रूप उपमेय को साक्षात् न कह कर किंचित् चिन्ह मात्र से कहने के लिये तादृश सिंधु रूप समान वस्तु को कहा है। उन्हों ने भी भूल से अप्रस्तुतप्रशंसा का साक्षात् स्वरूप नहीं समझा है। केवल उपमान के कथन में तो अभेद अलंकार ही होवेगा ॥ इस अलंकार को अन्योक्ति नाम से कहता हुआ रुद्रट यह लक्षण कहता है:—

असमानविशेषणमपि
यत्र समानेतिवृत्तमुपमेयम् ॥
उक्तेन गम्यते पर-
मुपमानेनेति सान्योक्तिः ॥ १ ॥

अर्थ—जहां असमानविशेषणवाला भी समान वृत्तांतवाला उत्कृष्ट उपमेय कहे हुए केवल उपमान से गम्य होवे वह अन्योक्ति ॥ अन्योक्ति नाम का अर्थ करें, प्रस्तुत को छोड़ कर दूसरे की उक्ती तौ पर्यायोक्ति है। और अन्य का अर्थ इन्हों ने उपमान किया है वह रक्खें तो अभेद अलंकार है। और इन्हों ने गम्यता कही सो तौ व्यंग्य का विषय है। अलंकार नहीं। सब प्रकार से इन की भी भूल है ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

प्रफुलित सरसिज हंस जुत, तज उज्जल जल ताल ॥
सेवत गुदलित तुच्छ सर, बक हौ हौ न मराल ॥ १ ॥

इन्हों ने भी अप्रस्तुतप्रशंसा का स्वरूप साक्षात् नहीं समझा है। यहां प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति, काव्यप्रकाशकारादिक तौ आक्षेप से होती है ऐसा कहते हैं। कोई लोक आक्षेपा नामक चौथी वृत्ति और आक्षेपार्थ चौथा अर्थ मानते हैं। आकर्षण न्याय से जो अर्थकी प्रतीति करावे वह आक्षेपा वृत्ति है। सर्वस्वकार यहां प्रस्तुतार्थ की प्रतीति व्यंजना से होने का कहता है। अलंकाररत्नाकरकार यहां प्रस्तुतार्थ की प्रतीति लक्षणा से होने का कहता है। हमारे मत में इस अलंकार के

उदाहरणों में किसी वृत्ति का नियम करना आवश्यक नहीं । यहां तो श्रोताओं की बुद्धि के अनुसार वृत्तियां होती हैं ॥ सारूप्य निबंधना अप्रस्तुतप्रशंसा का वाच्यार्थ कहीं तो तटस्थता से स्थित होता है, अर्थात् प्रतीयमान अर्थ के साथ आरोप की अपेक्षा के विना रहता है। जैसे "उष्ण रक्त रस जुत" इति। इस उक्त उदाहरण में सिंह वृत्तांत में श्रेष्ठ पुरुष वृत्तांत के आरोप विना भी सिंह वृत्तांत पर्यवसान पा जाता है, अर्थात् सिंह का वर्णन बन जाता है। और कहीं वह वाच्यार्थ अपनी सिद्धि के लिये प्रतीयमान अर्थ के आरोप की अभिलाषा रखता है ॥

यथाः—

॥ सवैया ॥

है रसना की विधी जु विपर्यय,
श्रोनन चंचलताई महा है।
आपने औं पर मांझ निरंतर,
जो मद विस्मृत दृष्टि रहा है ॥
है जु मलीन प्रसिद्ध सदा,
बिसिनी रत औं कर शून्य लहा है।
जानते सेवत वारन कौं,
अलि के कुल कौं हठ ऐसौ कहा है ॥ १ ॥

हाथी की रसना दूसरे प्राणियों से विपरीत होती है। हाथी की जिह्वा की अनी कंठ की ओर होती है। पक्षे विपरीत वचन । हाथी के कान चंचल होते हैं। पक्षे कानों का कच्चापन, अर्थात् श्रवण मात्र से विचार विना वचन को मानना। हाथी के मद जल प्रसिद्ध है। पक्षे गर्व। हाथी सदा मलीन रहता है, "गजस्नान व्यर्थता" कहावत ही है। पक्षे मन का मैलापन। हाथी आहारार्थ कमलनियों में आसक्त होता है। पक्षे व्यसनवालों से आसक्त। हाथी का शुंडादंड सरंध्र होता है। पक्षे धन शून्य हस्त। वारण हाथी का पर्याय नाम है। पक्षे निवारक। "उष्ण रक्त रस जुत" इति! इस पूर्व उदाहरण में प्रथम अप्रस्तुत वाक्यार्थों का बोध हो जाता है। यहां अप्रस्तुत वाक्यार्थों का बोध सिद्ध नहीं होता;

क्योंकि अप्रस्तुत भ्रमर के गज सेवा त्याग में कर्ण चपलता मात्र हेतु है। रसना विपर्यय आदि हेतु नहीं हैं, मद उलटा सेवन में हेतु है, इसलिये प्रथम ही भ्रमर में मूढ सेवक का, और रसना विपर्यय आदि में विपरीत वचन आदि का आरोप हो करके वाक्यार्थ वोध सिद्ध होता है; क्योंकि गज की रसना विपर्यय आदि में दुष्प्रभु की रसना विपर्यय आदि का आरोप न करें, तब तक भ्रमर के गज के असेवन में गज की रसना विपर्यय आदि हेतु न होने से वाक्यार्थ नहीं वनता। यहां आरोप होने से रूपक की शंका न करनी चाहिये;क्योंकि यहां रूपक अप्रधान है। प्रधान तो अप्रस्तुतप्रशंसा ही है। यहां दुष्प्रभु सेवा हठी पुरुष के प्रसंग में उक्त भ्रमर की अप्रस्तुत कथा कही गई है। और कहीं प्रतीयमान अर्थ भी किसी अंश में वाच्यार्थ का आरोप चाहता है। और वाच्यार्थ किसी अंश में प्रतीयमान अर्थ का आरोप चाहता है॥

यथाः—

॥ चौपाई ॥

सरज सकंटक पांडुर वरणी,
केतकि सेवत क्या अलि करणी॥

केतकी पक्ष में रज पराग है। "परागः सुमनोरजः" इत्यमरः। नायिका पक्ष में सरज रजस्वला धर्म सहित। यहां जैसे सरजता वाच्यार्थ और प्रतीयमान दोनों अर्थों में रहती हुई सेवन की अनुचितता में निमित्त है, तैसे पांडुर वर्णता और सकंटकता नही; क्योंकि पांडुर वर्णता केतकी में भ्रमर सेवन में वाधक नहीं, इसलिये पांडुता के अंश में केतकी नायिका के आरोप की अपेक्षा रखती है। और सकंटकता अंश नायिका पक्ष में रोमांच है, सो नायिका की सेवा में वाधक नहीं, इसलिये केतकी का नायिका में आरोप अपेक्षित है। यहां शंखिनी नायिकासक्त नायक के प्रसंग में उक्त भ्रमर की अप्रस्तुत कथा कही गई है। "उष्णरक्त रस" इति। यहां वाच्यार्थ के अन्वय की योग्यता है॥

॥ दोहा ॥

दैवागत अलि कौ कुटज, मकर अनादर मित्त॥

महामान्य मकरंद निधि, अरविंदन कौ नित्त ॥ १ ॥

इत्यादि तिर्यक् प्रश्नोत्तर में वाक्यार्थ के अन्वय की योग्यता नहीं है। "है रसना की" इति। यहां वाच्यार्थ के अन्वय की योग्यता अयोग्यता दोनों हैं। जैसा कि ऊपर कह आये हैं। प्रकाशकारादि का तौ यह सिद्धांत है, कि अप्रस्तुतप्रशंसा सारूप्य संवंध, सामान्य विशेष भाव संवंध और कार्य कारण भाव संवंध इन तीन संवंधों से ही होती है। रत्नाकरकारादि का यह सिद्धांत है, कि इन से इतर संवंधों से भी होती है। उन का अनुयायी कुवलयानन्दकार यह उदाहरण देता है:—

॥ चौपाई ॥

ताप हरण भगवत तुव हासी,
चंद्र किरण ताकी तुस रासी ॥
नासा अनल उड़ी दिश दिश में,
भ्रमन करत लखियत सो निश में ॥ १ ॥

यहां वरदराज भगवान् का हास्य प्रस्तुत है। चंद्र किरण अप्रस्तुत हैं। उन अप्रस्तुत चंद्र किरणों को तुस ठहराने से हास्य को धान्यसारता प्रतीत होती है। यहां तुस का और धान्य का सहोत्पत्ति संवंध है। इन प्राचीनों के मतानुसार तौ और भी कई संवंधों से अप्रस्तुतप्रशंसा होती है॥ यथावाः—

॥ मनहर ॥

तेरे मुख चंद की वरन छबि या कौं अप-
छरन हस्यौ है या तैं या की मत गई है।
दूजे तेरे नैंन के हरायल कुरंग जे वे,
तिन हू पचारके* कुमाति अति दई है॥
वाही वैर धायो है कलंक विष बांधि के,
धुरंधर विरंच हू ने ऐसी निरमई है।
आप न मरत मोहि मारिबे अरत सुधा,

"उ
थौं

* फुसला कर

धर हू करत आज नई वमनई है ॥ १ ॥

इति धुरंधर कवेः ।

प्रसंग विध्वंस मानमोचनोपाय करते हुए नायक की नायिका प्रति यह उक्ति है । यहां मानिनी नायिका के मुख का अलौकिक सौंदर्य प्रस्तुत है । अप्सराओं से किया हुआ उस मुख का वर्णन अप्रस्तुत है । अप्साराओं के वर्णन करने का कहने से मुख का अलौकिक सौंदर्य प्रतीत होता है। अप्सराओं से किये हुए वर्णन का और मुख का प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव संवंध है। हमारे मत वहुधा सारूप्य संवंध में अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार होता है । और कहीं प्रस्तुत कथा का और अप्रस्तुत कथा का सामान्य विशेष भाव संवंध होवे वहां भी अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार होता है । कार्यनिवंधनादि स्थलों में तो अप्रस्तुत कार्यादि से प्रस्तुत कारण आदि की प्रतीति व्यंग्य मात्र है । यह प्रथम लिख आये हैं । विशेष्य प्रस्तुत होता है, विशेषण अप्रस्तुत होते हैं, सो इस प्रकार तो अप्रस्तुत का कथन सर्वत्र होता है। "ताप हरन भगवत" इति । इस काव्य में तो हेतु अलंकार है । "तेरे मुख चंद की" इति । यहां प्रथम चरण में हेतु अलंकार और गम्य काव्यार्थापत्ति अलंकार हैं । दूसरे चरण का संवंध होने से हेतुमाला अथवा गम्य समाधि अलंकार है । चतुर्थ चरण में प्राचीन मत का असंगति अलंकार और हमारे मत का विचित्र अलंकार है ॥

इति अप्रस्तुतप्रशंसा प्रकरणम् ॥ १२ ॥

॥ अभेद ॥

अभेद शब्द का अर्थ है भेद का अभाव ।

॥ दोहा ॥

वर्णत जहां अभेद कर, ता कौं कहत अभेद ॥
है अवनी के इंद्र यह, अलंकार विन खेद ॥ १ ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

जिन छिन में किय दग्ध पुर, उपजैं कोप कराल ॥
है धूर्जटि साक्षात ही, यह जसवँत भुविपाल ॥ १॥

यहां राजराजेश्वर जसवंतसिंह का धूर्जटि से अभेद करके वर्णन किया है, इसलिये यहां अभेद अलंकार है। यहां ऐसी शंका न करनी चाहिये, कि अभेद में मुख्यार्थ बाध होने से वक्ष्यमाण रूपक में ही पर्यवसान होवेगा ; क्योंकि इस अलंकार शास्त्र में सर्वत्र बाध मूल लक्षणा का अंगीकार नहीं। अन्यथा कल्पितोपमा अतिशयोक्त्यादि बहुतसे अलंकार नष्ट हो जाँयगे, इसलिये यहां विवक्षा वश से अभेद में ही पर्यवसान है। और वह अनुभव सिद्ध चमत्कारकारी होने से अलंकार है। प्राचीन अभेद स्थल में भी रूपक अलंकार मानते हैं। काव्यप्रकाश में रूपक का यह लक्षण है—

तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः ॥

अर्थ—उपमानोपमेय का जो अभेद है वह रूपक है॥ सो प्राचीनों की यह भूल है; क्योंकि रूपक का स्वरूप तो रूपवान् करना है। जैसा नाटक में राम लक्ष्मणादि का स्वांग बनाते हैं, तहां नट को रामादिकों का स्थानापन्न करते हैं। न कि ऐसा अभेद करते हैं, कि राम यही है, दूसरा नहीं है। यह वक्ष्यमाण रूपक प्रकरण में सविस्तर कहा जायगा ॥

यथावाः—

॥ सवैया ॥

कवि के कलत्रच्छ मुरार कहै,
छवि के निधि औ रवि के कुल केतु हौ।
नित नूतन चारु पवित्र चरित्र सौं,
अद्भुतता चित कौं अति देतु हौ ॥
पहिले पुल पाहन की प्रकटी,
तब तौ सुर भंजन गंजन हेतु हौ।

अब कौन के जीतवे कौं जसवंत,
रचौं जस इंदु मनीन की सेतु हौं ॥ १ ॥

यहां शब्द से राजराजेश्वर का और रामचंद्र का अभेद नहीं कहा है, किंतु अर्थ सिद्ध अभेद है, इसलिये यह व्यंग्य रूप अभेद है। प्राचीनों ने इस को व्यंग्य रूपक कहा है, सो यह उक्त रीति से रूपक नहीं ॥ यहां पाहन सेतु रचना के, और जस रूप चंद्रकांत मणियों की सेतु रचना के तारतम्य से यह ज्ञान होता है, कि इसवेर रामचद्राभिन्न जसवंतसिंघ राजराजेश्वर का उक्त आरंभ रावण से अधिक किसी को जीतने के लिये है, सो इस ज्ञापक हेतु की संकीर्णता है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

कहां जु मेरी अल्प मति, कहां सु जस जसवंत ।
मैं डूंडे सौं मोह वस, सागर तर्यौ चहंत ॥ १ ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

रसना सौं चाहत कह्यौ, जस समस्त जसवंत ॥
सो मैं नलिनी रंध्र सौं, अचयौ उदधि चहंत ॥ २ ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

जो दाता में सौम्यता, पूरब पुन अनुसार ॥
सो ही पूरण चंद्र में, अकलंकता मुरार ॥ ३ ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

मुगधा तिय में नेह सो, सुवरन मांझ सुगंध ॥

यहां असंभवती हुई वस्तु का संबंध है, तथापि यहां अतिशयोक्ति अलंकार नहीं; क्योंकि यहां अतिशय अंश में पर्यवसान नहीं; पर्यवसान तो अभेद अंश में है, इसलिये यह कल्पित अभेद अलंकार है ॥

यथावा:—

॥ मनहर ॥

सुर के समाज सुर सदन में बैठे जा की,
धरैं अभिलाख लाख मेट चित चैन कौ।
जाहि लहि जंतु निज आतम कौ तंत जानि,
करि भव अंत लहै संत पद ऐन कौ ॥
ऐसी नर देह पाय विषय सनेह छाय,
चित हू न कीन्हौ हाय रांम नांम लैन कौ।
काठ काज काट्यौ सु तौ सुरतरु आंगन कौ,
कौड़ी के वदल वेच्यौ चिन्तामनि रैन कौ ॥ १ ॥

इति समयसारनाटक भाषा ग्रंथे ॥

रत्नाकरकार का यह लक्षण है—

नियतधर्महानावारोप्यमाणस्यातिसाम्यमभेदः ॥

अर्थ– नियत अर्थात् नियम करके रहते हुए, धर्म की हानि के कथन से सिद्ध भया हुआ, जो आरोप्यमाण का अतिसाम्य सो अभेद अलंकार ॥

यथा:—

॥ दोहा ॥

तुव अरि नारिन के लिये, सुन जसवंत महीप ॥
वन ओषधियां होत हैं, विना तेल के दीप ॥ १ ॥

दीपक में नियम करके रहता हुआ जो तैल पूरणता धर्म ,उस की हानि कहने से अन्य सब प्रकार से वन औषधियों का दीपक के साथ अत्यंत साम्य सिद्ध होता है। अन्य प्राचीन इस विषय में दृढारोप रूपक कहते हैं। हमारे मत ऐसे विषय में रूपक भी नहीं, किंतु विशेषोक्ति का चमत्कार प्रधान होने से हमारा स्पष्ट किया हुआ वक्ष्यमाण विशेषोक्ति अलंकार है, सो विशेषोक्ति प्रकरण में सविस्तर कहा जायगा ॥ रत्नाकरकार कहता है, कि अभेद मात्र की प्रतीति में तौ रूपक

है। और नियत धर्म की हानि से शेष सब प्रकार की अभेद प्रतीति में अभेद अलंकार है। इस रीति से प्रतीति का भेद है । अन्यथा परिणाम आदि का भी रूपक में अंतर्भाव हो जायगा। सो ऐसे विषय में रूपक नहीं, किंतु अभेद है। यह तो हम ने प्रथम कह दिया। और अभेद में उक्त किंचिद्विलक्षणता तो प्रकारांतरता की साधक है। न कि अलंकारांतरता की साधक। और रत्नाकरकार इस प्रकरण में कहता है, कि अभेद मात्र को रूपक मानो तो परिणाम में भी अभेद है, इसलिये परिणाम का भी रूपक में अंतर्भाव हो जायगा। सो रत्नाकरकार ने परिणाम का साक्षात् स्वरूप नहीं समझा, इसलिये ऐसा कहा है, सो परिणाम का स्वरूप वक्ष्यमाण परिणाम प्रकरण में स्पष्ट होवेगा। अभेद अलंकार का स्वरूप तो धोरी के नामानुसार अभेद मात्र है। रत्नाकरकार के लक्षण में अभेद विवक्षा करें तो भी यह लक्षण सर्वव्यापी न होने से अव्याप्ति दोषवाला है ॥

इति अभेद प्रकरणम् ॥ १२ ॥

॥ अल्प ॥

अल्प शब्द का अर्थ प्रसिद्ध है। कहा है चिंतामणि कोपकार ने " अल्पं स्तोके "। अधिक अलंकार के विपरीत भाव में यह अल्प अलंकार है ॥

॥ चौपाई ॥

रम्य होत जिँह ठां अलपाई,
अल्प अलंकृत सो सुखदाई ॥
जसवँत अन जस अल्प जु कीन्हौ,
क्या तुम यह प्रथमहि पढ़ लीन्हौ ॥ १ ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

छाजत है धन छीन ह्वै, अवनि उदार उतंग ॥

ज्यौं शोभत जसवंत के मद सौं चीण मतंग ॥ १ ॥

दान करने से धन के विषय में उदार की अल्पता, मद से शरीर के विषय में राजराजेश्वर के हाथियों की अल्पता रुचिकर होने से अलंकार है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

चढ्यौ न पूरन तरुन वय, पढ्यौ न अजहु असेस ॥
मढ्यौ सुजस सरदारसी कवरां गुरु मरु देस ॥ १ ॥

यहां महाराज कुमार सरदारसिंह के वय की अल्पता, और वय अल्पता निमित्तक विद्या की अल्पता, अलौकिक जस को उत्पन्न करने से रुचिकर हो कर अलंकार है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

जिन के चित्त उदार हैं, रीझत जिँह तिँह चाल ॥
गाल वजायें हू करें, गौरी कंत निहाल ॥ १ ॥

इति वृन्दसतशत्याम् ।

यहां वाणी की अल्पता है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

नहिँ पराग नहिँ मधुर मधु, नहिँ विकास यह काल ॥
अली कली ही सौं बँध्यौ, आगे कवन हवाल ॥ १ ॥

इति विहारी सतशत्याम् ।

यहां पुष्प की अवस्था की अल्पता है। यह उदाहरण अप्रस्तुतप्रशंसा संकीर्ण है ॥

यथावाः—

॥ नीसांणी ॥

दळ डोह्या पतशाहदा, पै दीठा थोड़ा ॥

गजबंधी जेहा जवांन, जै जेहा घोड़ा ॥१ ॥

यहां मरुधराधीश महाराजा गजसिंह कीसदृशता की और उक्त महाराजा के जय नामक हय की सदृशता की अल्पता रुचिकर होने से अल्प अलंकार है ॥

यथावाः—

॥ मनहर ॥

सुमन में वास जैसे सुमन में आवै कैसे,
नांहीं नां कहत नांहीं हां कह्यौ चहतु है ।
सुरसरी सूर जा में सुरसती सोभै जैसे,
वेद के वचन वाचे साचे निवहतु है ॥
परवा के इंदु की कला ज्यौं रहै अंबर में,
परवा कौं अच्छ परतच्छ न लहतु है ॥
जैसे अनुमांन परमांन पर ब्रह्म त्यौं हीं,
कामिनी की कटि कवि मीरन कहतु है ॥ १ ॥

इति मीरन कवेः ।

यहां कामिनी काटि की अल्पता रमणीय होने से अलंकार है ॥ कहीं किसी निमित्त से अल्पता होती है । कहीं स्वाभाविक अल्पता होती है ॥ " छाजत हैं धन छीन व्है" इति । यहां दान निमित्त से धन की और मद निमित्त से करि कलेवर की अल्पता है । "जिन के चित्त उदार हैं " इति । यहां वाणी की स्वाभाविक अल्पता है ॥ चंद्रालोक का यह लक्षण है—

अल्पं तु सूक्ष्मादाधेयाद्यदाधारस्य सूक्ष्मता ॥

अर्थ– जो सूक्ष्म आधेय से आधार की सूक्ष्मता वह अल्प अलंकार ॥ इन का उदाहरण यह है —

वा कर जपमाला वनीं, वींटी वल्लभ वियोग ॥

यहां आधेय मुंदरी के मालावत् लंबायमान होने से विरहिनी कर रूप आधार की अल्पता है ॥ इन का अभिप्राय अधिक अलंकार

अवज्ञा अलंकार को उल्लास अलंकार का विपरीत भाव मानता हुआ:—

एकस्य गुणदोषाभ्यामुल्लासोन्यस्य तौ यदि ॥

अर्थ—जो एक के गुण दोष से दूसरे को गुण दोष होवै वह उल्लास अलंकार ॥ ऐसा उल्लास का लक्षण कह कर अवज्ञा का यह लक्षण कहता है—

ताभ्यां तौ यदि न स्यातामवज्ञालंकृतिस्तु सा ॥

अर्थ— ताभ्यां अर्थात् अन्य के गुण दोष करके जो अन्य को गुण दोष न होवे वह अवज्ञा अलंकार ॥

क्रम से यथाः—

॥ दोहा ॥

सरवर पाये हू भवत, घट कौं कम जल लाभ ॥

यहां सरोवर के अधिक जल रूप गुण से घट को अधिक जल रूप गुण प्राप्त नहीं हुआ ॥

॥ दोहा ॥

सकुचित यदपि सरोज क्या, सुधारश्मि कौं हानि ॥

यहां सरोज के सिकुड़ने रूप दोष से सुधारश्मि को कुछ दोष प्राप्त नहीं हुआ। कुवलयानंद के अनुसारी रसगंगाधरकार ने भी उल्लास अलंकार के आगे अवज्ञा का यह लक्षण कहा है:—

तद्विपर्ययोऽवज्ञा ॥

अर्थ— उल्लास के विपर्यय में अवज्ञा अलंकार है ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

किय वेदांताभ्यास तउ, नहिं वैराग्य वराक ॥
सिंधु निमग्न जु चिर समय, तदपि न मृदु मयनाक ॥ १ ॥

हमारे मत में अंगीकार और अनंगीकार तो कर्ता की इच्छा के आधीन हैं, इसलिये अंगीकार अनंगीकार और वस्तु हैं। गुण दोष से गुण दोष की प्राप्ति अप्राप्ति और वस्तु हैं। " सरवर पाये हू भवत, घट कौं कम जल लाभ " ॥ यहां घट को अधिक जल लेने का अनंगीकार

नहीं; किंतु घट में उस के प्रमाण से अधिक जल समाता ही नहीं। अन्य के गुण दोष से गुण दोष न होना तौ अतद्गुण का विषय है। "सरवर पाये हू" इति। यहां घट अल्प होने से सरोवर से अधिक जल लाभ का संभव न होने से गुण से गुण न होना समझा ही नहीं जाता। यहां अलंकार तौ अप्रस्तुतप्रशंसा है। और "सकुचित" इति। यहां भी संकोच पाने का कर्ता सरोज कहा गया है, इसलिये इस दोष से चंद्र को दोष आने का संभव नहीं, इसलिये यहां भी दोष से दोष न होना समझा नहीं जाता। यहां भी अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है। और "किय वेदांताभ्यास" इति। यहां

॥ सवैया ॥

हाथ गहे हर नें हित सौं,
सुत सागर लच्छि के आदि ददाई।
अंबुज चक्र हुते अधिके गुन,
रावरे कौं पहुंचें न गदाई ॥
लायक ह्वै मुख लागत हौ,
यह हेतु न मून गहौ जु कदाई।
जुद्ध असंखन जीत वजे पै,
रहे तुम संख के संख सदाई ॥ १ ॥

इति कस्यचित्कवेः।

इस उदाहरण की नांई विचित्र हेतु है। जहां कारण है और कार्य नहीं एतन्मूलक रोचकता मानी जायगी तहां तौ कार्य कारण संबंधी विचित्रता ही अलंकार होगा। और गुण से गुण न होने में रोचकता मानी जायगी तहां अतद्गुण ही अलंकार होगा। गुण दो प्रकार का है। भला और बुरा। सो अतद्गुण प्रकरण में दिखा आये हैं॥ प्राचीनों ने अवज्ञा अलंकार के स्वरूप को समझा ही नहीं॥

इति अवज्ञा प्रकरणम् ॥ १५ ॥

॥ अवसर ॥

अवसर तो प्रस्ताव है। कहा है चिंतामणि कोषकार ने "अवसरः प्रस्तावे"। प्रस्ताव अर्थात् मौका। इस अलंकार का स्वरूप समय साधना है। सम अलंकार का स्वरूप यथायोग्यता है। इन की विलक्षणता अनुभव सिद्ध है।

॥ दोहा ॥

होय जहां अवसर वहै, अवसर भूपन जांनि ॥
अवसर के दांनी जसा, सुनियें यह कवि वांनि ॥ १ ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

इंद्र न वूठौ अवनि सिर, रूठौ ग्रीपम घांम ॥
तिण पुळ तूं तूठौ जसा, सरवर भरया तमांम ॥ १ ॥

विक्रमी संवत् उन्नीस सौ अड़तालीस १९४८ में मारवाड़ देश में इंद्र ने वृष्टि नहीं की, और ग्रीष्म ऋतु में अत्यंत धूप हुई, उस पुळ में अर्थात् अवसर में राजराजेश्वर ने संतुष्ट हो कर प्रजापालन के लिये वालसमुद्र तलाव में संचय का जल था, सो नल खोल कर जोधपुर शहर के गुलावसागर आदि सरोवर भर दिये। यह कृत्य राजराजेश्वर ने अवसर पर किया, इसलिये यहां अवसर अलंकार है ॥

यथावाः—

॥ मनहर ॥

प्रांन जो तजैगी विरहाग में मयंक मुखी,
प्रांनघाती पापी कौन फूली ये जुही जुही।
चिंतामनि वेस* किधौं मधु कौ मयंक किधौं,
रजनी निगोडी रंग रंगन चुही चुही ॥
भृंगी गन गांन किधौं मदन के पांचौं बांन,

* वय।

दच्छिन कौ पांन किधौं कोकिला कुहो कुही ।
जौ लौं परदेसी मनभावन विचार कीन्हौ,
तौ लौं तूती* प्रकट पुकारी है तुही तुही ॥ १ ॥

इति चिंतामणि कवेः ॥

यहां तू ही नायिका का प्राणघाती होगा, ऐसा पक्षी विशेष तूती का बोलना अवसर पर हुआ, इसलिये अवसर अलंकार है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

तावड़ तड़ तड़ तांह, थळ सामै चड़तां थकां ॥
लाधौ लड़थड़ तांह, जाडी छाया जेठवौं† ॥ १ ॥

इति कस्यचित् मरुदेश निवासिकवेः ॥

यह अवसर अलंकार अति प्राचीनों का माना हुआ है । जिस को महाराजा भोज के पहले प्राचीनों ने पर्याय नाम से कहा है ॥ सो ही आज्ञा की है महाराजा भोज ने—

मिषं यदुक्तिभङ्गिर्याऽवसरो यः स सूरिभिः ।
निराकाङ्क्षोऽथ साकाङ्क्षः पर्याय इति गीयते ॥ १ ॥

अर्थ—जो मिष, जो उक्ति भंगि अर्थात् रचनांतर से कथन, और जो अवसर इन को पंडितों ने पर्याय नाम से कहा है । वह अवसर निराकांक्ष अथवा साकांक्ष होता है ॥ महाराजा ने अवसर का यह उदाहरण दिया है—

॥ दोहा ॥

कह्यौ जसोदा मात नैं, है बालक जु मुरार ॥
लख्यौ सहास जु कृष्ण मुख व्रज वनिता वह वार ॥ १ ॥

कृष्ण को यशोदा माता ने बालक कहा, उस समय कृष्ण के साथ क्रीड़ा की थी, जिस व्रज वधू को सहास हो कर कृष्ण का मुख

* पक्षी विशेष. वह "तूही तूही" ऐसे बोलता है ।

† क्षत्रियों में जाति विशेष ।

देखने का अवसर है। यहां अवसर पर हसना है। कोप में अवसर का भी नाम पर्याय है। सो ही कहा है चिंतामणिकोपकार ने "पर्यायः अवसरे"। सो महाराजादिकों ने इस के अनुसार अवसर का भी पर्याय नाम से संग्रह किया है। पर्याय शब्द का "परित्यज्य यानं पर्यायः" यह योगार्थ है। छोड़ कर जाना अर्थात् एक को छोड़ दूसरी जगह जाना। सो इस विषय में पर्याय नामक अलंकार कितनेक प्राचीनों से माना गया है, वह आगे कहा जायगा। महाराजा ने उस पर्याय में अवसर अलंकार का अंतर्भाव नहीं किया है, किंतु कोपानुसार अवसर अलंकार का भी पर्याय नाम मात्र से संग्रह किया है, ऐसा जानना चाहिये। महाराजा के मतानुसार "तौ लौं तूती प्रकट पुकारी है तुही तुही"। यहां उक्त अवसर में तूती के ऐसे बोलने में आकांक्षा नहीं है, कि इस ने किस अभिप्राय से ऐसा कहा? क्योंकि वह तिर्यक् है, इसलियेयह निराकांक्ष है। और "लख्यो सहास जु कृष्ण मुख, व्रज वनिता वह वार"। यहां व्रजवनिता इस अवसर में कृष्ण का मुख देख कर किस अभिप्राय से हसी, ऐसी आकांक्षा है, इसलिये यहां साकांक्ष है। हमारे मत यह उदाहरणांतर है। प्रकारांतर कहना महाराजा की भूल है।॥

इति अवसर प्रकरणम् ॥ १६ ॥

॥ आक्षेप ॥

आक्षेप शब्द का अर्थ है अपवाद। अपवाद शब्द का अर्थ है बाधक। कहा है चिंतामणि कोशकार ने "आक्षेपः अपवादे, अपवादः बाधके"। बाधक अनेक प्रकार के हैं। यहां निषेध में रूढि है॥

॥ दोहा ॥

आक्षेप सु आक्षेप है, छितिपति लेहु पिछांन ॥

यथाः—

ह्वौ न हे न ह्वै है नहीं, जसवंत सौ जसवांन ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर की समता का निषेध है । पर्यवसान समता के निषेध में है । वर्णनीय राजराजेश्वर का उत्कर्ष तो उक्त निषेध का फल है । ऐसा अन्यत्र भी जान लेना चाहिये ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

पहरन भूषन कनक के, कहि आवत यह हेत ॥
दरपन के से मोरचे, देह दिखाई देत ॥ १ ॥

इति विहारी सप्तशत्याम् ।

यहां भूषण धारण का निषेध है । आचार्य दंडी का यह लक्षण है:—

प्रतिषेधोक्तिराक्षेपस्त्रैकाल्यापेक्षया त्रिधा ॥
अथास्य पुनराक्षेप्यभेदानन्त्यादनन्तता ॥ १ ॥

अर्थ— प्रतिषेध का कथन आक्षेप अलंकार है । तीन काल की अपेक्षा से वह तीन प्रकार का है । फिर जिस का आक्षेप किया जावे उस के भेदों की अनंतता होने से आक्षेप अलंकार अनंत हैं ॥ प्रतिषेध का अर्थ है निषेध । सो ही कहा है चिन्तामणिकोपकार ने "प्रतिषेधः निषेधे" ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

क्यों कुवलय धारत श्रवन, हे! कलभाषिनि! नार ॥
क्या कटाक्ष नहिं करत हैं? शोभा यहै विचार ॥ १ ॥

यहां कुवलय को धारण करती हुई का ही निषेध है, इसलिये यह वर्तमान आक्षेप है । "ह्वौ न है न" इति । यहां तीनों काल में आक्षेप है ।

यथावाः—

॥ दोहा ॥

मिल है धन मग कुशलता, नाहिं संशय मम प्रांन ॥
तद्यपि तुम जु विदेश कौं, पिय जिन करहु प्रयांन ॥ १ ॥

यहां नायक के विदेश गमन निषेध का कोई भी कारण न रहते नायिका ने केवल अपनी प्रभुता से निषेध किया है, इसलिये आचार्य दंडी ने इस को प्रभुत्वाक्षेप नामक आक्षेप का प्रकार कहा है।
यथावाः—

॥ दोहा ॥

फरकत अधर रु अरुन दृग, भौंह भंग तुव नार ॥
तद्यपि निरअपराध मम, नांहिन भय जु निहार ॥ १ ॥

यहां भय का कारण अपराध का निषेध होने से यह कारणाक्षेप है। दंडी ने धर्माक्षेप इत्यादि वहुत भेद कहे हैं। हमारे मत ऐसे भेद उदाहरणांतर हैं, न कि प्रकारांतर, इसलिये ग्रंथ विस्तार भय से हम ने नहीं दिखाये हैं। महाराजा भोज का यह लक्षण है—

विधिनाथ निषेधेन प्रतिषेधोक्तिरत्र या ॥
शुद्धा मिश्रा च साक्षेपो रोधो नाक्षेपतः पृथक् ॥ १ ॥

अर्थ—विधि करके अथवा निषेध करके जो प्रतिषेध की उक्ति वह अत्र अर्थात् यहां अलंकार शास्त्र में आक्षेप अलंकार है। वह उक्ति शुद्धा और मिश्रा भी है। और रोध नामक अलंकार आक्षेप से जुदा नहीं॥ रोध का अर्थ है रोकना। रोकना भी निषेध ही है। किसी प्राचीन ने रोध अलंकार माना है। जिस का महाराजा ने निषेध में अंतर्भाव किया है। "व्हो न है न व्हे है नहीं" इति। इत्यादि उदाहरणों में निषेध करके निषेध की उक्ति है।
यथाः—

॥ दोहा ॥

सुख सौं पीव सिधाइयें, पग पग होहु कल्यांन ॥
मैं भी जनमूंगी जहां, तुम तिंह देश प्रयांन ॥ १ ॥

यहां विधि करके निषेध की उक्ति है। जिस काव्य में विधि निषेध दोनों होवें वहां मिश्रा है। महाराजा ने रोध का ऐसा उदाहरण दिया है—

मिली जु पनघट वाट में, ले रीतो घट वाल ॥

यहां क्रिया से पिय गमन का रोकना है। उक्ति नहीं है। और यहां अपशकुन द्वारा रोकने से प्रतिकूल है॥

यथावाः—

॥ छप्पय ॥

प्रथम पिंड हित प्रकट पितर पावन घर आवत,
नव दुर्गाहिं नर पूज स्वर्ग अपवर्ग हिं पावत।
छत्रन दें छितपत्ति लेत भुवि लें सँग पंडित,
केसवदास अकास अमल जल जल जन मंडित।
रमनीय रजनि रजनीश रुचि रमारमन हू रास रति,
कल केलि कलपतरु क्वार में कंत न करहु विदेश मति १॥

इति कविप्रियायाम्॥

यहां वचन द्वारा रोकना है। और नव दुर्गा पूजन आदि द्वारा रोकने से अनुकूल है। यह भी उदाहरणांतर है। वाग्भट का यह लक्षण है—

उक्तिर्यत्र प्रतीतिर्वा प्रतिषेधाय जायते॥
आचक्षते तमाक्षेपमलंकारं बुधा यथा॥ १॥

अर्थ—जहां उक्ति अर्थात् वचन, अथवा प्रतीति, प्रतिषेध के लिये हो जावे उस को पंडित आक्षेप अलंकार कहते हैं॥ वाग्भट के मतानुसार "ह्वो न है न व्हे है नहीं, जसवँत सो जसवांन" ॥ यहां तो निषेध की उक्ति है। "सुख सौं पीव सिधाइयैं" इति। और "मिली जु पनघट वाट में" इति। यहां निषेध की प्रतीति है। कितनेक प्राचीनों का यह सिद्धांत है, कि केवल निषेध लौकिक है, सो रुचिकर न होने से अलंकार नहीं, इसलिये वेदव्यास भगवान् यह लक्षण आज्ञा करते हैं—

प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया॥
तमाक्षेपं ब्रुवन्त्यत्र॥

अर्थ— विशेष प्रतिपादन की इच्छा से अर्थात् वर्णनीय का विशेष वताने की इच्छा से इष्ट का प्रतिषेध इव अर्थात् निषेध जैसा जो

वर्णन उस को आक्षेप कहते हैं ॥ निषेध जैसा कहने का तात्पर्य यह है, कि वास्तव निषेध नहीं; किंतु निषेध का आभास मात्र । व्यास भगवान् के मतानुसारी सर्वस्वकारादि भी निषेधाभास को आक्षेप अलंकार मानते हैं ॥

यथा—

॥ दोहा ॥

मैं कछु दूती हौं नहीं, सुनियैं स्याम सुजांन ॥
है तिंह तिय तन ताप अति, कालानलहि समांन १ ॥

यहां यह दूती अपने दूतीपन का निषेध करती है, परंतु वास्तव में इस में दूतीपन का निषेध है नहीं; क्योंकि यह यहां दूतत्व करती ही है, इसलिये यह निषेध आभास रूप है । और यहां दूती के सत्य कथन ज्ञापन रूप विशेष की प्रतीति होती है । हमारे मत आभासमान निषेध को निषेध अलंकार मानना युक्त नहीं; क्योंकि ऐसे स्थल में प्रधान चमत्कार तो आभास अंश में होता है, निषेध तो यहां गौण हो जाता है, इसलिये यहां अलंकारता तो आभास में है । और आभास केवल निषेध का ही नहीं होता, अनेकों का होता है, सो आभास अलंकार के प्रकरण में कहा जायगा । दंड्याचार्य कृत काव्यादर्श ग्रंथ का टीकाकार प्रेमचंद्र "प्रतिषेधोक्तिराक्षेपः" इस कारिका का अर्थ व्यास भगवान् के मतानुसार लगाता है, कि प्रतिषेध की उक्ति अर्थात् प्रतिषेध का कथन मात्र । न कि वास्तव प्रतिषेध । इस से यहां भी प्रतिषेध के आभास का अंगीकार है; क्योंकि वास्तव निषेध में विचित्रता नहीं । सो हमारे मत प्रेमचंद्र की यह भूल है; क्योंकि ग्रंथकारों के उदाहरण अपने अपने लक्षणों के अनुसार होते हैं, सो दंड्याचार्य के आक्षेप के उदाहरणों में वास्तव निषेध है । न कि निषेध का आभास । और उक्ति का अर्थ आभास पर लगाया जाय तो सहोक्ति, समासोक्ति इत्यादि उक्ति पल्लववाले समस्त अलंकार आभास रूप होने चाहिये, सो हैं नहीं । निषेध में विचित्रता लाने के लिये काव्यप्रकाश गत कारिकाकार ने यह लक्षण कहा है—

निषेधो वक्तुमिष्टस्य, यो विशेषाभिधित्सया ॥
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः ॥ १ ॥

अर्थ—विशेष कहने की इच्छा से जो "वक्तुमिष्टस्य" अर्थात् कहने को वांछित उस का निषेध सो आक्षेप अलंकार। वह दो प्रकार का माना गया है। वक्ष्यमाण विषय और उक्त विषय ॥

क्रम से यथा—

॥ दोहा ॥

आवहु निर्दय कछु कहूं, किस ही के जु निमित्त ॥
कहां न निष्फल है कथन, तुम से अद्रवी चित्त ॥ १ ॥

यहां कहने को चाहे हुए वक्ष्यमाण का निषेध है। सो नायक के निस्नेह का विशेष अर्थात् आधिक्य बताने के लिये है ॥

॥ चौपाई ॥

किंकरि जाय किरातन सौं कह,
मलयागिरी गुहा गन में गह।
शिला कपाट लगाय महाई,
रोक देहु मारुत दुख दाई ॥ १ ॥
मत कह यह कर हीन किराता,
केलि समय वह उन सुख दाता।

यहां अपने कहे हुए का निषेध है, सो नायिका के निज दैव प्रतिकूल का विशेष बताने के लिये है ॥

यथावा—

॥ वैताल ॥

कर मथन साहित सिंधु श्रवनामृत सु लीन्ह निकार,
जिन कुकवि चोर जु लेंहिं हर बुध करहु जत्न अपार।
मत करहु जत्न जु लोक काढ़त जदपि रत्न अनंत,
है तदपि रत्नाकर अबहु लौं सिंधु जग जलपंत ॥ १ ॥

यहां भी अपने कहे हुए का निषेध है। और यह भली उक्ति रूप अमृत रक्षा का निषेध भली उक्ति की अक्षयता रूप विशेष के लिये है। हमारे मत केवल निषेध में भी चमत्कार अनुभव सिद्ध है, सो उन के उदाहरणों से स्पष्ट है। और आचार्य दंडी, महाराजा भोज आदि महाकवियों ने केवल निषेध में अलंकार अंगीकार किया है ॥ और—

॥ दोहा ॥

पावत है निगुनी गुनी, धन अरु धरा सकोय ॥
जसधारी जसवंत सौं, ह्वौ न है न नहँ होय ॥ १ ॥

यह उपमा का निषेध वर्णनीय राजराजेश्वर को उपमा से भी अधिक उत्कर्ष देने से सहृदयों को उपमा से भी अधिक आह्लादकारी अनुभव सिद्ध है। और इस स्थल में अलंकारता होने में केवल निषेध में अलंकारता नहीं माननेवाले प्रकाशकारादिकों की भी संमति है। किसी ने इस को अनन्वय नाम से, और किसी ने असम नाम से अलंकार कहा है, सो अंतर्भावाकृति में सविस्तर दिखाये जायँगे ॥ और " विशेषाभिधित्सया " यह विशेषण भी आवश्यक नहीं; क्योंकि विशेष बताना तो सब अलंकारों में है। " जसधारी जसवंत सौं, ह्वौ न है न नहँ होय "। यह केवल निषेध भी राजराजेश्वर का विशेष बताता है। हमारे मत केवल निषेध, वक्ष्यमाण निषेध, उक्त निषेध, ये सब निषेध आक्षेप अलंकार के उदाहरण भेद मात्र हैं। इन सब का नामार्थ में संग्रह है ॥ काव्यप्रकाश गत कारिकाकार के लक्षण की अन्यत्र अव्याप्ति होती है।

यथावाः—

॥ मनहर ॥

कत्थक कलावत भवैये भांड बाजीगर,
और परनिंदक निषेधे दहुँ राह में।
भनत मुरार नट विट औ नितंबनी की,
आंन छितपति के बिलोकी चित चाह में ॥
सज्जन नरेंद्र सुनौ छत्री जे सनाह स्वांमि,
चारन ते राखें नांम जगत अथाह में।

देख्यौ इन द्वै कौ सनमांन या जिहांन वीच,
रांन रावरे कै कै जुधांन दरगाह में ॥ १ ॥

यहां तृतीय का निषेध है, सो भी आक्षेप अलंकार का उदाहरणांतर है । चंद्रालोक का यह लक्षण हैः—

आक्षेपः स्वयमुक्तस्य प्रतिषेधो विचारणात् ॥

अर्थ—अपने कहे हुए का विचारने से जो निषेध सो आक्षेप अलंकार है ॥ सो "विचारणात्" यह विशेषण भी व्यर्थ है; क्योंकि अपने कहे हुए का निषेध विचार पूर्वक होवे, तब ही रमणीय हो करके भूषण होता है । विना विचार अपनी उक्ति का निषेध तो दूषण होता है । लभ्य उदाहरणानुसार आक्षेप शब्द का अर्थ तिरस्कार मानते हुए वामन ने यह लक्षण उदाहरण कहा है—

"उपमानाक्षेपश्चाक्षेपः" ॥

अर्थ— उपमान का आक्षेप अर्थात् तिरस्कार सो आक्षेप अलंकार ॥ कहा है चिंतामणिकोषकार ने "आक्षेपः भर्त्सने" ।

यथाः——

॥ दोहा ॥

तुव चख तव कुवलय जु किम, तुव मुख तव क्यों चंद ॥
पुनरुक्ति सु रचना हठी, है विधि अति मति मंद ॥ १ ॥

हमारे मत तिरस्कार भी एक प्रकार का आक्षेप ही है । वामन ने लभ्य उदाहरणानुसार लक्षण में उपमान का नियम किया सो भी भूल है; क्योंकि अन्यत्र अव्याप्ति होती है । और आकर्षण से जो अर्थ की प्रतीति होती है उस को भी आक्षेप कहते हैं, सो इस विषय का भी आक्षेप नाम से संग्रह करता हुआ वामन वृत्ति में लिखता है, कि उपमान की आक्षेप से प्रतीति भी सूत्र का अर्थ है । सूत्र में चकार है, जिस से वामन ने यह दूसरा अर्थ अंगीकार किया है ॥

यथाः——

॥ दोहा ॥

पांडु पयोधर इंद्र धनु, सरद नख क्षत धार ॥

करत प्रसन सकलंक शशि, दें रवि ताप अपार ॥ १ ॥

यहां शरद वेश्या इव, इंदु प्रतिनायक इव, रवि नायक इव, ऐसे उपमानों का आक्षेप होता है। हमारे मत अर्थ विशेपता अलंकारता साधक नहीं। आक्षेपार्थ में अलंकार मानें तो वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ में और व्यंग्यार्थ में भी अलंकारता होनी चाहिये। और उक्त आक्षेप का उपमान में नियम करना भी भूल है; क्योंकि आक्षेपार्थ अलंकार होवे तब हरेक वस्तु के आक्षेप में अलंकार हो सकता है ॥

इति आक्षेप प्रकरणम् ॥ १७ ॥

॥ आभास ॥

आभास, यहां आङ् उपसर्ग किंचित् अर्थ में है। "आङ् ईपदर्थे"। भास का अर्थ है भान। आभास इस शब्द समुदाय का अर्थ है किंचित् भासना। यहां किंचित् काल भास ने में रूढि है ॥

॥ चौपाई ॥

जो वस्तू वास्तव नहिं होई,
विद्युत इव छिन मात्र जु सोई ॥
भासत नृप आभास कहावत,
यह भूपन प्रकार वहु पावत ॥ १ ॥

यथाः—

॥ दोहा ॥

अंग सहित यद्यपि जु तुम, हो अनंग मरु कंत ॥
हो दीरघ दृग तदपि तुम, सूक्ष्म दृग जु जसवंत ॥ १ ॥

यहां राजराजेश्वर को अंग सहित कह कर अनंग कहने से श्रवण मात्र में विरोध भासता है, परंतु यहां अंग सहितता यह है, कि स्वामी, अमात्य, सुहृद, कोप, देश, दुर्ग, सेना ये राज्य के सप्तांग हैं। सो राजराजेश्वर इन अंगोंवाले राज्य करके सहित हैं ही। और यहां

अनंगता कामरूपता है। उत्तरार्द्ध में दृग नाम दृष्टि का भी है, सो राजराजेश्वर दीर्घ दृग हैं, तो भी सूक्ष्म दृग हैं, इस कथन में श्रवण मात्र से विरोध भासता है, परंतु विचार दशा में सूक्ष्म दृष्टि तो सूक्ष्म विचार है, इसलिये वास्तव में विरोध है नहीं। तहां विरोध अलंकार का आभास मनरंजन होने से अलंकार है॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

नृप जसवँत मैं हों नहीं, करनहार संदेश॥
जग वंदित तुम सौं नहीं, किन हु शत्रुता लेश॥ १॥

संदेसा करनेवाला तो दूत ही होता है, सो यहां वक्ता किसी राजा का दूत हो कर अपने में राजदूतता का निषेध निज सत्यवादिता द्योतन के अर्थ करता है, परंतु वह वास्तव है नहीं; क्योंकि उत्तरार्द्ध वचन से निज नृपति की राजराजेश्वर में शत्रुता परिहार रूप दूतत्व करता ही है, इसलिये दूतता का निषेध तो श्रवण मात्र में भासता है, विचार दशा में है नहीं। यहां आक्षेप अलंकार का आभास है॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

वदरों नैं पीन्हों जु विष, मूर्छित विरहनि नार॥

यहां प्राचीन मत की असंगति का आभास, और हमारे मत सिद्ध विचित्र हेतु का आभास है॥

यथावाः—

तुम से तुम जसवंत नरेश्वर॥

यहां उपमा अलंकार का आभास है; क्योंकि यहां द्वितीय सदृश व्यवच्छेद में पर्यवसान है। उसी के साथ उसी की उपमा के कथन में उपमा का अन्वय नहीं वनता, इसलिये उपमा का तौ आभास मात्र है।

यथावाः—

डूबत हाथी हथेरी के पांनी॥

यहां वास्तव हाथी का डूबना नहीं, किन्तु हाथी का प्रतिबिंब अथवा मूर्ति रूप हाथी का डूबना है, इसलिये यहां अधिक अलंकार का आभास है ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

नेह घटत नहिं है जऊ, कांम दीप मन मांहिं ॥

यहां प्राचीन मत की विशेषोक्ति अलंकार का आभास है। स्नेह शब्द के दो अर्थ हैं। तेल और प्रीति ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

"हरत नरेंद्रन प्रान हू, असि भुजंग जसवंत" ॥

यहां प्राचीनोक्त तीसरी विभावना का आभास है। नरेंद्र शब्द के दो अर्थ हैं। राजा और विषवैद्य ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

कंटक कलित कलेवर जु, मुक्ताभरण मुरार ॥
विश्वस्ता पूरववत जु, वन हू तुव अरि नार ॥ १ ॥

वनवास पक्ष में कंटक कांटे, मुक्ताभरण आभूषण रहित, विश्वस्ता विधवा। राज्यस्थिति अवस्था पक्ष में कंटक संयोग शृंगारानुभाव रूप रोमांच, मुक्ताभरण मोतियों के आभूषण, विश्वस्ता विश्वास युक्त। यहां पूर्वरूप अलंकार का आभास है ॥

यथावाः—

॥ चौपाई ॥

भीतर महिषि खड्गि विच द्वारहि,
कंचुकि आवत जात अपारहि ॥
शून्य हु मनि मंदिर नृप द्रोही,
चिर स्नेहिनी राज्य स्थिति वोही ॥ १ ॥

शत्रु मंदिर की शून्यता पक्ष में महिषी भैंस, खड्गी गेंडा जानवर, कंचुकी सर्प। राज्यस्थिति पक्ष में महिषी पाटराणी, खड्गी खड्गधारी पुरुष, कंचुकी नाजर। यहां भी पूर्वरूप अलंकार का आभास है॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

देत जु मित्र रु शत्रु कौं, परा भूति जसवंत ॥

मित्र पक्ष में परा भूति परम ऐश्वर्य। शत्रु पक्ष में पराभूति पराजय। यह तुल्ययोगिता अलंकार का आभास है॥

यथावाः—

॥ सवैया ॥

जागियै नाथ प्रभात भयौ,
परमेश्वर पूजन में अनुरागियै।
रागियै भैरव राग हि सौं पुन,
राज श्री प्रीति सौं भूपति पागियै॥
पागियै पाठ के आनँद सौं अघ,
दीरघ नैंन सौं नींद कौं त्यागियै।
त्यागियै मज्जन कै तन आलस,
सज्जन रांन सदा शिव जागियै॥ १॥

इति उदयपुर निवासी दधवाड़िया चारण
महामहोपाध्याय कविराजा श्यामळदासस्य॥

यहां शृंखला अलंकार का आभास है; क्योंकि शृंखला न्याय से वस्तुओं का संबंध होने में शृंखला अलंकार होता है। जैसा कि—

"दृग श्रुति लौं श्रुति बाहु लौं, बाहु जानु लौं जांन"॥

यहां शृंखला न्याय से अवयवों का गुंफन अलंकार है। शब्दों का गुंफन तौ उचितता मात्र से इष्ट है। शब्दों के गुंफन विना शृंखला अलंकार तौ—

॥ चौपाई ॥

दृग श्रुति लौं कर्ण सु बाहू लग,

भुजा प्रलंबित जांनु कहत जग ॥

यहां भी हो जायगा, इसलिये केवल शब्द की पुनरावृत्ति तौ अनुप्रास अलंकार है ॥ पूर्वोक्त समस्त उदाहरणों में भूषणों का आभास है ॥

दूषणाभास यथाः—

॥ दोहा ॥

देर भई दिन डेक की, कवि तुव किसमत हेत ॥
जस सुनि हैं जसवंत जव, वारन वारन देत ॥ १ ॥

"वारन" शब्द के दो अर्थ हैं। "वार न" अर्थात् देर नहीं। और "हाथी"। सो यहां श्रवण मात्र से पुनरुक्ति दोष का आभास है। रस का आभास होवे तहां रसाभास, और भाव का आभास होवे तहां भावाभास है। इन के उदाहरण रस प्रकरण में दिखा दिये हैं। भूषण, दूषण, रस और भाव विना भी वस्तु का आभास होता है॥
यथाः—

॥ दोहा ॥

तर तर वन घर घर पुरन, रमत भई उनमत्त ॥
कीर्ति तोर पितु वल्लभा, सुनहु राम यह वत्त ॥ १ ॥

श्रीरामचंद्र के विवाह में चतुर स्त्रियों ने यह गारी गाई है। यहां वल्लभा शब्द के स्वारस्य से कीर्ति में श्रीरामचंद्र के पिता की स्त्री की बुद्धि श्रवण मात्र से हो कर निंदा का भान होता है; परंतु विचार दशा में कीर्ति में वल्लभात्व तौ प्रीतिपात्रता मात्र है, इसलिये निंदा बुद्धि निवृत्त हो करके तुम्हारे पिता की कीर्ति सर्वव्यापी है, इस स्तुति में पर्यवसान होता है, इसलिये यहां निंदा का आभास है॥
यथावाः—

॥ चौपाई ॥

हम प्रज पालत हैं जिंह अवसर,
किन हु न क्लेश कहहु जिन नृप वर ॥
सहस किरन कुल मूल तुम्हारा,

वेधत विपच्छ प्रतच्छ निहारा ॥ १ ॥

यहां श्रवण मात्र से राजराजेश्वर जसवंतसिंह के राज्य अधिकार समय में शत्रुओं से इन के कुल के मूल पुरुष रवि का वेधन होने में निंदा का भान होता है, परंतु विचार दशा में शत्रुओं के निकंदन रूप स्तुति में पर्यवसान होता है, इस रीति से यहां निंदा का आभास है। युद्ध में तनु त्याग करता है वह सूर्य मंडल को भेद कर स्वर्ग को जाता है ॥ कहा है धर्म शास्त्र में—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ ॥
यो योगेन तनुत्यागी रणे चाभिमुखो हतः ॥ १ ॥

अर्थ– लोक में ये दो मनुष्य सूर्य मंडल भेदनेवाले हैं। एक तो वह जो योग से शरीर का त्याग करे। और दूसरा वह जो संग्राम में सन्मुख हो कर मरे ॥

यथावाः—

॥ दोहा ॥

हैं भांडन कौं भोज से, कुटिनिन कर्न समांन ॥
नृप जसवँत द्वेषीन के, कविवर करत वखांन ॥ १ ॥

यहां श्रवण मात्र से राजराजेश्वर के द्वेषियों की अत्यंत उदारता प्रतीति से स्तुति का भान होता है, परंतु विचार दशा में यह उदारता अनुचित होने से उन की निंदा में पर्यवसान होता है, इस रीति से यहां स्तुति का आभास है। केवल निंदा और स्तुति तौ अलंकार नहीं हैं, किंतु निंदा के व्याज से स्तुति, और स्तुति के व्याज से निंदा, प्राचीनों से व्याजनिंदा और व्याजस्तुति अलंकार माने गये हैं। सो हमारे मत में तौ यह आभास अलंकार का विषय है ॥ आभास के पूर्वोक्त बहुतसे उदाहरण श्लेष गर्भित हैं, परंतु श्लेष के विना भी उन में "तर तर वन" इत्यादि उदाहरण हैं। धोरी ने आभास मात्र को अलंकार माना है, तहां लभ्य उदाहरणानुसार प्राचीनों ने विरोध के आभास को विरोधाभास नामक अलंकारांतर, निंदा और स्तुति के आभास को व्याजनिंदा और व्याजस्तुति नामक अलंकारांतर,

निपेध के आभास को आक्षेप नामक अलंकारांतर और पुनरुक्ति दोप के आभास को पुनरुक्तिवदाभास नामक अलंकारांतर माना है, सो तो भूल है। इस रीति से आभास के विशेप विशेप प्रति पृथक् पृथक् अलंकार मानने से व्यर्थ अनंत विस्तार करना होगा; क्योंकि आभास इन प्राचीनों के कहे हुए स्थलों में ही नहीं होता। अनेक वस्तुओं में होता है। जिस का संग्रह दिशा मात्र दिखाने को हम ने कर दिया है। और सर्वत्र चमत्कार की प्रधानता आभास अंश में है, इसलिये आभास को सामान्य रूप से अलंकार मानना योग्य है। न कि विशेप रूपों से भूपणाभास, दूपणाभास, रसाभास, भावाभास और वस्त्वाभास। ये तो प्रकारांतर हैं॥ और भूपणाभास में विरोधाभास, निपेधाभास इत्यादि उदाहरणांतर हैं। रसाभास में शृंगाराभास, हास्याभास इत्यादि उदाहरणांतर हैं। ऐसे ही दूपणाभास इत्यादि में जान लेना।

इति आभास प्रकरणम् ॥ १८ ॥

॥ उत्तर ॥

उत्तर तो प्रतिवचन है। वह लोकोत्तर होवे तहां अलंकार है॥

॥ चौपाई ॥

जो लोकोत्तर उत्तर होई,
पावत अलंकार पद सोई॥
होय अभिन्न प्रश्न सों उत्तर,
वा उतरांत्तर सों सुन नृप वर॥ १॥

प्रश्न से अभिन्न उत्तर वह है, कि प्रश्न ही उत्तर हो जावे। उत्तरांतर अर्थात् दूसरे उत्तर से अभिन्न उत्तर वह है, कि अनेक प्रश्न का एक ही उत्तर हो जावे॥

॥ चौपाई ॥

जाने से अन पूछत भाखत,

उस के रूपहि सौं समान तत ॥
जो तिसरा न होय उस जैसा,
उस कार्य में सु उत्तर ऐसा ॥ १ ॥

प्रश्नकर्ता जिस वस्तु को जानता है, उस से अन्य वस्तु को पूछने पर प्रश्न कर्त्ता जिस वस्तु को जानता है उस के रूप से उस के सदृश अन्य वस्तु को उत्तर दाता कहै, और वह वस्तु ऐसी होवे, कि उस कार्य में उस के सदृश तीसरी वस्तु न होवे, यह उत्तर भी अलंकार होने के योग्य है। ये तीन प्रकार के उत्तर लोक विलक्षण होने से प्राचीनों से अलंकार माने गये हैं ॥

क्रम से यथाः—

॥ दोहा ॥

कं नामयति जु शत्रु के, भुज वल रन जसवंत?।
कं नामयति जु शत्रु के, भुज वल रन जसवंत ॥ १ ॥

शत्रु, संधि अथवा विग्रह दो में से एक करता है। संधि में सिर नमाता है। विग्रह में धनुष नमाता है। इस विषय के संदेह में यह प्रश्न है, कि राजराजेश्वर जसवंतसिंह का भुज वल रन में अरियों के "कं नामयति" अर्थात् किस को नमन करवाता है?। इस प्रश्न का यही उत्तर है "कं नामयति"। कं नाम मस्तक का है। मस्तक को नमन करवाता है। यहां यह उत्तर प्रश्न से अभिन्न है अर्थात् जो प्रश्न है वही उत्तर है ॥

॥ दोहा ॥

को मरु भुवि पालत सु अब?,
को नित थिर जु रहंत? ॥
यूरप पदवी कवन सुख?,
जानहु प्रिय जसवंत ॥ १ ॥

इस समय में मरु भूमि का पालन कौन करता है? इस प्रश्न का उत्तर है "जसवंत" अर्थात् जसवंतसिंह नामक राजा। नित्य स्थिर कौन

रहता है? इस प्रश्न का भी वही उत्तर है "जसवंत" अर्थात् जसवाला। यूरप की पदवियों में कौनसी पदवी मुख्य है? इस प्रश्न का भी वही उत्तर है "जसवंत" जकार, सकारवाली अर्थात् जी, सी, ॥ यहां पहिले उत्तर से दूसरे उत्तर अभिन्न हैं, अर्थात् दूसरे प्रश्नों का भी वही उत्तर है। प्रथम उत्तर में श्लेष, और दूसरे उत्तर में श्लेष और दीपक भी हैं, तथापि उत्तर रूप चमत्कार प्रधान होने से यहां अलंकार तो उत्तर है। यहां प्रथम के दो प्रश्नों के उत्तर तो शब्द की अभंगता से हैं। और तीसरे प्रश्न का उत्तर शब्द की सभंगता से है। प्रथम के दो उत्तरों में जसवंत शब्द का भंग नहीं होता, इसलिये अभंग है। और तीसरे उत्तर में जकारवाली, सकारवाली ऐसे शब्द का भंग होने से सभंग है ॥

यथावाः—

॥ चौपाई ॥

प्यावहु वारि विदारहु मृगवर,
सर ढिग नांहिं प्रिया यह अवसर ॥

यहां दोनों प्रश्नों का "सर ढिग नहीं" यह एक ही उत्तर है। सर तड़ाग और बाण।

॥ दोहा ॥

मरण कहा? जु दरिद्रता, स्वर्ग कहा? वर नार ॥
क्या आभूपन नरन को? जस जांनहु निरधार ॥ १ ॥

यहां प्रश्न करनेवाले ने जाने हुए मरण इत्यादि से अन्य पूछा है। तहां उत्तर देनेवाले ने प्राण वियोग रूप मरण आदि के स्वरूप से मरण आदि के सदृश दरिद्रता आदि कहे हैं। ये ऐसे हैं, कि दुःख आदि कार्य करने में मरण और दारिद्र्य आदि के सदृश तीसरा कोई भी नहीं है। ये तीनों उत्तर अनुभव सिद्ध चमत्कारकारी होने से प्राचीनों से अलंकार माने गये हैं। और भी कोई उत्तर चमत्कारकारी मिल जावे तो उस को भी अलंकार मान लेना चाहिये। उत्तर के प्रथम दो प्रकारों के विषय में तो कुवलयानंद में पर मत से यह प्राचीन लक्षण

कारिका लिखी हुई है—

प्रश्नोत्तरान्तराभिन्नमुत्तरं चित्रमुच्यते ॥

अर्थ—प्रश्न से अभिन्न और उत्तरांतर से अभिन्न जो उत्तर उसको चित्र अर्थात् अलंकार कहते हैं। और तीसरे प्रकार के विषय में रुद्रट का यह लक्षण है—

यत्र ज्ञातादन्यत्पृष्टस्तत्त्वेन वक्ति तत्तुल्यम् ॥
कार्येणानन्यसमख्यातेन तदुत्तरं ज्ञेयम् ॥ १ ॥

इस कारिका का यह अर्थ है, कि जिस को जानी हुई वस्तु से अन्य वस्तु पूछी गई है, वह उत्तर देनेवाला जहां जानी हुई वस्तु के सदृश अन्य वस्तु को जानी हुई वस्तु के स्वरूप से कहे वह उत्तर अलंकार है। पूछी हुई अन्य वस्तु में जानी हुई वस्तु की तुल्यता तो जानी हुई और पूछी हुई वस्तु से अतिरिक्त तृतीय स्थल में इन दोनों स्थलों के सदृश प्रसिद्ध नहीं ऐसा कार्य करने से है। काव्यप्रकाश में यह लक्षण कारिका है—

उत्तरश्रुतिमात्रतः।
प्रश्नस्योन्नयनं यत्र क्रियते तत्र वा सति।
असकृद्यदसंभाव्यमुत्तरं स्यात्तदुत्तरम् ॥

ये कारिकायें "प्रश्नोत्तरान्तराभिन्नमुत्तरं चित्रमुच्यते" इस अति प्राचीन कारिका के अनुसार है। "उत्तरश्रुतिमात्रतः प्रश्नस्योन्नयनं यत्र क्रियते तत्र" इस का अर्थ यह है, कि जहां उत्तर के श्रवण मात्र से प्रश्न का उन्नयन किया जावे तहां उत्तर अलंकार है। उन्नयन शब्द का अर्थ है ऊपर लेना अर्थात् उठा लेना। कहा है चिंतामणि कोषकार ने "उन्नयनं उन्नये। उन्नयः कूपादेर्जलादेरूर्ध्वनयने" ॥ उन्नयन शब्द का अर्थ है उन्नय अर्थात् ऊपर लेना, जैसे कूपादिकों से जलादि का ऊपर लेना। उत्तर से प्रश्न का उन्नयन करना ऐसा कहने का स्वारस्य यही है, कि उत्तर में से ही प्रश्न को निकाल लेना। इस से यही सिद्ध होता है, कि उत्तर और प्रश्न का अभेद। प्रश्न से उत्तर का उन्नयन होवे, अथवा उत्तर से प्रश्न का उन्नयन होवे, दोनों स्थलों में चमत्कार तो प्रश्नो-